॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४

॥ श्रीः ॥

प्रबोधचन्द्रोदयम्

'प्रकाश' व्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्रः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

श्रीकृष्णमिश्रयतिप्रणीतं

प्रबोधचन्द्रोदयम्

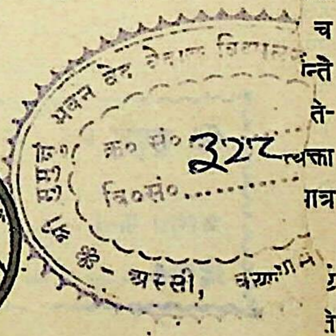
'प्रकाश' नामक संस्कृत हिन्दीटीकोपेतम्

टीकाकारः

पण्डित श्री रामचन्द्र मिश्रः

(प्राध्यापक, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, रांची)





चौखम्बा विद्या भवन, बनारस-१

[सं० २०१२] [ई० १९५५

प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, बनारस-१

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)
1955

मुद्रक
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

अथेदमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं 'प्रकाश'-समन्वितं प्रबोधचन्द्रोदयं नाम नाटक-रत्नम्, अस्य रचयितुः परिचयादिकमिदमीयं साहित्यिकं गौरवमन्यच्च ज्ञातव्यमग्रे राष्ट्रभाषया लिखितमस्तीति तत एवावसेयम्।

अस्य ग्रन्थस्य टीकाद्वयं मया दृष्टम्—१ एका नाण्डिल्लगोपमन्त्रिशेखरकृता २ अन्या रामदासदीक्षितकृता। आभ्यामतिरिक्तोऽस्याङ्ग्लभाषानुवादोऽपि दृष्टिपथं समारूढः। तत्राद्याऽर्थबोधननिरपेक्षा सत्यपि शास्त्रीयतत्त्वप्रकाशनोन्मुखीति न तया महानुपकारः पठताम्, अपरा तु खण्डान्वयादेशा प्रवृत्ता छात्राणां कृते नितान्तव्यर्था, आङ्ग्लभाषानुवादश्चानुवाद एव, तदेवं सतीष्वपि तासु सहायिकासु व्याख्यासु सर्वसाधा-रणपाठकसौविध्यं मनसि निध्याय मयाऽयं प्रकाशोऽत्र योजितः, अथानया मम टीकया यदि सुधियां पाठकानामन्तेवासिनां च मनांसि विनोदितानि स्युस्तदाऽहमात्मनः परिश्रमं सफलं मन्येय।

अयं ग्रन्थो नाटकान्तरविलक्षणो यतोऽत्र पात्राणि प्रतीकरूपेण कल्पितानि, लौकिकीकथा यथा झटिति हृदयमालोडयति शास्त्रीया कथा तथा त्वरया केषामेव च न भाग्यवैभवासादिततीव्रप्रातिभाणामन्तः प्रकाशत इति नाटकस्यास्य व्याख्यायां यथासंभवं मया ते ते प्राकरणिकाः पदार्थास्तत्र तत्र यथामति यथाऽऽवश्यकतं च समावेशिताः। ईदृशानां ग्रन्थानां समादरपूर्वकाध्ययने प्रायः प्रौढा एव जनाः प्रवर्त्तन्ते वयःपरिमाणमपि स्वाभाविकीं शिक्षामनिच्छद्भ्योऽपि बलाद्वितरतीति विभाव्याति-विस्तृतितो विरज्य माध्यमिकः पन्था मयाऽत्राश्रितः। अथापि न परित्यक्ता आवश्यकाः प्रतिपाद्यपदार्थाः, नोपेक्षितं समयप्राप्तं विवेचनम्। सरलतासम्पादनायात्र मया विशिष्य प्रयतितम्। परिशिष्टे च ज्ञातव्याः सर्वेऽपि विषयाः समावेशिताः।

ये स्वयमेतादृशीं व्याख्यां प्रतिपदं प्रकाशयन्ति ते किमर्थं मदीये व्याख्याने दृष्टिं दास्यन्ति? ये च नितान्तावोधाः सन्तोऽपि किमपि परकीयं यशो मलिनयेयमिति कृतसङ्कल्पा इव वृथैव परान्निन्दन्ति तेऽपि नास्या व्याख्याया लाभमादास्यन्ति, अथापि मध्यस्थाः सज्जनाः सकृदपि दृक्पातेन यदि ममेमं प्रयासं सफलयिष्यन्ति तदाऽहमात्मानं कृतकृत्यं मंस्ये। शमिति

रांची
जन्माष्टमी २०१२

विदुषां वशंवदः
श्री रामचन्द्र मिश्रः

समालोचना

नाटक साहित्य की प्राचीनता

भारतीय नाटक साहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं। वैदिकसाहित्य की समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमें नाटकके सभी अङ्गों—संवाद, सङ्गीत, नृत्य एवं अभिनयका किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदमें यमयमी, उर्वशीपुरूरवा और सरमा-पणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व वर्त्तमान है। सामवेद तो सङ्गीत प्राण ही है। आलोचकों का अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तरमें परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए। रामायण-महाभारत कालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमें रङ्गशालाका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। नटशब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधरस्वामीने 'नवरसाभिनयचतुर' किया है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्त्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है, तथा कुशीलव शब्दका प्रयोग भी नट या अभिनेताके अर्थमें हुआ है। महावैयाकरण पाणिनिने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इन बातोंसे स्पष्ट है कि उनके पूर्व ही अनेक नाटक रचे जाचुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना की गई होगी, क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थोंको देख कर ही लक्षण ग्रन्थ बनते हैं। इधर द्वितीय ईशवीसदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला छोटा नागपुर की पहाड़ियोंमें पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकोंकी अपनी प्राचीन परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकोंमें रङ्गमञ्चके पर्दोंके लिये कहीं-कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने अनुमान किया है कि संस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् ग्रीक नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणाभ्रान्त है। 'यवनिका' शब्दके प्रयोगका रहस्य तो इतना ही भर है कि वह पर्दे-'यवन' (Lonea) देशसे आये हुए वस्त्रोंसे बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धत्यनुसार विचार करनेसे भी नाटक साहित्यकी प्राचीनता सिद्ध होती है, भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है:—

'महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्' ॥

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्। भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्। नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्। नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना। एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयं योग्यान्प्रयोगं चास्य तत्त्वतः ॥
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने। अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्याये तत्र सङ्गताः ॥
देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्। कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥

शारदातनयने भी अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है:—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्त दग्ध्वा लोकान् महेश्वरः।
स्वेमहिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दनिर्भरम् ॥
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः। नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ॥
दृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत्। दिव्यं चारित्रमैशं मे कथमध्यक्षतामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः। स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्यं भगवान्नन्दी तच्चिन्तितार्थवित्।
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम्।
भरतेषु प्रयोज्यं त्वया सम्यग् विजानता ॥
तस्मिन्प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः।
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान्प्रभुः। श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा दैवैः समन्वितः ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगम्यधात्।
अध्याप्य भरतानेतत् प्रयुङ्ध्वमिति चाब्रवीत् ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मसंसदि। प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात्।
वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिर्गताः ॥

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंसे यह असन्दिग्ध रूपसे कहा जासकता है कि संस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्धविकासमें वैदिकवाङ्मय, इतिहास तथा पुराणों से ही प्रेरणा पाई है। हाँ, इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि भारतीय नाटकोंके विकासमें पर्याप्त काल लगा होगा।

श्रीकृष्णमिश्रका काल

श्रीकृष्णमिश्रका समय—उनकी कृति प्रबोधचन्द्रोदयकी प्रस्तावनामें 'गोपाल' के प्रति जो सङ्केत है उसीसे निश्चित प्राय है। यह गोपाल श्रीकृष्णमिश्र को प्रकृत नाटककी रचनाके लिये प्रोत्साहित किया करता था और उसके द्वारा अपने मित्र राजा कीर्त्तिवर्माकी चेदी राजा कर्णपर विजयकी स्मृतिको अमिट करना चाहता था। कर्णका नामोल्लेख १०४२ के एक शिला लेख में पाया जाता है। एक दूसरा शिलालेख १०९२ ई० का भी है, जिसमें चण्डेलराजा कर्ण का नामोल्लेख प्राप्त हुआ है। इन सबसे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि श्रीकृष्णमिश्रका काल ११ वीं शदीका उत्तरार्ध है।

श्रीकृष्णमिश्रका निवासदेश

श्रीकृष्णमिश्र कहां के रहनेवाले थे इस विषयमें हमारा विश्वास है कि वे विहारके ही थे, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतिमें द्वारका, मथुरा आदिको छोड़कर 'मन्दार' विहारस्थित नामक तीर्थका सादर उल्लेख किया है, और गौड़ोंकी दाम्भिकताका सरस उपहास प्रस्तुत किया है। आप विहारी न होते तो इस तरह गौड़ोंसे परिचय नहीं रखते।

प्रबोधचन्द्रोदयकी कथावस्तु

श्रीकृष्णमिश्रकी एकमात्र रचना प्रबोधचन्द्रोदयका नाम ही इसके विषयका निर्देश करता है। यह एक गम्भीर दार्शनिक प्रतीक नाटक है, इसमें छः अङ्क हैं जिनमें समस्त मानवजीवन का चित्रण है—किसी एक गुण या दोषका नहीं। इसमें मानवहृदयकी शक्तियोंके अन्तर्विरोधका सफल उपस्थापन है। इस उपस्थापनमें मानवहृदयकी दो स्वाभाविक वृत्तियोंके चित्र हैं जिनमें एक पक्षकी वृत्तियाँ आत्मज्ञानकी ओर प्रवृत्ति रखती हैं, और दूसरे पक्ष की वृत्तियां उसके विमुख। मनके दो शक्तिशाली पुत्रोंके विरोधकी कल्पना है, यह दोनों सौतेले भाई हैं जो मनकी स्त्रियाँ प्रवृत्ति तथा निवृत्तिसे उत्पन हुए हैं। इनका नाम क्रमशः मोह तथा विवेक है। मोहके परिजन काम, रति, लोभ, हिंसा और अहङ्कार आदि हैं। इसका पौत्र दम्भ है जो इसके पुत्र लोभ और पुत्रवधू तृष्णासे उत्पन्न है। मिथ्यादृष्टि एक कुलटाके रूपमें वर्णित है। भौतिकतावादियों का प्रतिनिधित्व चार्वाक करता है। दूसरे पक्षका प्रधान है विवेक, जिसके दलमें मति, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, क्षमा, सन्तोष और वस्तुविचार आदि हैं। विवेक कुछ समयके लिये पराजित सा प्रतीत होने लगता है, उसकी सेना जो पूर्वोक्त पात्रों द्वारा गठित है छिन्न-भिन्नसी हो जाती है, परन्तु अन्तमें विवेककी जीत होती है; जिसमें विष्णुभक्तिकी बड़ी चेष्टा रहती है। इस मुख्य कथानकके साथ श्रद्धा और शान्तिकी कथा जोड़ दी गई है, शान्ति अपनी मां श्रद्धाको खो चुकी है, श्रद्धा पर दुष्टोंका आक्रमण होता है पर वह विष्णुभक्तिद्वारा सुरक्षित रखली जाती है। इस कथानकमें बड़ी निपुणतासे जैनधर्म, बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म (पाशुपतधर्म) में श्रद्धाका अभाव दिखलाया गया है। अनेक सङ्घर्षोंके पश्चात् घटनाचक्रसे सत्य पक्षकी जय होती है

जिसे संग्राम विजयके रूपमें वर्णित किया गया है। राजा मनको अपने पुत्र मोह आदि तथा पत्नी प्रवृत्तिके वियोगमें बड़ा दुःख होता है, परन्तु सत्सिद्धान्त वेदान्त द्वारा प्रबोधित होने पर उसे धीरज बंधता है, वह निवृत्तिको पत्नी रूपमें स्वीकार करता है। अन्तमें विवेक का उपनिषद्से मिलन होता है और उसके द्वारा उत्पन्न प्रवोधोदय और विद्यासे सबकी संसारनिवृत्ति हो जाती है।

नाटक साहित्यमें प्रबोधचन्द्रोदयका स्थान

गम्भीर भावपूर्ण दार्शनिक विचार धाराको आधार बनाकर एक मनोरञ्जक नाटक प्रस्तुत करना कठिन है, किन्तु यह अत्यन्त सत्य है कि इस प्रकार की कठिनाइयोंके रहते हुए भी श्रीकृष्ण मिश्रकी यह रचना अधिक सफल हुई है। श्रीकृष्ण मिश्रने मानव-आत्माके शाश्वत सङ्घर्षका जो कलात्मक नाटकीय चित्र उपस्थित किया है वह वास्तवमें मनोहर है। वस्तुतः यह रचना एक सुखान्त नाटकके रूपमें बड़ी निपुणतासे प्रस्तुत हो सकी है, इसमें सामान्य नाटकीय नियमोंका उल्लङ्घन कहीं नहीं किया गया है, कथोपकथन तथा अन्य अपेक्षित गुणों की दृष्टिसे भी यह निर्दोष कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह नाटक अद्वैत वेदान्त एवं विष्णुभक्तिका समन्वयात्मक रूप उपस्थित करता है, किन्तु कहीं भी दार्शनिक विषय तथा उपदेशोंने नीरसता की सृष्टि नहीं की है। यद्यपि इस नाटकमें सूक्ष्म भावोंको व्यक्त करनेके लिये उनकी व्यक्तीकरण किया गया है तथापि उनको लेकर कोई आध्यात्मिक व्यायाम नहीं किया गया है। इस रचना की प्रतीकात्मकता बुद्धिगम्य एवं तर्कसङ्गत है, कथावस्तु आद्यन्त सर्वत्र नीरसतासे रहित है, रोचकता इतनी है कि हम इसे उत्सुकतासे अन्त तक पढ़ते हैं।

काव्य की दृष्टि से भी श्रीकृष्ण मिश्र की वाक्यरचना प्रशंसनीय है, इनकी कवितायें भावपक्ष एवं विचारपक्ष, दोनों पक्षोंकी सफल कवितायें हैं। इन सब उल्लेखनीय गुणोंके होते हुए भी यह कहना पक्षपातपूर्ण होगा कि लेखकने अमूर्त्तभावोंको मानवोंका रूप देनेमें पूरी सफलता पाई है। नाटकीय सफलताके होनेपर कुछ कमी रह गई है।

किसी भावविशेषको गतिशील मनुष्यकी तरह चित्रित करनेके प्रयाससे पूरी सफलता प्राप्त करना असम्भवसा होता है। यथार्थ चित्रणक्षमता एवं प्रौढकवित्वशक्ति यदि वरदान के रूपमें प्राप्त हों तभी इस दिशामें कविको सफलता प्राप्त हो सकती है और वह निर्जीव भावचित्रोंमें उष्णरक्तका संचारकर सकता है। यही कमी है कि इस नाटकके छायाचित्र केवल बुद्धिवेद्य ही होकर रह जाते हैं, उनकी मनुष्यता हमें सहानुभूति प्रकट करनेको बाधित नहीं कर पाती। इस अंशमें पाश्चात्य नाटककारोंको अधिक सफलता प्राप्त हुई है। इतना तो सबको मानना ही पड़ेगा कि संस्कृतमें जितने इस प्रकारके नाटक हैं उनमें सबसे अधिक सफलता श्रीकृष्ण मिश्रकी इस कृतिको ही प्राप्त हो सकी है।

इस तरहके जो नाटक इस समय उपलब्ध होते हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है। छायानाटक, प्रतीकनाटक या भावनाटक जो कहें, इनकी रचना कबसे प्रारम्भ की गई यह

विषय भी विचारणीय है। यद्यपि अश्वघोषके द्वारा रचित कहाकर प्राप्त अपूर्ण कृतियोंमें अमूर्त्तभावों तथा गुणोंका मानवीकरण प्रयास पाया जाता है परन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं कि प्रतीकनाटकोंने संस्कृतनाटकीय साहित्यके प्रारम्भिक विकासमें कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। यह भी सप्रमाण नहीं कहा जा सकता कि यदा कदा प्रतीकनाटक बनते रहे हैं। वस्तुतः इस प्रकारके सभी नाटक बहुत बादमें रचे गये। ऐसे नाटकोंमें सर्वप्रथम रचना श्रीकृष्ण मिश्रकी ही है, जिनका काल ११ वीं शताब्दी है। दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जासकता कि श्रीकृष्ण मिश्र एक मृतप्राय परम्पराको कायमकर रहे थे अथवा स्वयं एक नई परम्पराको उत्पन्न कर रहे थे। कुछ भी हो, अमूर्त्तभावोंके विशुद्ध मानवीकरणके माध्यमसे एक प्रतीकनाटककी रचना प्रस्तुत करनेका श्रेय उन्हें अवश्य प्राप्त है। विशेषता यह है कि आकार तथा शैलीमें यह नाटक अन्य नाटकोंसे सर्वांशतः मिलता जुलता है। प्रवाहविरुद्ध यह प्रयास सफल नहीं हो सका, अत एव अनेक अन्य महारथियों द्वारा इस प्रकारके प्रयत्नोंके बावजूद भी इस शैलीका अधिक विकास नहीं हो सका और न इसकी कोई अलग परम्परा कायम हो सकी।

फल चाहे जो हो, वे प्रयास निस्सन्देह प्रशंसनीय थे, न केवल अपनी नवीनताके लिये, अपितु सफल प्रतीकात्मकताके लिये भी। यह कोई सहज कवित्वशक्ति नहीं है प्रत्युत एक सतर्क बौद्धिक प्रवृत्ति है, जो जीवनसे दूर रहकर अमूर्त्तभावों तथा प्रतीकात्मक पात्रोंसे मनोरञ्जन किया करती है।

किसी दार्शनिक सिद्धान्तको नाटकीयरूप देना संभवतः कठिन हो, परन्तु श्रीमद्भागवत[1] (स्क. ४. अ. २५–२८) पुरञ्जनकी दार्शनिक प्रतीक कथाओंने इस दिशामें सङ्केत किया हो, ऐसी संभावना की जासकती है। इस तरहकी रचनाओंमें एक दोष यह होता है कि वे अमूर्त्तभाव जिनका मानवीकरण किया जाता है इतने स्फुटीभूत व्यक्ति हो जाते हैं कि उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है या उनमें इतना कम व्यक्तित्व होता है कि वे केवल जीवनहीन भावमात्र बने रह जाते हैं। बहुधा वे जीवित व्यक्तिसे अधिक सैद्धान्तिक सूत्र ही हुआ

---

१. भागवते ४र्थस्कन्दे २५ अध्यायतः पुरञ्जनोपाख्यानं विद्यते। २९ अध्याये च तत्पूर्त्तिः।
'इत्थं पुरञ्जनं सम्यग् वशमानीयविभ्रमैः। पुरञ्जनी महाराज रेमेर मयतीपतिम्॥

अत्र पुरञ्जनपदं पुरुषपरम्, पुरञ्जनीपदं च बुद्धिपरम्। एवमेव सर्वत्र। विवृतमिदमिदं तदुपाख्यानसमाप्तौ, २९ तमेऽध्याये। तथा च—

'पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम्'।
'बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात्' 'सखाय इन्द्रियगणाः'
'सख्यस्तद् वृत्तयः' 'वृहद्बलं मनोविद्यादुभयेन्द्रियनायकम्'।
'पञ्चालाः पञ्चविषयाः'

करते[1] हैं। घटनाक्रममें सिद्धान्तोंके प्रतिपादनका प्रयास इतना प्रत्यक्ष होता है कि मनोरञ्जकता नाममात्र भी नहीं रह जाती। यह ठीक है कि नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तोंके अनुकूल ही इनके आकार प्रकार निर्धारित होते हैं और मान्य नियमोंकी अवहेलना नहीं की जाती परन्तु फिर भी कुछ ऐसा लगता है कि सामान्य नाटकोंकी श्रेणीमें नाम लिखाने के लिये ही यह सब हो रहा है। वास्तवमें होता यह है कि अधिकतर ऐसे नाटक धार्मिक या नैतिक शिक्षा देनेकी दृष्टिसे या पाण्डित्य प्रदर्शनके लिये लिखे जाते हैं, प्रतीकात्मक घटनाओंकी नीरसताका यह एक प्रबल कारण है।

श्रीकृष्ण मिश्र की कविता

श्रीकृष्ण मिश्र कवि एवं दार्शनिक दोनों थे, फिर भी उनकी कविता अन्य दार्शनिक कवियों की तरह जटिल नहीं है, इनकी कवितामें प्रवाह और प्रसाद है। किसी पदार्थके वर्णनमें उस वस्तु की रूपरेखा प्रस्तुत कर देना इनकी कविताका प्रधान गुण है। वे जब कामदेवको पाठकोंके सामने उपस्थित करते हैं तब वह साकार हो उठता है:—

'उत्तुङ्गपीवरकुचद्वयपीडिताङ्गमालिङ्गितः पुलकितेन भुजेन रत्या।
श्रीमान् जगन्ति मदयन्नयनाभिरामः कामोऽयमेति मदघूर्णितनेत्रपद्मः' ॥

यह श्लोक पढ़ते ही कामदेवका सर सचित्र नयनोंके सामने झूलने लगता है। इसी प्रकार जब वे दाम्भिकोंका वर्णन करते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो कोई बड़ा भारी ठग लोगोंको वञ्चित करने की शकल बनाये सामने आ रहा है:—

'गङ्गातीरतरङ्गशीतलशिलाविन्यस्तभास्वद्‌बृसी-
संविष्टाः कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः करण्डोज्ज्वलाः।
पर्यायग्रथिताक्षसूत्रवलयप्रत्येकबीडाग्रह-
व्यग्राङ्गुलयो हरन्ति धनिनां वित्तान्यहो दाम्भिकाः' ॥

जिन लोगोंने काशी आदि क्षेत्रोंमें धूर्त्त धर्मध्वजियोंको देखा है उन्हें इस श्लोकके पढ़नेसे पूरा मजा मिलेगा, वह इस चित्र की बारीकियोंको आसानीसे पहचान लेंगे।

क्रोध आदि, मानसिकभावोंका मूर्त्तरूप हैं उनके चित्रणमें इस दार्शनिक महाकविने बड़ी चतुरता दिखलाई है, क्रोधका चित्र इतना सुन्दर हुआ है कि हृदय बरबस आकृष्ट हो जाता है।

'अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति'।

---

१. देखिये—अमृतोदय,
'गर्भं धत्तां परामर्शसन्निकर्षेण पक्षता। अपत्ये जातमात्रे तु दम्पती न भविष्यतः' ॥ २, २०
'पूर्वं प्रमित्या परतोऽनुमित्या सिद्ध्या ततोऽस्मिन्पुरुषे प्रसक्ते।
सङ्गच्छमाने पुरुषोत्तमेन मोहः स्वयं प्राप्स्यति नाशमेषः' ॥ ३. २७.

यही है क्रोधका वास्तविक रूप।

भर्तृहरिके नीतिश्लोक बहुत प्रसिद्ध हैं, उनके पढ़नेसे हृदयमें सात्त्विक सुखका उदय होता है, और यही कारण है कि उनके श्लोकोंका अधिक आदर है। इस दार्शनिक कविने भी अपने पात्रोंके मुंहसे समय समय पर कुछ नीतिश्लोक कहवाये हैं जो अतिहृदय-ग्राही हुए हैं—'श्रीदेवीजनकात्मजा दशमुखस्यासीद् गृहे रक्षसो
नीता चैव रसातलं भगवती वेदत्रयी दानवैः।
गन्धर्वस्य मदालसां च तनयां पातालकेतुश्छला-
हैत्यैन्द्रोऽपजहार हन्त विषमा वामा विधेर्वृत्तयः'॥
'कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युन्नमत्
पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानिति
प्रत्यक्षाशुचि पुत्तिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम्'॥

इन उक्तियोंके पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम भर्तृहरिकी कविता ही पढ़ रहे हैं। दुनियांके झमेलेमें अत्यासक्ति होनेपर मनुष्यका मन सदा चिन्तित तथा कष्टपतित रहा करता है, इस बातसे संतोष दिलानेके लिए स्त्री-पुत्रादिकोंसे अनासक्ति रखनेके लिये वैराग्योपदेश दिये जाते हैं, उनमें भी एक चमत्कार होता है, देखिये:—

'पान्थानामिव वर्त्मनि क्षितिरुहां नद्यामिव भ्रश्यतां
मेघानामिव पुष्करे जलनिधौ सांयात्रिकाणामिव।
संयोगः पितृमातृबन्धुतनयभ्रातृप्रियाणां यदा
सिद्धो दूरवियोग एव विदुषां शोकोदयः कस्तदा'॥

वैषयिक सुखोंके लिये मनमें जो स्वाभाविक अभिलाष हुआ करता है उसकी इस ग्रन्थमें खूब निन्दा की गई है, उस अंशमें भी इस ग्रन्थके निर्माताको अधिक सफलता मिली है। इस ग्रन्थका प्रतिपादनीय विषय है अद्वैतवेदना सम्मत मोक्षप्रकार, उसके साथ विष्णुभक्तिका संयोग हो जाय तो वह और चमक उठता है, इस बातको श्रीकृष्णमिश्रने पद, तदर्थ तथा कथाविन्यास द्वारा इतनी मार्मिकतासे प्रस्तुत किया है कि ग्रन्थका अन्तिम अङ्क चमत्कारातिशयाधायक हो उठा है, 'बाह्वोर्भग्नादलितमणयः श्रेणयः कङ्कणानां, चूडारत्नग्रहनिकृतिभिर्दूषितः केशपाशः' इस श्लोकके पढ़नेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई स्त्री ही अपने हितचिन्तकजनसे अपनी बीती बात कह रही है, अपनी कहानी सुनाकर सहानुभूति प्राप्त करनेका प्रयास कर रही है, यह नहीं मालूम पड़ता है कि कुछ दार्शनिकतत्त्व अपनी स्थिति प्रकट कर रहे हैं।

दार्शनिकतत्त्व स्वभावतः कठिन होते हैं, उन्हें सरल सरस बनाकर उपस्थित करना कविताकी सफलता मानी जाती है, इस दृष्टिसे देखनेपर भी श्रीकृष्ण मिश्र अतिसफल प्रतीत होते हैं। देखिये:—

'अयः स्वभावादचलं वलाच्चलत्यचेतनं चुम्बकसन्निधाविव।
तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः' ॥

ईश्वर और मायाका संवन्ध कैसा है? ईश्वर सृष्टि करते हैं या स्वतन्त्र माया सृष्टि करती है?, इस प्रश्नको इस श्लोकमें वड़ी सरलतासे समझाया गया है। चुम्बक लौहके सन्निधानसे स्वभावतः अचल लौह जैसे चल हो जाता है उसी प्रकार माया भी ईश्वरेक्षित होकर जगत् की सृष्टि करती है, यही मायेक्षण ही ईश्वर की ईश्वरता है। कितने सरल रूपसे यह गूढतत्त्व हृदयङ्गम कराया गया है।

भक्तिका स्वरूप सदासे मधुररूपमें वर्णित होता रहा है और वही उसकी वास्तविक रूपरेखा होती है। भक्तका एक मधुरचित्र इस ग्रन्थमें देखिये :—

'तोयार्द्राः सुरसरितः सिताः परागैरर्चन्तश्च्युतकुसुमैरिवेन्दुमौलिम्।
प्रोद्गीतां मधुपरुतैः स्तुतिं पठन्तो नृत्यन्ति प्रचललताभुजैः समीराः' ॥

वायुरूपभक्त शिवभक्तिमें ओत-प्रोत है, वह गङ्गा स्नान करके विभूतिसे अपने अङ्गोंको स्वच्छ वना रखा है, उसकी विभूति पराग ही है, वृक्षोंसे फूल चू रहे हैं मानों वह भक्त वायु अपने आराध्यके ऊपर फूल चढ़ा रहा है, भ्रमर शब्द कर रहे हैं, मानो वह महिम्नः स्तोत्रका मधुर पारायण कर रहा है, लतायें झूल रही हैं, मानो वह भक्तिकी प्रचुरतामें नाच रहा है। जिन्होंने वैद्यनाथ आदि शैवतीर्थोंमें भक्तोंको भावना की तन्मयतामें विभूति रमाये तथा—'कखन हरब दुःख मोर' इत्यादि नचारियां गाते देखा है उन्हें इस पदकी मधुरता अनायास प्रतीत हो जायगी।

इस प्रकार आप इन उद्धरणोंसे समझ सकेंगे कि यह रूपक किस कोटिकी कविता प्रस्तुत करता है।

जहां तक अभिनयकी योग्यताका प्रश्न है प्रतीक नाटकोंमें पात्रोंकी मानवीकरणमें जितनी सफलता प्राप्त होगी, अभिनय भी उसी मात्रामें सफल होगा। हम पहले लिख आये हैं कि इस ग्रन्थमें भावनाओंका मानवीकरण सफल हुआ है, अतः आभिनयिक सफलता भी इस रूपकको प्राप्त है—यह कहा जा चुका है।

नाटकमें आनेवाले पात्र

विवेक, यह विचारका प्रतीक है, विवेक उस विचारको कहते हैं जो वस्तुकी यथात्मकताको सोच समझ सकता हो। मति उस बुद्धिको कहा गया है जो विवेकानुगत हो। इसी तरह और भी मानसिक भाव ही इस नाटकमें पात्र वनाये गये हैं।

विज्ञपाठक इस नाटकके अध्ययनके पहले इतना सोचलें कि हम केवल नाटक नहीं दार्शनिक नाटक पढ़ रहे हैं, तब इस नाटकका आनन्द उन्हें वास्तविकरूपमें प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा उन्हें साधारण अन्य नाटकोंका सा कथोपकथनका आनन्द या भोग्यरस परिपाक इसमें नहीं प्राप्त होगा और उनका मन इससे उचट जायगा।



कथासार

प्रथम अङ्क

मनकी दोस्त्रियाँ प्रवृत्ति और निवृत्तिसे उत्पन्न मोह और विवेक एक दूसरेके विरोधी हो जाते हैं। विवेकके पक्षमें शान्ति, श्रद्धा आदि और मोहके पक्षमें काम, लोभ, तृष्णा, क्रोध, हिंसा आदि हैं। काम और रति का प्रवेश होता है, रति कामसे कहती है मोहके प्रतिपक्ष विवेक ऐक आफत है। काम उसे विश्वास दिलाता है कि तुम स्त्री होनेसे ही इस तरह डर रही हो नहीं तो विवेककी कुछ हस्ती नहीं है, तुम जो विवेकके मन्त्री यम, नियम आदिकी बातें करती हो उनके विपक्षमें तो अकेला हमारा चित्तविकार ही पर्याप्त है। खास करके मद, मात्सर्य आदिके सामने तो वह यम, नियम आदि ठहर ही नहीं सकते । स्त्रीजाति सामान्यतः अपने को सुरक्षित रखना चाहती है, स्वभावतः रति कामसे पूछती है कि सुनती हूँ—आप लोगों का और विवेक आदिका एक ही वंश है। कामने उत्तर दिया कि वंश एक है यह क्या पूछती हो ? पिता ही हम दोनोंके एक हैं। विषयका लोभ ही सदासे सोदरोंमें विरोध कराता आया है। इस संसारको हमारे पिता मनने अर्जित किया, हम पिताके प्रिय थे, हमने उस पर सर्वाधिकार कर लिया, इसीलिये यह विवेक हमलोगोंको और पिताजी को उन्मूलित करना चाहता है। रतिने प्रश्न किया कि क्या इतना बड़ा पाप विद्वेषमात्रसे किया जारहा है ? इस पर कामने बताया कि तुम स्त्री हो, डर जाओगी, हमारे वंशमें विद्या नामकी राक्षसी जन्म ग्रहण करनेवाली है। इस पर रति डरकर कामसे लिपट जाती है, काम उसे भरोसा देता है कि हमारे जीते विद्या की उत्पत्ति कैसे होगी, तुम धीरज धरो। इस पर रतिने पूछा कि क्या विवेक आदि विद्याकी उत्पत्ति चाहते हैं ? वह तो उनका भी संहार कर देगी। इसका उत्तर कामने हाँ में दिया। इधर मति और विवेक बातें कर रहे हैं—विवेक मतिसे कहता है कि—प्रिये, सुना तुमने यह अभागा काम हमें ही पापी बता रहा है। यह अभागे नित्यशुद्धबुद्ध पुरुषको बन्धनमें डाला है फिर भी यह सुकृती हैं और उनकी मुक्तिके लिये प्रयत्नपरायण हम पापी हैं। मति पूछती है कि पुरुष तो स्वाभाविक आनन्दमय है उसे इन लोगोंने कैसे बन्धनमें डाला ? इसका उत्तर विवेकने दिया कि-होशियार आदमी भी स्त्रियों द्वारा प्रतारित होकर बन्धनमें पड़ता है, ये भी तो मायाके द्वारा ही बन्धनमें डाले गये हैं। मतिने इसके उद्धार का कारण पूछा, विवेकने उत्तर दिया कि उपनिषत्के साथ हमारा सम्बन्ध होनेसे प्रबोध की उत्पत्ति होगी तभी यह बन्धन छूट सकता है, मतिने इसमें कोई आपत्ति नहीं की।



द्वितीय अङ्क

महाराज मोहने दम्भको बुलाकर कहा कि—विवेकने प्रबोधोदयकीप्र तिज्ञा की है और तीर्थोंमें शमदम आदिको भेज दिया है। यह हमारे लिये कुलक्षयका समय आगया है, अतः आपलोग सावधान होकर प्रतिकार करें। पृथिवीमें सबसे बड़ा मुक्तिस्थान काशी है, आप वहाँ जाकर चारों आश्रममें निःश्रेयसको विघ्नित करें। मैंने यहाँ अधिकांशपर अपना प्रभाव जमा लिया है। धूर्त्तलोग शराब पीकर वेश्याओंके पास रात बिताते हैं और प्रातःकाल इस तरहका स्वाङ्ग बनाते हैं कि लोग उन्हें तपस्वी समझते हैं। इसी समय दक्षिण राढ़ासे अहङ्कार आकर कहता है कि ये यहाँके रहनेवाले निरे मूर्ख हैं फिर भी इन्हें पाण्डित्यका गर्व है, यह साधु लोग मूंड मुड़ा लेने भरसे वेदान्तका दावा करने लगे हैं, प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुका अपलापमात्र ही वेदान्त नहीं है। इस तरह कहता हुआ वह दम्भके आश्रममें पहुँचता है, वहाँकी सजावट देखकर कुछ समयके लिये उस स्थानको अपना आश्रय चुनता है और वहाँ जाना चाहता है। उसे वहाँ आते देखकर दम्भशिष्य बटु उसे कहता है कि अलग ही रहिये, बिना पैर पखारे पहाँ नहीं जाना होता है। वह बटुके परामर्शानुसार पैर पखारकर जाना चाहता है फिर भी दम्भकी मौन चेष्टासे बटु उसे रोकता है, अहङ्कारको इस अद्भुत ब्राह्मण्यपर बड़ा आश्चर्य होता है, इसी सिलसिलेमें अहङ्कार अपनी प्रशंसा करता है जिससे दम्भ उसे पहचानकर कहता है—अरे ये तो हमारे पितामह हैं, पहचान लेनेपर दम्भ अहङ्कारके चरणोंमें प्रणाम करके अपना परिचय देता है। अहङ्कार दम्भसे कहता है—मैंने तुम्हें द्वापरके अन्तमें शिशुरूपमें देखा था, तुम अब बड़े हो गये हो, इसलिये और कुछ अपनी वृद्धताके कारण पहचान नहीं सका। तुम्हारे परिवारमें कुशलता तो है? दम्भने कहा—हाँ वे लोग भी यहीं हैं। अहङ्कारने मोहके बारेमें पूछा कि सुना है विवेकको मोहसे भय उपस्थित है, इसीलिये आया हूँ। दम्भने कहा—महाराज मोह इन्द्रलोकसे आरहे हैं, उन्होंने काशीको ही राजधानी बनानेका विचार किया है। अहङ्कारने जानना चाहा कि मोह वहीं क्यों रहना चाहते हैं इसपर दम्भने बताया कि विवेकोपरोध ही इसका कारण है। अहङ्कारको यह सुनकर कुछ खटका हुआ। दम्भने मोहके स्वागतमें नगर परिष्कारकी आज्ञा प्रचारित की। यथासमय मोहका आगमन हुआ, उसके साथ चार्वाकमत भी आया और उसने अपने मतका प्रचार किया। चार्वाक सिद्धान्तोंको सुनकर मोहको बड़ी प्रसन्नता हुई; चार्वाकसे मोहने कहा कि कुशल तो है, चार्वाकने कहा—सब कुशल है, अपना कर्त्तव्य समाप्त करके श्रीमान्‌के पास आया हूँ, एक बात कहनी है—विष्णुभक्ति नामकी एक योगिनी है, कलिने यद्यपि उसका प्रचार रोक दिया है? तथापि उसका बड़ा प्रभाव है, वह जहाँ रहती है उस वंशकी ओर ताकना भी हमारे लिये कठिन हो जाता है। इसी समय मदमानका पत्र लेकर पुरीसे एक पुरुष आता है, उस पत्रसे ज्ञात होता है कि शान्ति अपनी माता श्रद्धाके साथ विवेकको उपनिषद्से

मिलानेके लिये दिनरात उपनिषद्को समझाती रहती है, काम सहचर धर्म भी वैराग्य आदि द्वारा फोड़ लिया गया है, इस स्थितिमें आप यथायोग्य विचार तथा प्रतिकार करें। मोहने इसपर कहा कि शान्तिकी क्या बात है, जब काम आदि उसके विपक्षमें हैं तब क्या उसकी हस्ती है और मदमानसे हमारा आदेश सुना देना कि धर्मको बांधकर रखा करे। इसी अवसरपर क्रोध और लोभ अपना गुण प्रकट करते हुए प्रवेश करते हैं। महामोहने शान्तिको वशीकृत करनेके लिये यह उपाय सोचा कि शान्ति श्रद्धाकी पुत्री है, मिथ्यादृष्टिसे श्रद्धाको ग्रस्त करवा देता हूँ, फिर मांके दुःखमें शान्ति निकम्मी बन जायगी। तदनुसार मोहने मिथ्यादृष्टिको श्रद्धाके वशीकारार्थ आज्ञा दी, उसने भी इस कार्यकी सफलताके विषयमें आश्वासन दिया।



तृतीय अङ्क

श्रद्धाको मिथ्यादृष्टि ग्रस्तकर लेती है, वन, पर्वत, नदीतट, पुण्याश्रम सर्वत्र शान्ति श्रद्धाको ढूंढ़ती फिरती है। करुणा नामक सखीके परामर्शानुसार शान्ति श्रद्धाको पाखण्डालयोंमें भी ढूढ़ने चलती है, वहां वह दिगम्बर जैन साधुओंको देखती है जो अपने मतकी श्रेष्ठता बताते घूमते रहते हैं। वहाँ उसे जो श्रद्धा मिलती है वह तामसी श्रद्धा होती है। इसी सिलसिलेमें उसे बौद्धभिक्षुके भी दर्शन होते हैं वह भी अपने मतकी श्रेष्ठता बताता हुआ घूमता है। वहाँ भी उसे तामसी श्रद्धाके ही दर्शन होते हैं। जैनबौद्धमतमें अपने अपने मतकी श्रेष्ठताके विषयमें शास्त्रार्थ होता है जिसमें दोनों अपने-अपने मतको श्रेष्ठ सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। शान्ति आगे बढ़कर सोमसिद्धान्तको देखती है जिससे जैनमत साधुने उसका सिद्धान्त-दर्शन पूछा। उसने नारी मदिराके प्रलोभनसे भिक्षु और क्षपणक दोनोंको आकृष्टकर लिया और कापालिकीवेष धारिणी राजसी श्रद्धा उन दोनोंको आलिङ्गित करके कापालिक सेव्य मदिराका सेवन कराया। नामसाम्यसे शान्तिको सन्देह हुआ कि यह हमारी माता श्रद्धा ही तो नहीं है परन्तु करुणा बताती है कि तुम्हारी माता श्रद्धा विष्णुभक्तिके पास है यह तो कोई दूसरी राजसी श्रद्धा है। कापालिकके अनुरोधसे जैनभिक्षुने गणना करके कहा कि—धर्म और श्रद्धा इस समय विष्णुभक्तिके आश्रयमें हैं। इस बातको सुनकर कापालिकने आकर्षण विद्यासे उन दोनोंका आकर्षण करना चाहा।



चतुर्थ अङ्क

श्रद्धा और मैत्री बातें करती हुई प्रवेश करती हैं। मैत्रीने श्रद्धासे कहा कि मैंने मुदितासे सुना है कि महाभैरवीके चङ्गुलसे तुम्हें देवी विष्णुभक्तिने बचाया है, यही सुनकर तुम्हें देखने आ रही हूँ। श्रद्धाने महाभैरवी वाली घटना कही। मैत्रीने भी अपनी कथा

श्रद्धासे कही कि हम चारो वहनें महात्माओंके हृदयों में रहती हैं । इसी प्रसङ्गसे देव विवेक वस्तुविचारको बुला भेजता है, विवेकने वस्तुविचारसे कहा कि मोहके साथ हम लोगोंका संग्राम छिड़ गया है, उसकी ओरसे काम मुख्य योद्धा वना है, हमने आपको उससे लड़नेके लिये चुना है। वस्तुविचारने कहा कि यह कोई बड़ा भारी काम नहीं है, काम तो पुष्पधन्वा और पञ्चशर हैं, उसे जीतना कौनसी बड़ी बात है। क्षमाने कहा कि मैं क्रोध पर विजय पा सकूंगी और क्रोधके जीते जानेपर हिंसा, मद, मान, मात्सर्य पौरुष्य आदि स्वयं हार मानने लगेंगे। लोभको जीतनेवाले सन्तोषको बुलाया गया, सन्तोषने राय दी कि वाराणसी पर चढ़ाई की जाय। राजाने भी सेनाको भेजनेका आदेश दिया।



पञ्चम अङ्क

विवेक की सेना द्वारा जब मोहपक्ष का संहार हो जाता है तब श्रद्धा इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि आत्मीयोंका विरोध कुलसंहारक होता है। विष्णुभक्ति और शान्ति श्रद्धासे मिलती हैं, विष्णुभक्तिने श्रद्धाको मुनिजन हृदयमें रहने का वरदान दिया और पूछा कि युद्धका क्या समाचार है, इसका उत्तर श्रद्धाने दिया कि देवीके विरोधसे जो होना चाहिये। आदि केशव मन्दिर से आप चलीं, सवेरा हुआ, दोनों ओर की सेना आमने सामने आ खड़ी हुई। विवेकने मोहके पास न्यायदर्शनको दूतके रूपमें भेजा। दूतने जाकर मोहसे कहा कि आप देवस्थान आदिको छोड़कर हट जांय, अन्यथा आपका समूल नाश होगा। इस संवादसे मोहको बड़ा क्रोध हुआ। इसी समय हमारी सेनाके आगे सरस्वती प्रकट हुई। बड़ा घोर संग्राम हुआ, सभी मोहपक्षीय निहत हुए। मोह कहीं जाकर छिप गया। सारा समाचार जब मनने सुना तो उसे अपने प्यारे पुत्रोंके निधनसे बड़ा कष्ट हुआ, प्यारी प्रवृत्तिके मरनेका समाचारने तो उसे जर्जर बना दिया, इसी समय उसके पास वैयासकी सरस्वती पहुंची और उसने मनको संसारकी वास्तविकतासे परिचय कराकर वैराग्यकी ओर झुकाया, निवृत्तिको मनकी पत्नीके पदपर नियुक्त किया, मनको शान्ति प्राप्त हुई।

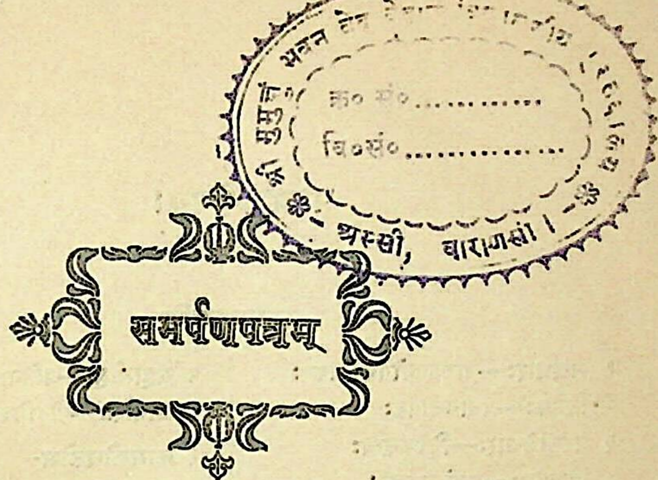


षष्ठ अङ्क

शान्ति और श्रद्धाके दिन आरामसे बीतने लगे, शान्तिने एक-एक करके राजकुलका समाचार पूछा जिसे श्रद्धाने विशदपूर्वक बताया। श्रद्धाके अनुसार यह समझा गया कि पुरुषने मायाका संबन्ध त्याग कर दिया है, नित्यानित्यविचारणा प्रणयिनी, एकमात्र वैराग्य मित्र, शम, दम आदि सहाय, मैत्री आदि परिचारिकायें, मुमुक्षा सहचरी, ये ही पुरुषके परिजन रह गये हैं। यह भी श्रद्धाके द्वारा ज्ञात हुआ कि इस स्थितिमें भी मोहने अपनी

दुष्टताका त्याग नहीं किया है, उसने पुरुषको फुसलानेके लिये 'मधुमती' को नियुक्त किया। मधुमतीने पुरुषको बहुतसा सब्ज बाग दिखलाया, मायाने भी हामी भरदी, मनने अनुमोदन किया, सङ्कल्पने प्रोत्साहित किया, पुरुष भी सहमत होगया, परन्तु पार्श्ववर्त्ती तर्कने समय पर सबोंको आडे हाथों लियां, उसने इस मायाजाल का पर्दाफास करके पुरुषको सचेत कर दिया। पुरुषने विवेकको देखना चाहा और उपनिषद् को भी बुला भेजा। उपनिषद्–विवेकसे मिलनेमें आनाकानी करती रही, क्योंकि बुरे दिनोंमें विवेकने उसकी रक्षा नहीं की थी, जिससे उसे बहुत कष्ट सहने पड़े थे। शान्तिने उसे विवेककी परिस्थिति बाध्यता बताकर समझाया और वह विवेकसे मिली, पुरुषसे उपनिषद्ने अपनी बीती बातें सुनाई। पुरुषने उपनिषद्से प्रश्न किया कि तुमने इतने दिन कहाँ बिताये। उपनिषद्ने कहा—मैं मठ, चत्वर, पुराने देवागार प्रभृति स्थानोंमें रही, वहाँ मैंने देखा कि वहाँ रहनेवाले हमारे अर्थका अनर्थ कर रहे हैं, इसके बाद मैंने कभी देखा कि यज्ञविद्या जारही है, मैं उसके पास आश्रय पाने गई, उसने मेरे कार्यके विषयमें प्रश्न किया, मैंने अपना कार्य ब्रह्मज्ञान बताया। इसपर यज्ञविद्याने कहा कि'मुझे ऐसे अकर्त्तापुरुषकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बाद मुझे मीमांसा मिली, उसे भी मैंने आश्रयप्रदानके लिये कहा, उसने भी अस्वीकार किया, अनन्तर मैं तर्कविद्याओं की शरणागत हुई, उनके उत्तर भी हमारे कामके नहीं हुए। इस प्रकार भागती-भागती मैं दण्डकवनमें प्रवेशकर गई, वहाँके गदापाणि पुरुषोंने हमारे अनुगामी तर्कोंको भगाया। अनन्तर उपनिषद्ने आत्माका स्वरूप बताया और इसी समय निदिध्यासन प्रकट हुआ। उसने आकर पुरुषके समक्ष ही उपनिषद्से निवेदन किया कि आपके गर्भसे विद्या और प्रबोधोदय नामकी दो सन्तानें होंगी, उनमें विद्याको सङ्कर्ष विद्याद्वारा मनमें सङ्क्रान्त करादें और प्रबोधचन्द्रको पुरुषके हाथों सौंपकर विवेकके साथ उपनिषद् विष्णुभक्तिके पास चली जाय। वैसा ही हुआ, प्रबोधोदय होनेसे सबका अज्ञानान्धकार दूर हो गया। पुरुषको विष्णुभक्तिके प्रसादसे मुक्ति मिली।





श्रीमतां स्वनामधन्यानां गुरुवर-

पण्डित श्रीईश्वरनाथझा शर्मणां

करकमलयोः

सादरं समर्प्यतेऽयं प्रकाशः

पूज्यपादाः !

अबोधस्याविच्छोरपि हतमतेरश्रमकृतो
दृशं मे यद्यत्नैरकृषत भवन्तो विकसिताम् ।
अशेषे शास्त्रार्थे फलमुपहृतं तेन विरसं
रसाढ्यं वा स्वल्पाद्भवतु भवदङ्गीकृतमिदम् ॥

तदीयशिष्यान्यतमेन

रामचन्द्रेण

पात्रपरिचयः



पुरुषपात्राणि

१ सूत्रधारः—नाटकप्रयोगप्रबन्धकरः	९ महामोहः—प्रतिनायकः
२ विवेकः—प्रधाननायकः	१० चार्वाकः—मोहमित्रम्
३ वस्तुविचारः—विवेकभृत्यः	११ कामक्रोधलोभ-दम्भाहङ्काराः } मोहामात्याः
४ सन्तोषः—सतां सहचरः	१२ मनः—सङ्कल्परूपम्
५ पुरुषः—उपनिषत्पतिः	१३ दिगम्बरभिक्षु-कापालिकाः } बौद्धजैनादि मतप्रवर्त्तकाः
६ प्रबोधोदयः—उपनिषदुत्पन्नपुरुषः पुत्रः	१४ बटुः, शिष्यः, पुरुषः, दौवारिकः } इतरे जनाः
७ वैराग्य-निदिध्यासन-सङ्कल्पाः } मनस उत्पन्नाः	
८ पारिपार्श्वक, पुरुष, सारथी, प्रतिहारिणः } इतरे जनाः	

स्त्रीपात्राणि

१ नटी—सूत्रधारस्त्री	८ सरस्वती—विष्णुभक्तिसखी
२ मतिः—विवेकस्त्री	९ क्षमा—विवेकदासी
३ श्रद्धा—शान्तिमाता	१० मिथ्यादृष्टिः—मोहजाया
४ शान्तिः—विवेकभगिनी	११ विभ्रमावती—तत्सखी
५ करुणा—शान्तिसखी	१२ रतिः—कामपत्नी
६ मैत्री—श्रद्धासखी	१३ हिंसा—क्रोधपत्नी
७ उपनिषत्—वेदान्तविद्या	१४ तृष्णा—लोभपत्नी



॥ श्रीः ॥

प्रबोधचन्द्रोदयम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयःपूरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति ।
यत्तत्त्वं विदुषां निमीलति पुनः स्रग्भोगिभोगोपमं

चिरविततमिस्रासङ्कुचद्दिग्विभागे
विगतकरणतारामण्डलीशुभ्रभासि ।
विषयजलदमालासम्परीतेऽम्बरेऽस्मिन्
मनसि सकृदुदीयाज्जातु मे बोधविद्युत् ॥ १ ॥

श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' ।
प्रसूं 'जयमणिं' चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
श्रीकृष्णमिश्रकविताभावानवबोधबद्धवैमुख्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता 'प्रकाशो'ऽयम् ॥ ३ ॥

दार्शनिककविः श्रीकृष्णमिश्रो विद्वद्वर्यः प्रबोधचन्द्रोदयनामकं नाटकं चिकीर्षुः प्रारिप्सितग्रन्थप्रत्यूहव्यूहप्रशमकामनया मङ्गलमादौ निबध्नाति—मध्याह्नेति० यदज्ञानतः यस्य ब्रह्मात्मकस्य महसः प्रकाशस्य अज्ञानतः अबोधात् मध्याह्नार्कमरीचिकासु अह्नो मध्यं मध्याह्नस्तस्य योऽर्कः सूर्यस्तस्य मरिचयः किरणा एव मरीचिकाः सिकतागतसूर्यकरप्रभाचाक्चिक्याकारास्तासु पयःपूरः जलराशिरिव खम् आकाशम् वायुः पवनः ज्वलनः वह्निः जलं वारि क्षितिः पृथिवी एवं क्रमेण त्रैलोक्यम् समस्तं धरामण्डलम् समुन्मीलति प्रकटति । यत्तत्त्वं यदीयं स्वरूपम् विदुषाम् जानताम्

मध्याह्नसूर्यकी मरीचिकामें जलराशिकी तरह जिसके अज्ञानसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इस क्रमसे त्रैलोक्य प्रकट होता है और जिसके ज्ञानसे मालासर्पकी

सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं महः ॥ १ ॥

अपि च—

अन्तर्नाडीनियमितमरुल्लङ्घितब्रह्मरन्ध्रं

पुनः स्रग्भोगिभोगोपमम् मालासर्पफणवत् निमीलति विलीयते, तद् अमलम् विगतसकलकलङ्कपङ्कम् स्वात्मावबोधम् स्वप्रकाशम् सान्द्रानन्दम् आनन्दघनम् महः परमात्मलक्षणं ज्योतिः उपास्महे ध्यायामः। यदज्ञानवशादयं संसारो मध्यन्दिनसावित्रकरोद्भासिमृगमरीचिकासु पयःपूर इवाकाशादिक्रमेणोपजायते, यज्ज्ञानवशाच्च मालाफणीव निलीयते तदखण्डानन्दैकरसं ब्रह्म भावयाम इत्यर्थः। अत्र प्रथमोदाहरणं संसारिविषयं द्वितीयन्तु मुक्तविषयम्। अत्र मध्याह्नार्कमरीचिकासु पयःपूर इव यदज्ञानतो लोकोऽयमुन्मीलति तिष्ठति निमीलति चेत्युक्त्या जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूपं तटस्थलक्षणं 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुत्युक्तं 'सान्द्रानन्दम्' इति च सच्चिदानन्दत्वरूपं स्वरूपलक्षणं ब्रह्मणो निवेशितमवगन्तव्यम्। 'खं वायुर्ज्वलनः' इति क्रमश्च 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशस्संभूतः' इत्यादि श्रुतिसमर्थितो ज्ञेयः। एतेन 'अज्ञाननिवृत्तिः प्रयोजनं, तत्कामोऽधिकारी, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः, ऐक्यमभिधेयमि'ति सूचितम्। 'नैदाघभानुकिरणेष्विव वारिपूरः सर्वो विभाति यदबोधवशात्प्रपञ्चः। मालाफणीव च निमीलति यत्प्रबोधात्तद्ब्रह्म नौमि सुखमद्वयमात्मरूपम्' इति शिखामणिश्लोकोऽस्य च्छायामनुहरति। त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्, स्वार्थे ष्यञ्। तत्त्वं विदुषामित्यत्र 'नलोकाव्यये'ति षष्ठीनिषेधात्तत्त्वपदे द्वितीयैव। यद्यपि—'आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः। योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय' इति, 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्' इति चोक्तत्वेनाविद्यानिवृत्ते रूपकस्यास्य फलत्वेनोपादानमयुक्तं तथापि अन्यस्यास्य रूपकभूमिकापन्नवेदान्तशास्त्रतयाऽविद्यानिवृत्तिः परमं प्रयोजनं रसास्वादश्चावान्तरं प्रयोजनम्, तत्र मुखप्रतिमुखसन्ध्यादौ रसास्वादोऽवसाने चाविद्यानिवृत्तिरिति विवेकः। उपमाऽलङ्कार आंशिकः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ १ ॥

अन्तर्नाडीति० अन्तर्नाड्याम् सुषुम्नायाम् नियमितः सन्निरुद्धो यो मरुत् वायुस्तेन लङ्घितम् उल्लङ्घितम् ब्रह्मरन्ध्रम् येन तादृशम्, 'सुषुम्ना तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्ति-

तरह लीन हो जाता है, उस आनन्दस्वरूप तथा स्वप्रकाशरूप उस ब्रह्मकी हम उपासना करते हैं ॥ १ ॥

सुषुम्ना नाड़ीमें प्राणको अवरुद्ध करके ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेशित करने के लिये शान्तियुक्त

स्वान्ते शान्तिप्रणयिनि समुन्मीलदानन्दसान्द्रम् ।
प्रत्यग्ज्योतिर्जयति यमिनः स्पष्टलालाटनेत्र-
व्याजव्यक्तीकृतमिव जगद्व्यापि चन्द्रार्धमौलेः ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधारः)

मार्गेण । सुषुम्नया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति । जीवः प्राणसमारूढो ब्रह्मरन्ध्रं विशत्यसौ । नाडीषु बध्यमानासु मध्यनाडीं विशत्यसौ' इत्युक्त्या सुषुम्नामाविश्य ब्रह्मरन्ध्रं प्रविष्टमित्यर्थः। शान्तिप्रणयिनि उपशमंगते स्वान्ते चित्ते समुन्मीलदानन्दसान्द्रम् प्रकटीभवदानन्दसुखामिन्नम्—स्वप्रकाशसुखरूपमित्यर्थः । यमिनो ध्यानमग्नस्य चन्द्रार्धमौलेः खण्डशशधरालङ्कृतशिरसः शिवस्य स्पष्टं स्फुटदृश्यं यल्लालाटनेत्रम् भालनयनं तद्व्याजेन तच्छलेन अव्यक्तं व्यक्तं कृतम् स्वभावतश्चाक्षुषायोग्यमपि चाक्षुषविषयतां नीतम् इव जगद्व्यापि ब्रह्माण्डव्यापकं प्रत्यग्ज्योतिः जडानृताहङ्कारादिभ्यः प्रातिकूल्येनाञ्चतीति प्रत्यक् (प्रातिकूल्यं च सत्यज्ञानानन्दादिरूपेण भानम्) ज्योतिःप्रकाशरूपम् जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । ध्यायतः शिवस्य ध्यानविषयीभूतं ब्रह्मैव प्रकाशतत्तृतीयनयनव्याजेन स्फुरजयतीत्यर्थः। जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते इति तत्प्रतिप्रणतोऽस्तीति व्यज्यते । 'अर्थतः शब्दतो वापि मनाक्काव्यार्थसूचनम्' इति प्रतापरुद्रीयोक्तदिशाऽत्र नान्दीद्वये शब्दतः पञ्चाङ्कार्थः, अर्थतोऽपि मध्याह्नार्केत्यादिप्रथमार्धेन महामोहस्तत्सेन च, तृतीयपादेन ससेनो विवेकः, चतुर्थपादेनोभयोः सेनाविलयानन्तरं स्वरूपावस्थानञ्चोक्तम् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरु चेत्' ॥ २ ॥

नान्द्यन्त इति० नान्द्याः रङ्गविघ्नोपशान्तये विधीयमानाया आशीर्नमस्क्रियाद्यन्यतमभेदभूतमङ्गलाचरणरूपायाः, अन्ते अवसाने, चरमवर्णध्वंसोऽत्रान्तपदार्थः । सूत्रधारः प्रविश्याहेत्यग्रिमेणान्वयः। नाटकादिप्रयोगे सूत्रधारो नान्दीं पठतीति समुदाचारः 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः' इति भरतोक्तिमाधारीकृत्य प्रवृत्तः । यद्यपि नाट्योपक्रमे विघ्नोपशान्तये कुशीलवैर्द्वाविंशत्यङ्गसहितः पूर्वरङ्गः कर्त्तव्यः, 'प्रथमं पूर्वरङ्गश्च ततः प्रस्तावनेति च। आरम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते' ॥ यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स

हृदयमें आनन्दरूपसे प्रकटित होनेवाला तपोनिष्ठ महादेवकी तृतीय दृष्टिके रूपमें प्रकटीभूत महादेवकी प्रत्यक् ज्योति की जय हो ॥ २ ॥

(नान्दीके अन्तमें सूत्रधारका प्रवेश)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। आदिष्टोऽस्मि सकलसामन्तचक्रचूडामणिमरीचिमञ्जरीनीराजितचरणकमलेन बलवदरिनिवहवक्षस्तटकपाटपाटनप्रकटितनृसिंहरूपेण प्रबलतरनरपतिकुलप्रलयमहार्णवनिमग्नमे-

---

उच्यते'॥ किञ्च—सभापतिस्तथा सभ्या गायका वादका अपि। नटी नटश्चमोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्॥ अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यस्स प्रकल्प्यते। तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते'॥ इति पूर्वरङ्गस्य प्रथमविधेयत्वं बुध्यते, तथापि द्वाविंशत्यङ्गसहितरङ्गमध्ये नान्दीरूपस्यैवाङ्गस्यावश्यविधेयतया सैवात्र विहिता। तथा चोक्तम्—'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तेषामवश्यं कर्त्तव्या नान्दी नन्दीश्वरप्रिया॥' इति। नान्दीलक्षणं यथा—'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः। नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृता'॥ अत्र पदशब्देन सुप्तिङन्तरूपं पदं श्लोकचतुर्थांशरूपम्, अवान्तरवाक्यार्थरूपञ्च गृह्यते, तदुक्तं नाट्यप्रदीपे—'श्लोकपादं पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे। परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे' इति। विद्यानाथस्तु कैश्चिन्नान्द्यां पदनियमो नाभ्युपगम्यते' इत्याह। अतोऽत्र नान्द्यां पदनियमानादरेऽपि न क्षतिः। नान्दीपदव्युत्पत्तिरुक्ता नाट्यप्रदीपे यथा—'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः। यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी'। 'चन्द्रार्धमौलेः' इति चन्द्रपदोपादानेनास्या नान्द्याश्चन्द्रशंसिता बोध्या। चन्द्रपदोपादानेन नान्द्यां काव्यगता रसस्फीतताऽऽशंस्यते—यथोक्तम्—'चन्द्रनामाङ्किता कार्या रसानां स यतो निधिः प्रीते चन्द्रमसि स्फीता रसश्रीरिति वाल्मुकिः॥' सूत्रधारः—सूत्रं धरतीति सूत्रधारः, कर्मण्यण्। सूत्रं चात्र नाटकप्रयोगव्यवस्था, तथा चामरः—'सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः' इति। उक्तञ्च—'नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते'॥

आदिष्टः—आज्ञप्तः। सकलाः सर्वे ये सामन्ताः मण्डलेश्वरास्तेषां चक्रं समूहस्तस्य चूडासु मुकुटेषु ये मणयः पद्मरागाद्यास्तेषां मरीचिमञ्जर्यः किरणपरम्परास्ताभिः नीराजितम् पूजितं चरणकमलं पादपङ्कजं यस्य तेन सकलसामन्तवन्दितेनेत्यर्थः। इदमेकं भूपालगोपालस्य विशेषणम्। बलवन्तः प्रबला येऽरिसमूहाः शत्रुनिवहास्तेषां वक्षस्तटम् उरोदेश एव (विस्तृतत्वात्) कपाटं तस्य पाटने विदारणे प्रकटितं नृसिंहरूपं येन तेन, प्रबलशत्रुवक्षोभेदिनेत्यर्थः। इदमपि तस्यैव विशेषणम्। प्रबलतरा

सूत्रधार—विस्तारकी जरूरत नहीं है। समस्त सामन्तजन अपने मस्तकस्थित रत्नोंसे जिसके चरणोंको पूजते हैं; जिसने दुर्जय शत्रुओं की चौड़ी छातियों के फाड़नेमें नृसिंहरूप धारण किया है, जिसने बलशाली राजमण्डलरूप महार्णवके प्रताप जलमें निमग्न

दिनीसमुद्धरणमहावराहरूपेण सकलदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकीर्तिलतापल्लवेन समस्ताशास्तम्बेरमकर्णतालास्फालनबहलपवनसम्पातनर्तितप्रतापानलेन श्रीमता गोपालेन। यथा खल्वस्य सहजसुहृदो राज्ञः कीर्तिवर्मदेवस्य दिग्विजयव्यापारान्तरितपरब्रह्मानन्दरसैरस्माभिः समुन्मीलितविविधविषयरसास्वाददूषिता इवातिवाहिता दिवसाः। इदानीं तु कृतकृत्या वयम्। यतः—

अतिसामर्थ्यशालिनो ये नरपतयो राजानस्तेषां कुलमेव प्रलयमहार्णवः कल्पावसानसमयसमुद्रस्तत्र निमग्नायाः लीनायाः मेदिन्याः पृथिव्या समुद्धरणे समुद्धारे महावराहरूपेण आदिवराहतुल्येन। सकलराजन्यकुलाद्विजित्य पृथिवीं स्ववशीकृतवतेत्यर्थः। सकलाः सर्वाः या दिग्विलासिन्यो दिगङ्गनाः तासां कर्णपूरीकृतः कर्णावतंसीकृतः कीर्त्तिलतापल्लवो यशोवल्लरीकिसलयो यस्य तेन, दिगन्तविश्रान्तयशसेत्यर्थः। समस्ताः निखिलाः आशास्तम्बेरमाः दिग्गजास्तेषां कर्णतालाः तेषामास्फालनेन चालनेन वहलो बहुलीभूतः पवनो वायुस्तस्य सम्पातेन संसर्गेण नर्त्तितः समेधितः प्रतापानलो यस्य तादृशेन, दशदिक्प्रख्यातप्रतापेनेत्यर्थः। सकलसामन्तेत्यत्रातिशयोक्तिः, वलवदरिनिवहेत्यत्र परम्परितरूपकम्। प्रवलतरेत्यादावुपमारूपकयोः सङ्करः। सकलदिग्विलासीनीत्यत्र विशेषणे परिणामः। समस्ताशास्तम्बेरमेत्यत्राप्यतिशयोक्तिः। सहजसुहृदः—स्वभावसहृदयस्य। दिग्विजयव्यापारेण—जैत्रयात्राप्रसङ्गेन। अन्तरितपरब्रह्मानन्दरसैः—विघ्नितात्मानन्दानुभवचमत्कारैः। समुन्मीलितविविधविषयास्वाददूषिताः—समुपस्थितनानाप्रकारकशब्दस्पर्श—प्रभृत्युपभोगकलुषाः। अतिवाहिता—गमिताः। कीर्त्तिवर्मयात्राप्रसङ्गव्यासक्ततायां सांसारिकसुखोपभोगासक्ततया ब्रह्मास्वादसमुत्थानन्दवञ्चितैरस्माभिः कलुषभावेनैव दिनानि गमितानीत्याशयः। कृतकृत्याः—कीर्तिवर्मणो राज्ये स्थापनात् स्वस्थचित्ताः। वयम् इत्यत्र 'अस्मदो द्वयोश्च' इत्येकत्वे वहुवचनम्। यतः स्वस्थताकारणं वर्णायितुमिदम्।

धराके उद्धारमें महावराहका रूप धारण किया है, सभी दिशारूप ललनाओंके कर्णपूरका स्थान जिसके यशको प्राप्त है, सकलदिग्गजके कर्णतालजनित वायुसे प्रेरित होकर जिसका प्रतापानल नृत्य करता है, ऐसे श्रीमान् गोपाल ने आज्ञा दी है कि इस स्वभावसुहृद् राजा कीर्त्तिवर्माकी दिग्विजय-यात्राके प्रसङ्गसे ब्रह्मानन्दपराङ्मुख होकर हमने नानाप्रकारके विषयरसोंसे दूषित दिन बिताये हैं, अब हम कृतकृत्य हो गये हैं; क्योंकि—

नीताः क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा
रक्षावती क्षितिरभूत्प्रथितैरमात्यैः ।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-
मालार्चितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥ ३ ॥

तद्वयं शान्तरसप्रयोगाभिनयेनात्मानं विनोदयितुमिच्छामः । ततो यत्पूर्वमस्मद्गुरुभिस्तत्रभवद्भिः श्रीकृष्णमिश्रैः प्रबोधचन्द्रोदयं नाम नाटकं निर्माय भवतः समर्पितमासीत् तदद्य राज्ञः श्रीकीर्तिवर्मणः पुरस्ता-

नीता क्षयमिति० नृपतेः कीर्त्तिवर्मणः विपक्षाः शत्रवः क्षितिभुजः राजानः क्षयं नीताः विनाशिताः, प्रथितैः स्वचातुर्यख्यातैः अमात्यैः क्षितिः पृथिवी रक्षावती सुरक्षिता अभूत् । पयोनिधिमेखलायाम् सागरवसनायाम् भुवि क्षितिपालमौलिमालार्चितं राजशिरोभिरुह्यमानम् अस्य कीर्त्तिवर्मणः साम्राज्यम् मण्डलेश्वरत्वम् विहितम् । शत्रुविनाशमन्त्रिन्यासौ कृत्वा कीर्त्तिवर्मणः साम्राज्यं स्थिरीकृतमित्यर्थः । 'सम्राट् स्यान्मण्डलेश्वरः' । तस्य भावः साम्राज्यम् ॥ ३ ॥

तत्–कृतकृत्यत्वेन हेतुना । शान्तरसप्रयोगाभिनयेन–शान्तरसप्रचुरनाटकेन । विनोदयितुम्–प्रसन्नतां प्रापयितुम् ।

यत इत्यारभ्येच्छाम इत्यन्तेन सन्दर्भेण काव्यार्थसूचकैर्वचनैः समारोचनात्मकं प्ररोचनाङ्गमुक्तम्, तथा हि—'नीताः क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षाः' इत्येतेन विवेकमहाराजकर्तृको मोहविजयः सूचितः । 'रक्षावती क्षितिरभूत् प्रथितैरमात्यैः' इत्यनेन यमाद्यष्टाङ्गयोगैरन्तःकरणशुद्धिः सूचिता । 'साम्राज्यमस्य विहितम्' इत्यनेन पुरुषस्य स्वरूपलाभरूपं सायुज्यं सूचितम् ॥

अस्मद्गुरुभिः–अस्माकमुपदेशकैः । तत्रभवद्भिः पूज्यैः । निर्माय विरचय्य । भवतः समर्पितम् । तुभ्यं दत्तम् । पुरस्तात् अग्रतः । अभिनेतव्यम्–प्रयोक्तव्यम् ।

इस राजाके सभी शत्रु मार दिये गये हैं, प्रसिद्ध मन्त्रियोंके हाथोंमें पृथिवीकी रक्षाका भार सौंप दिया गया है, सभी राजाओंने इसके साम्राज्यको नतमस्तक हो मान लिया है, जो साम्राज्य समुद्रपरिवृत पृथिवी व्यापी है ॥ ३ ॥

इसलिये अब हम शान्तरसके नाटकसे अपनेको विनोदित करना चाहते हैं । इसलिये हमारे गुरु पूज्य श्रीकृष्णमिश्रने प्रबोधचन्द्रोदय नामका जो नाटक बनाकर आपको दिया था उसे ही आज कीर्त्तिवर्माके सामने अभिनीत करें । सभासदों के साथ राजा भी

ऽभिनेतव्यं भवता। अस्ति चास्य भूपतेः सपरिषदस्तदवलोकने कुतूहलमिति। तद्भवतु। गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्य, नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, इतस्तावत्।

(प्रविश्य नटी)

नटी—एषास्मि। आज्ञापयत्वार्यपुत्रः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति। (एसम्हि। आणवेदु अय्यउत्तो को णिओओ अणुचिट्ठियदु त्ति)

सूत्रधारः—आर्ये, विदितमेव भवत्या।

अस्ति प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिविपुलबलारण्यमूर्च्छत्प्रताप-
ज्योतिर्ज्वालावलीढत्रिभुवनविवरो विश्वविश्रान्तकीर्तिः।

सपरिषदः 'परिषत् सभा, तया सहितस्य। तदवलोकने-प्रबोधचन्द्राभिधनाटकदर्शने। कुतूहलम्—उत्कण्ठा। एतावत्पर्यन्तं गोपालभूपालवाक्यानुवादः, इतः परतः सूत्रधारोक्तिः। गृहिणीम्—स्वभार्याम्—नटीम्।

आज्ञापयतु—कथयतु। नियोगः—आदेशः। अनुष्ठीयताम्—सम्पाद्यताम्। कं तवादेशं पूरयामीति प्रश्नाशयः।

विदितम्—ज्ञातम्।

अस्ति प्रत्यर्थीति० प्रत्यर्थिनः शत्रुभूताः ये पृथ्वीपतयः राजानः तेषां विपुलम् बहुलं यद्बलम् सैन्यम् तदेव (दुःसञ्चारत्वसाम्येन) अरण्यं काननम् तस्मिन् मूर्च्छन् वृद्धिं भजमानः प्रतापः पराक्रम एव ज्योतिः प्रकाशस्तस्य ज्वालया भासा अवलीढम् आक्रान्तम् त्रिभुवनविवरम् लोकत्रयरूपं विलं येन तादृशः, शत्रुसंहारजन्ययशसा भुवनाभोगं पूरयन्नित्यर्थः। त्रिभुवने विवरत्वारोपः सुखव्याप्यतां ध्वनयितुम्, तेन च प्रतापप्रकर्षो व्यज्यते। विश्वविश्रान्तकीर्त्तिः संसारख्यात-

---

उस नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। अच्छा, तब तक घरसे गृहिणी को बुलाकर संगीतका आयोजन कर दूं। (चलकर, नेपथ्यकी ओर)

आर्ये, जरा इधर तो आओ।

नटी—यह आई। क्या आदेश है?

सूत्रधार—आर्ये, जानती ही हो—

शत्रुराजगण सैन्यरूप वनमें प्रतापानलको विस्तृत करके उस प्रतापकी लपटों से त्रिभुवन विवरको अतिक्रान्त करनेवाले विश्वविख्यात कीर्त्ति तथा केवल तलवारकी मददसे

गोपालो भूमिपालान्प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यषेचि ॥४॥

अपि च—

अद्याप्युन्मदयातुधानतरुणीचञ्चत्करास्फालन-
व्यावल्गन्नृकपालतालरणितैर्नृत्यत्पिशाचाङ्गनाः ।
उद्गायन्ति यशांसि यस्य विततैर्नादैः प्रचण्डानिल-
प्रक्षुभ्यत्करिकुम्भकूटकुहरव्यक्तै रणक्षोणयः ॥ ५ ॥

यशाः गोपलस्तन्नामा अस्ति। येन असिलतामात्रमित्रेण केवलखड्गसहायेन भूमिपालान् विरोधिराज्ञः प्रसभं हठात् जित्वा विजित्य नरपतितिलकः राजमुख्यः कीर्त्तिवर्मा भूयः साम्राज्ये मण्डलेश्वरपदे अभ्यषेचि अभिषिक्तः। यो गोपालः केवलखड्गसहायतया निखिलानपि प्रतिबन्धकराज्ञो जित्वा भ्रष्टसाम्राज्यभावः कीर्त्तिवर्मा पुनः स्वपदे साम्राज्यलक्षणे स्थापित इत्याशयः। एतेन परोपकारजन्यकीर्त्तिशालित्वमपि ध्वनितम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, लक्षणमनुपदमेवोक्तम् ॥ ४ ॥

अद्यापीति० उन्मदाः प्रसन्ना मत्ताश्च या यातुधानतरुण्यो राक्षसललनास्तासां चञ्चन्तः दीप्तिशालिनश्चला वा ये करा हस्तास्तेषामास्फालनं करतालिकाप्रदानार्थः परस्पराघातस्तेन व्यावल्गन्ति चलन्ति यानि नृकपालानि नरमुण्डानि तेषां तालरणितैः तालयुक्तशब्दैः नृत्यन्त्यः नृत्यपरायणाः पिशाचाङ्गनाः पिशाचस्त्रियो यासु तादृश्यः रणक्षोणयः युद्धभूमयः अद्यापि युद्धस्य चिरवीतत्वेऽपि प्रचण्डानिलेन महता वायुना प्रक्षुभ्यत् ससञ्चारम् यत् करिकुम्भकूटम् हस्तिशिरःसमुदयस्तस्य कुहराणि विलानि गह्वराणि वा तेभ्यो विततैः जृम्भमाणैर्नादैः शब्दैः यस्य यशांसि कीर्तिगाथाः गायन्ति। मत्ता यातुधानस्त्रियः करतालिका प्रदानेन यत्करांश्चालयन्ति तेन तत्करभूषणीभूतानि नृकपालानि सतालं शब्दायन्ते, यदीयं तालमनुसृत्य पिशाचाङ्गना यासु नृत्यन्ति तादृश्यो रणभूमयो यस्य गोपालभूपालस्य यशःप्रबलवातचलितगजकुम्भास्थिकुहरनिर्यन्निनदैर्गायन्तीत्यर्थः। महाभीषणं यस्य युद्धं तादृशो

समस्त विरोधी राजाओंको जीतकर कीर्त्तिवर्माको फिरसे राज्यासीन करनेवाले गोपाल नामक भूपाल हैं ॥ ४ ॥

जहाँ मतवाली राक्षसस्त्रियाँ ताल देती हैं जिससे उनके हाथमें स्थित नरकपाल खनखना उठते हैं, पिशाचस्त्रियाँ नाचा करती हैं, हस्तिमुण्डोंके अस्थिपञ्जर हवासे भरकर रणभूमिमें शब्द करते हैं, मानो-रणभूमि गोपाल की कीर्त्ति गा रही हो ॥ ५ ॥

तेन च शान्तपथप्रस्थितेनात्मनो विनोदार्थं प्रबोधचन्द्रोदयाभिधानं नाटकमभिनेतुमादिष्टोऽस्मि। तदादिश्यन्तां भरता वर्णिकापरिग्रहाय।

नटी—(सविस्मयम्) आर्यपुत्र, आश्चर्यमाश्चर्यम्। येन तथाविधनिजभुजबलविक्रमैकनिर्भर्त्सितसकलराजमण्डलेन आकर्णाकृष्टकठिनकोदण्डदण्डबहुलवर्षच्छरनिकरजर्जरितयतुरङ्गतरङ्गमालम्, निरन्तरनिपतत्तीक्ष्णविशिखनिक्षिप्तमहास्त्रपर्यस्तोत्तुङ्गमातङ्गमहामहीधरसहस्रम्, भ्रमद्भुजदण्डमन्दराभिघातघूर्णमानसकलपत्तिसलिलसंघातम्, कर्णसेनासागरं

गोपाल इत्याशयः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः। पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ ५ ॥

तेन गोपालभूपेन। शान्तपथप्रस्थितेन शममार्गप्रचलितेन। आत्मनः स्वस्य। अभिनेतुम्-प्रयोक्तुम्। आदिष्टः-आज्ञापितः। आदिश्यन्ताम्-आज्ञाप्यन्ताम्। भरताः अभिनेतारो नटाः। वर्णिकापरिग्रहाय-यथोचितवेषग्रहणाय। यस्य भूमिका येन नटेनालम्बनीया तेन नटेन स्वानुकार्यस्य वेषः सम्पाद्यतामित्याशयः।

सविस्मयम्—साश्चर्यम्, विस्मयश्च गोपालभूपालस्य युद्धरसिकस्य शमपथप्रस्थानश्रवणजन्मा बोध्यः।

तथाविधोऽतिविख्यातपराक्रमो यो निजभुजबलविक्रमः स्वबाहुपराक्रमस्तेनैकेन केवलेन तेन (परकीयसाहाय्यनिरपेक्षम्) निर्भर्त्सितम् परास्तम् सकलराजमण्डलं समस्तनृपचक्रं येन तादृशेन। इदं तृतीयान्तं राज्ञो विशेषणम्। आकर्णाकृष्टः कर्णपर्यन्तं नमितः यः कठिनकोदण्डदण्डः कठोरधनुर्दण्डः ततः कोदण्डदण्डात् बहुलम् प्रचुरम् वर्षता निर्गच्छता शरनिकरेण बाणसमूहेन जर्जरिताः क्षतविक्षताः तुरङ्गाः अश्वा एव तरङ्गमाला यस्य तादृशम् इदमग्रेतनं च द्वितीयान्तकुलं समुद्रत्वेन रूप्यमाणस्य राजनिवहस्य विशेषणम्। निरन्तरं सततं निपतन्ति परापतनशीलानि तीक्ष्णानि शिताग्राणि विशिखानि बाणाः निक्षिप्तानि प्रहृतानि महास्त्राणि आग्नेयादीनि तैः पर्यस्ता इतस्ततः क्षिप्ता उत्तुङ्गमातङ्गा दीर्घा दन्तिन एव महामहीधरसहस्रम् महोच्चपर्वतकुलम् यस्येति विग्रहः, कर्णसेनासागरगतं हस्तिकुल-

अब वह शान्तिके उपासक हो रहे हैं, उन्होंने आत्मविनोदार्थ प्रबोधचन्द्रोदयके अभिनय करने की आज्ञा दी है। इसलिये नटोंको तैयार होने की आज्ञा दो।

नटी—(विस्मयके साथ) आर्यपुत्र, आश्चर्य है, आश्चर्य! जिसने अपने उद्दाम बाहु पराक्रमसे समस्त राजमण्डलको नीचा दिखाया, शत्रु सागरमें कान तक आकृष्ट बाणसे शरवृष्टि करके तरङ्गोपम तुरङ्गोंको जर्जरित किया, निरन्तर गिरनेवाले बाणों तथा अन्य महास्त्रोंसे शैलतुल्य गजराजोंको उलट-पुलट दिया, भुजदण्डरूप मन्दर पर्वत घुमाकर सकल पदातिसेनारूप जलराशिको नचा दिया, इस प्रकार कर्णसेना सागरको मथकर

निर्मथ्य मधुमथनेनेव क्षीरसमुद्रमासादिता समरविजयलक्ष्मीः। तस्य साम्प्रतं सकलमुनिजनश्लाघनीयः कथमीदृश उपशमः संवृत्तः। (अज्जउत्त, अच्चरियं अच्चरियं। जेण तधाविहणिअभुअबलविक्कमेक्कणिव्वसिच्छिदसअलराअमण्डलेण आयण्णाकिट्ठकठिणकोअण्डदण्डवहलवरिसन्तसरणिअरजज्जरिदतुरं अतरं अमालं णिरन्तरणिवडन्ततिक्खविशिखनिक्खित्तमहस्सपक्खत्थतुरङ्गमाअङ्गमहागदीहरसहस्सं भमन्तभुअदण्डमन्दराहिहादघुमन्तसअलपत्तिसलिलसङ्घादं कण्णसेणासाअरं णिम्मंहिअ महुमहणेणेव खीरसमुद्दं आसादिदा समरविजअलच्छी। तस्स संपदं सअलमुणिअणसलाणिज्जओ कहं एरिसो उवसमो संवुत्तो)

सूत्रधारः—आर्ये, विसर्गसौम्यमेव ब्राह्मं ज्योतिः कुतोऽपि कारणात्प्राप्तविकारमपि पुनः स्वभावमेवावतिष्ठते। यतः सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण चेदिपतिना समुन्मूलितं चन्द्रान्वयपार्थिवानां पृथिव्यामाधिपत्यं स्थिरीकर्त्तुमयमस्य संरम्भः। पश्य तदा—

रूपं पर्वतसमूहं यस्तीक्ष्णाग्रप्रहारवशात इतस्ततः क्षिप्तवान् इत्यर्थः। भ्रमन् भुजदण्ड एव मन्दरस्तेनाभिघातः प्रहारस्तेन घूर्णमानं सकलं पत्तिसलिलम् पादसञ्चारिसैन्यजलम् तस्य सङ्घातः समुदयो यत्र तादृशम्। भ्रमता बाहुदण्डेन यः कर्णसेनासागरस्य पदातिसैन्यरूपं सलिलसमुदयं क्षोभयामास तमित्यर्थः। कर्णसेनासागरम् कर्णाख्यनृपतिसैन्यचयम्। निर्मथ्य—विद्राव्य। मधुमथनेन—विष्णुना। समरविजयलक्ष्मीः—युद्धजयश्रीः। भगवान् विष्णुर्मन्दराचलेन समुद्रमुन्मथ्य यथालक्ष्मीं वृतवानयमपि गोपालस्तथैव कर्णसेनां विद्राव्य युद्धे जयश्रियमापदिति भावः। सकलमुनिजनश्लाघनीयः—सकलर्षिगणप्रशस्यः। उपशमः—शान्तिनिष्ठा।

निसर्गसौम्यम्—स्वभावशान्तम्। ब्राह्मम्—परब्रह्मसम्बन्धि। कुतोऽपि कारणात् कस्माच्चिदपि हेतोः प्राप्तविकारम्—विकृतम्। स्वभावम्—स्वरूपं निर्मलत्वमविकारित्वलक्षणम्। सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण—सकलराजकदर्थनसंलग्नेन। चेदिपतिना—कर्णेन। चन्द्रान्ववायपार्थिवानाम्—चन्द्रवंशिभूपानाम्। स्थिरीकर्त्तुम्—

विजयलक्ष्मीका वरण किया, जैसे विष्णुने समुद्र मथकर लक्ष्मी पाई थी। अब वही मुनिओं द्वारा प्रशंसित शान्तिके पुजारी कैसे बन गये?

सूत्रधार—स्वभावतः शान्त ब्राह्मतेज किसी कारणवश विकार प्राप्तकर पुनः अपने स्वभावका अवलम्बन कर लेता है। गोपाल भूपने भी सभी भूपोंको सतानेवाले चेदिराजसे उपद्रुत कीर्त्तिवर्माको फिरसे पदस्थ करनेके लिये ही इस प्रकारका क्रोधमय व्यापार कियाँ था। देखो—

कल्पान्तवातसंक्षोभलङ्घिताशेषभूभृतः।
स्थैर्यप्रसादमर्यादास्ता एव हि महोदधेः॥ ६॥

अपि च। भगवन्नारायणांशसंभूता भूतहिताय तथाविधाः पौरुषभूषणाः पुरुषाः क्षितिमवतीर्य निष्पादितकृत्याः पुनः शान्तिमेव प्रपद्यन्ते। यथा परशुराममेवाकलयतु भवती तावत्।

येन त्रिःसप्तकृत्वो नृपबहुलवसामांसमस्तिष्कपङ्क-

प्रतिष्ठापयितुम्। संरम्भः उग्रः प्रयासः। कर्णेनोपद्रुतं कीर्त्तिवर्माणं स्वपदे स्थापयितुमेवास्यायं प्रयत्न इति भावः। मोहेन प्रधृष्यमानस्य पुरुषस्य। स्वरूपावाप्तये एव विवेकस्य सकलप्रयास इति ध्वनिः।

कल्पान्तेति० कल्पान्ते प्रलयकाले यो वातः प्रपञ्चानिलस्तेन यः संक्षोभः उद्वेलीभवनम् तेन लङ्घिताः आत्मनि निलीनाः कृता अशेषभूभृतः। सर्वेऽपि पर्वता येन तस्य प्रलयकालप्रवलानिलसञ्चारक्षुब्धतया सकलानपि पर्वतान्स्वपयःपूरेऽन्तरयत इत्यर्थः। महोदधेः सागरस्य (प्रलयसमयापाये) ता एव प्राचीना एव स्थैर्यप्रसादमर्यादाःभवन्तीति शेषः। स्थैर्यम् निश्चलता, प्रसादः स्वच्छता, मर्यादा वेलानुल्लङ्घनम्। यथा प्रलयकाले समुद्वेलोऽपि सागरः पुनस्तत्समयापाये स्थिरः प्रसन्नो मर्यादितश्च भवति तद्वदयमपि गोपालः स्वभावसौम्यः सुहृत्कार्यवशात्तादृशीमुग्रतामङ्गीकृतवाञ्जाते तु तत्कार्ये पुनः सैवास्योपशमनिष्ठेति तात्पर्यम्॥ ६॥

भगवन्नारायणांशसंभूताः—भगवदंशोद्भवाः। भूतहिताय—विश्वकल्याणाय पौरुषभूषणाः—पराक्रमालङ्काराः। क्षीतिमवतीर्य—पृथिव्यां जन्म गृहीत्वा। निष्पादितकृत्याः—कृतकर्त्तव्याः। शान्तिमेव प्रपद्यन्ते—शान्तिनिष्ठा एव भवन्ति। परशुरामम् जमदग्निवंशालङ्कारम् भार्गवम्। आकलयतु—पश्यतु। सोऽपि भगवदवतारो भूभारोद्धाराय तास्ता घोराः क्षत्रियवधादिकाः क्रियाः कृत्वान्ते शममेव भेजे तद्वदयमपि भूपालो गोपाल इति भावः।

येनेति० येन परशुरामेण त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् नृपाणां हतक्षत्रियाणां

प्रलयकालकी हवासे समुद्रमें बाढ़ आती है जिसमें बड़े बड़े पर्वत डूब जाते हैं, परन्तु प्रलयके बाद समुद्रकी स्थिरता, प्रसन्नता तथा मर्यादा वही हो जाती है॥ ६॥

भगवान् नारायण के अंशसे संसारकी भलाईके लिये उत्पन्न पराक्रमालङ्कृत तादृश नररत्न पृथ्वी पर अवतार लेते हैं और अपना कर्त्तव्य करके फिर शान्तिमें लीन हो जाया करते हैं। तुम सर्वप्रथम परशुरामको ही देखो—

जिन्होंने इक्कीस वार राजगणके मांस-मज्जारूप तटसे घिरी क्षत्रियरुधिर नदीके

प्राग्भारेऽकारि भूरिच्युतरुधिरसरिद्वारिपूरेऽभिषेकः।
यस्य स्त्रीबालवृद्धावधिनिधनविधौ निर्दयो विश्रुतोऽसौ
राजन्योच्चांसकूटक्रथनपटुरटद्धोरधारः कुठारः ॥ ७ ॥

सोऽपि स्ववीर्यादवतार्य भारं भूमेः समुत्खाय कुलं नृपाणाम्।
प्रशान्तकोपज्वलनस्तपोभिः श्रीमान्मुनिः शाम्यति जामदग्न्यः ॥ ८॥

तथायमपि कृतकर्तव्यः संप्रति परमामुपशमनिष्ठां प्राप्तः।

बहुलः भूयान्, वसा मांसस्नेहः, मांसम्, मस्तिष्कपङ्कः ललाटरसस्तावकृतकर्दमश्च प्राग्भारे तटे यस्य तादृशे भूरि अत्यर्थम् च्युतम् चरितम् यद्रुधिरम् शोणितं तस्य सरिन्नदी तस्या वारिपूरे जलराशौ अभिषेकः स्नानतर्पणादिविधिः अकारि कृतः। यस्य असौ प्रसिद्धकर्मा कुठारः परशुः राजन्यानाम् क्षत्रियाणाम् उच्चाः उन्नताः येंऽसाः स्कन्धदेशास्तेषां कूटम् समुदयः यस्य क्रथने विपाटने पटुः कुशला रटन्ती घोरा शब्दायमाना भीषणा च धारा यस्य तादृशः स्त्रीबालवृद्धावधिनिधनविधौ आबाल-वनितासंहारकर्मणि निर्दयः अकृपः विश्रुतः प्रख्यातः। यः पितृवधामर्षरुष्टः सन्नेक-विंशतिवारान् धरां निःक्षत्रियां कृत्वा तद्धोरास्रसरिति स्नानतर्पणादिविधिं निरवर्त्त-यद्यस्य च कुठारः स्त्रीबालवृद्धानपि क्षत्रियानवधीदिति भावः। एतेनास्य परमक्रूर-कर्मत्वमुक्तम् ॥ ७ ॥

सोऽपीति० सोऽपि अत्युग्रकर्मतया प्रसिद्धोऽपि परशुरामः स्ववीर्यात् स्वपराक्रम-मास्थाय नृपाणां क्षत्रियाणां कुलं वंशं समुत्खाय उन्मूल्य भूमेः पृथिव्याः भारम् अवतार्य अपसार्य प्रशान्तकोपज्वलनः शान्तक्रोधज्वालः श्रीमान् जामदग्न्यः मुनिः मननमाश्रितः शाम्यति शमनिष्ठो भवति। तादृशात्युग्रकर्मापि परशुरामः कृतकृत्यः सन् शान्तिमाश्रितवानतश्च गोपालस्यापि कर्णे विनिपातिते शान्तिनिष्ठानास्वाभा-विकीति भावः ॥ ८ ॥

तथा—परशुरामवत्। अयम्-गोपालः। परमामुपशमनिष्ठाम्-अत्यन्तिकीं शान्तिम्।

प्रवाह में स्नानतर्पण किये, जिनका कुठार क्षत्रियोंके अंसदेशके खण्डनमें तीव्र तथा आबाल वृद्ध तकके वधमें विख्यात है ॥ ७ ॥

वह जामदग्न्य भी अपने पराक्रमसे पृथ्वीका भार दूर कर क्षत्रियोंके वधके बाद शान्त-कोप हो मुनिवृत्तिसे तपस्यामें लीन हो गये थे ॥ ८ ॥

उसी प्रकार यह भी इस समय आत्यन्तिक शान्तिमें निरत है।

येन च—

विवेकेनेव निर्जित्य कर्णं मोहमिवोर्जितम् ।
श्रीकीर्तिवर्मनृपतेर्बोधस्येवोदयः कृतः ॥ ९ ॥

(नेपथ्ये)

आः पाप शैलूषाधम, कथमस्मासु जीवत्सु स्वामिनो महामोहस्य विवेकसकाशात्पराजयमुदाहरसि ।

सूत्रधारः—(ससंभ्रमं विलोक्य) आर्ये, इतस्तावत् ।

उत्तुङ्गपीवरकुचद्वयपीडिताङ्ग-

विवेकेनेवेति० येन भूपगोपालेन ऊर्जितम् बलशालिनम् कर्णं तदाख्यं नृपम् निर्जित्य पराभूय ऊर्जितम् अत्युच्छ्रितम् मोहम् सांसारिकबन्धनं ममत्वादिकम् निर्जित्य विवेकेन विचारेण प्रबोधस्य आत्मस्वरूपज्ञानस्य उदयः प्रकाश इव श्रीकीर्त्तिवर्मनृपतेः तदाख्यस्य उदयः साम्राज्यपदारोपणात्मोन्नतिः कृतः । यथा विवेकेन महाराजेन महामोहाख्यं रिपुं विजित्य बोधस्योदयः कृतस्तथा गोपालेन कर्णाख्यं राजानं निर्जित्य कीर्त्तिवर्मनृपतेरभ्युदयः कृत इति भावः ॥ ९ ॥

अत्र कथोद्घाताख्यमामुखाङ्गं निरूपितम् , सूत्रधारोक्तिमनुसृत्य पात्रप्रवेशात् । तदुक्तम्—स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः । गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः' इति ।

शैलूषाधम—नीचनट । अस्मासु = विवेकविरोधिषु मोहपक्षपातिषु च मदमात्सर्यादिषु । जीवत्सु = प्राणान् धारयत्सु । स्वामिनः = प्रभोः । विवेकसकाशात्=विवेकतः । पराजयम् = पराभवम् । उदाहरसि = कथयसि । अस्मासु मोहपक्षगेषु मदमात्सर्यादिषु तिष्ठत्सु विवेककृतं मोहस्य पराजयं ब्रुवाणस्य तव नटाधमस्य मूर्खत्वं प्रकटमित्यर्थः ।

ससंभ्रमम्—सभयम् , भयञ्चात्राकस्मादतिप्रबलप्रतापकामदर्शनेन ।

उत्तुङ्गेति० उत्तुङ्गौ उन्नतौ पीवरौ पीनौ कुचौ स्तनौ तयोर्द्वयेन युग्मेन पीडितम्

जिस प्रकार विवेकने उद्रिक्त मोहको जीतकर प्रबोधको उदय प्रदान किया उसी तरह गोपाल भूपालने कर्ण नृपतिको जीतकर कीर्त्तिवर्माको उदय दिया ॥ ९ ॥

(नेपथ्यमें)

आः पाप, नीच नट, हमारे जीते स्वामी महामोहका विवेकसे हारना बताता है !

सूत्रधार—(घबड़ाहटसे देखकर) आर्ये, इधर तो देखो—

उत्तुङ्गस्तनद्वय द्वारा शरीरको मसलकर रोमाञ्चित बाहुओं से रति द्वारा आलिङ्गित

मालिङ्गितः पुलकितेन भुजेन रत्या।
श्रीमाञ्जगन्ति मदयन्नयनाभिरामः
कामोऽयमेति मदघूर्णितनेत्रपद्मः॥ १०॥

मद्वचनाच्चायमुपजातक्रोध इव लक्ष्यते। तदपसरणमेवास्माकमितः श्रेयः। (इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कामो रतिश्च)

आमृष्टम् अङ्गम् शरीरावयवः यत्र कर्मणि तथा पुलकितेन सात्विकभावोचितरोमाञ्चयुतेन भुजेन बाहुना करणेन रत्या कामदेवस्त्रिया आलिङ्गितः आश्लिष्टः, श्रीमान् शोभाशाली माहात्म्ययुक्तो वा, जगन्ति लोकान् मदयन् स्वैः प्रखरप्रतापैर्बाणैः कामातुराणि कुर्वन्, नयनाभिरामः नेत्रोत्सवप्रदः मदघूर्णितनेत्रपद्मः मद्यपानजनितेव विकारेण तरलदृष्टिकमलः अयम् पुरोवर्त्ती कामः एति आगच्छति। स्वस्त्रिया रत्या गाढमालिङ्ग्यमानो मदघूर्णितदृष्टिर्जगन्ति मदयंश्च कामोऽयमेतीति भावार्थः। अत्र कामोऽयमेतीत्येतावतावाक्यसमाप्तौ जातायां पुनः 'मदघूर्णितनेत्रपद्मः' इति विशेषणदानात्समाप्तपुनरात्तत्वं दोषः। वसन्ततिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति॥ १०॥

मद्वचनात् = मदुक्तेः। उपजातक्रोधः = सञ्जातकोपः। लक्ष्यते = प्रतीयते। अपसरणम् = पलायनम्। श्रेयः = हितकरम्। बलवति क्रोधशालिनि सन्निहिते पलायनादन्यन्न शरणमिति तात्पर्यम्।

निष्क्रान्तौ = निर्यातौ नटीसूत्रधारावित्यर्थः।

प्रस्तावना—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा'॥

संसारको मतवाला बना देनेवाला मस्तीमें आँखोंको घुमाता हुआ यह श्रीमान् कामदेव इधर आ रहा है॥ १०॥

हमारी बातोंसे यह रुष्ट सा मालूम पड़ रहा है, इसलिये यहाँ से हम लोगोंका हट जाना ही श्रेयस्कर है। (दोनों जाते हैं)

प्रस्तावना

(वर्णितरूपमें काम और रतिका प्रवेश)

कामः—(सक्रोधम् । आः पापेति पुनः पुनः पठित्वा) ननु रे भरताधम,

प्रभवति मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसंभवस्तावत् ।
निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम् ॥ ११ ॥

अपि च—

रम्यं हर्म्यतलं नवाः सुनयना गुञ्जद्द्विरेफा लताः
प्रोन्मीलन्नवमल्लिकासुरभयो वाताः सचन्द्राः क्षपाः ।
यद्येतानि जयन्ति हन्त परितः शास्त्राण्यमोघानि मे

इति लक्षणं तस्याः । तस्याश्चात्रावलगिताख्यो भेदः, स च सुधीभिः सङ्गमनीयलक्षणः । ततः सूत्रधारविनिर्गमानन्तरम् । अत्र यद्यपि मोहामात्यानां मध्ये यस्य कस्यापि प्रवेशो निबन्धयितुं शक्यस्तथापि कामस्य मनःपुत्रतया प्राधान्येन तत्प्रवेश एवोक्त इति बोध्यम् । यथानिर्दिष्टः = पूर्वोक्तावस्थः ।

भरताधम = अतिनीचनट ।

प्रभवतीति० विदुषाम् शास्त्राध्ययनोपार्जितज्ञानानाम् अपि मनसि हृदये शास्त्रसंभवः शास्त्रोक्तज्ञानजनितः विवेकः सदसन्निर्धारणसामर्थ्यम् तावदेव तदवध्येव प्रभवति स्वं प्रभावं प्रकटयति यावत् इन्दीवराक्षीणाम् कमलनयनानाम् दृष्टिविशिखाः नेत्रबाणाः न निपतन्ति तेषामुपरि नापतन्तीति यावत् । अयमाशयः—शास्त्राध्ययनासादितज्ञाना अपि विवेकं तावदेव पालयितुं प्रभूभवन्ति यावत्कामिनीभिर्न ह्रियन्ते जाते तु तद्दृग्गोचरत्वे विवेको भ्रश्यत इति । उक्तश्चायमेवार्थोऽपरत्र—'सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति' । आर्या वृत्तम् ॥ ११ ॥

रम्यमिति० रम्यम् हृदयहारि हर्म्यतलम् प्रासादपृष्ठम् , नवाः आरूढयौवनाः सुनयनाः सुन्दर्यः, गुञ्जद्द्विरेफाः शब्दायमानभ्रमराः लताः वल्लर्यः, प्रोन्मीलन्त्यः नवमल्लिकाः पुष्पप्रभेदास्ताभिः सुरभयः सञ्जातगन्धाः वाताः वायवः, सचन्द्राः चन्द्रधवलाः क्षपाः रात्रयः, एतानि प्रागुक्तानि हर्म्यतलप्रभृतीनि अमोघानि

काम—(क्रोधसे 'आः पाप' इत्यादिको दुहराता है) अरे रे नटाधम,

विद्वानोंके भी हृदयमें शास्त्रोत्पन्न विवेक तभी तक अपना प्रभाव रखते हैं जब तक कमलनयनाओं के दृष्टिबाण उनके ऊपर नहीं पड़ते हैं ॥ ११ ॥

और—सुन्दर भवन, नई नवेली सुन्दरियाँ, भ्रमरमुखरित लताएं, नवविकसित मल्लिकासे सुगन्धित लतायें, चन्द्रकिरणसे उद्भासित रातें, यदि यह हमारे अमोघ अस्त्र

तद्भोः कीदृगसौ विवेकविभवः कीदृक्प्रबोधोदयः ॥ १२ ॥

रतिः—आर्यपुत्र, गुरुः खलु महाराजमहामोहस्य प्रतिपक्षो विवेक इति तर्कयामि। (अज्जउत्त, गुरुओ क्खु महाराअमहामोहस्स पडिवक्खो विवेओ त्ति तक्केमि)

कामः—प्रिये, कुतस्तवेदं स्त्रीस्वभावसुलभं विवेकाद्भयमुत्पन्नम्। पश्य—

अपि यदि विशिखाः शरासनं वा कुसुममयं ससुरासुरं तथापि।
मम जगदखिलं वरोरु नाज्ञामिदमतिलङ्घ्य धृतिं मुहूर्तमेति ॥ १३ ॥

कदापि न व्यर्थतांगतानि मे मम कामस्य शस्त्राणि विजयसाधनानि प्रहरणानि यदि परितः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते हन्त भोः ! अहह ! तत् तदाऽसौ विवेकविभावः विवेकस्य प्रभावः कीदृक् कथंभूतः, प्रबोधोदयः ज्ञानोदयः (च) कीदृक् ? अयमर्थः—उद्दीपनसाधनतया प्रसिद्धानि हर्म्यंयुवतिजनलताभ्रमरवसुरभिवातचन्द्रातपदीनि मदस्त्राणि यदि सन्ति तदा का कथा विवेकविभवस्य का वा कथा प्रबोधोदयस्य, नैकमपि तयोः सेद्धुमर्हति, सर्वविजयिमदीयप्रभावैः सर्वेषामेव कामपरतन्त्रताया अवश्यंभावित्वात्तत्पथानुसरणाप्रवृत्तौ विवेकविभवप्रबोधदेययोर्दूरापेतत्वादिति। 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। लक्षणं तस्यान्यत्रोक्तम् ॥ १२ ॥

गुरुः—महान्। प्रतिपक्षः = विपक्षः, शत्रुरित्यर्थः। तर्कयामि = ध्यायामि।

स्त्रीस्वभावसुलभ्=नारीजनप्रकृतिलभ्यम्। नार्यो ह्यल्पेनैव कारणेन महाभीतिमुत्प्रेक्ष्य चञ्चला भवन्तीति भावः।

अपीति० हे वरोरु सुन्दरजङ्घे, यदि अपि यदपि मम विशिखाः बाणाः (कुसुममयाः) शरासनम् धनुः वा कुसुममयम् पुष्पस्वरूपम् तथापि ससुरासुरम् देवदानवसहितम् इदम् अखिलम् समग्रम् जगत् संसारः मम आज्ञाम् आदेशम् अतिलङ्घ्य अतिक्रम्य मुहूर्त्तम् क्षणम् अपि धृतिम् धैर्यम् स्वरूपावस्थानम् न एति प्राप्नोति। अयमाशयः—अहमेभिः पौष्पैर्बाणैः कुसुममयेन चानेनैव धनुषा निखिलस्यापि देव-

---

वर्त्तमान ही है तब विवेकका विभव कैसा ? और प्रबोधका उदय कैसा ॥ १२ ॥

रति—आर्यपुत्र, महाराज मोहका विपक्षीविवेक बड़ा भारी दुश्मन है ऐसा प्रतीत होता है।

काम—प्रिये ! क्यों तुझे स्त्रीस्वभावके कारण विवेक का भय हो गया ? देखो—

यद्यपि मेरे बाण और धनुष फूल के ही हैं, फिर भी यह सारा संसार मेरी आज्ञाका एक क्षण के लिये भी उल्लङ्घन करके नहीं ठहर सकता है ॥ १३ ॥

तथाहि—

अहल्यायै जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोऽयासीदभजत गुरोरिन्दुरवलाम् ।
इति प्रायः को वा न पदमपथेऽकार्यत मया
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु ॥ १४ ॥

रतिः—आर्यपुत्र, एवं नैतत् । तथापि महासहायसंपन्नः शङ्कितव्यो-

दानवोपेतस्य विश्वस्योपरि स्वामाज्ञां प्रचारयितुं क्षमस्तदस्यां स्थितौ मोहमहाराजस्य विजयं प्रत्याशङ्का तव नितान्तनिर्मूला स्त्रीप्रकृतिमात्रप्रभवेति । अत्र 'विशिखाः' इत्यनेन भोगे कर्त्तव्ये 'कुसुममयम्' इति पदं विभक्तिलिङ्गयोर्विपरिणमनीयम् स्पष्टमन्यत् ॥ १३ ॥

अहल्यायै इति० सुरपतिः इन्द्रः अहल्यायै तदाख्यायै गौतममुनिपत्न्यै जारः प्रच्छन्नकामुकः अभूत्, प्रजानाथः ब्रह्मा आत्मतनयाम् शतरूपाम् अयासीत् कामेन मिथुनीभावंगतः । इन्दुः चन्द्रः गुरोः बृहस्पतेः अबलाम् स्त्रियम् अभजत सिषेवे । इति एवमुक्तप्रकारेण प्रायः कः मया अपथे अमार्गे पदम् न अकार्यत कुमार्गे न नीतः, सर्वोऽपि कुमार्गं गमित इत्यर्थः । भुवनोन्माथविधिषु संसारकदर्थनकर्मणि मद्बाणानाम् मम सायकानाम् क इव श्रमः आयासः ? अनायासमेव मम बाणा भुवमाकुलयितुं क्षमा यतोऽनेन प्रायः सर्वेऽपि कुमार्गं गमितास्तथाहि देवेन्द्रोऽहल्याजारोऽभूद्ब्रह्मा स्वां दुहितरं शतरूपामकामयत शशाङ्कश्च गुरुस्त्रियं तारा मदूपयत्तदिह भुवनोन्माथे दक्षा मम बाणा इत्यस्ति मम पराक्रमप्रकर्षस्तन्मा मोह महाराजस्य पराभवं चिन्तयेति भावः । अत्राहल्यायै इति चतुर्थी श्रुत्यनुकरणेन । 'अपथे' इत्यत्र 'पथोविभाषा' इति समासान्तोऽप् । प्रसिद्धं च ब्रह्मणः स्वतनयाकामुकत्वं तथा चोक्तं पुष्पदन्तेनापि महिम्नः स्तोत्रे—'प्रजानाथं नाथप्रसभमभिकं स्वां दुहितरम्' इति । 'को वा न पदमपथेऽकार्यत' इति वाक्ये क इति कर्म 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति अणौ कर्त्तुर्णौ कर्मत्वानुशासनात् । 'अपन्थास्त्वपथं तुल्ये' इत्यमरः । शिखरिणीवृत्तम्—'रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ १४ ॥

'एवं नेदम्' इति शौरसेन्याः 'एवं नैतत्' इति संस्कृतम् । भवदुक्तं न मिथ्येति

क्योंकि—इन्द्र को अहल्या जार बनना पड़ा; प्रजापति अपनी कन्या पर आसक्त हुए, चन्द्रमा ने बृहस्पति की स्त्री को दूषित किया, इस तरह प्रायः सभी हमारे बाणों से कुमार्ग पर लाये गये हैं, इस संसार को मथ देने में हमारे बाणों को मिहनत ही कितनी है ? ॥ १४ ॥

रति—आपका कहना ठीक है, फिर भी सहायसम्पन्न शत्रु से डरना चाहिये, सुनती

ऽरातिः। यतोऽस्य यमनियमप्रमुखा अमात्या महाबलाः श्रूयन्ते। (अज्ज-उत्त, एव्वं णेदं। तहवि महासहाअसंपण्णो संकिदव्वो अरादी। जदो अस्स जमणि-अमप्पमुहा अमच्चा महाबला सुणीअन्दि)

कामः—प्रिये, यानेतान्राज्ञो विवेकस्य बलवतो यमादीनष्टावमा-त्यान्पश्यसि त एते नियतमस्माभिरभियुक्तमात्रा द्रागेव विघटिष्यन्ते। तथाहि—

अहिंसा कैव कोपस्य ब्रह्मचर्यादयो मम।
लोभस्य पुरतः केऽमी सत्याऽस्तेयापरिग्रहाः॥ १५॥

विवक्षा। महासहायसम्पन्नः—बलवता सहायकेन युक्तः। अरातिः—शत्रुः, विवेकरूपः। यमनियमप्रमुखाः—यमनियमप्रभृतयः। अष्टौ योगोक्ता यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारध्यानधारणासमाधयोऽत्र प्रभृतिपदग्राह्याः। अमात्याः—मन्त्रिणः। महा-बलाः—समधिकसामर्थ्याः।

बलवतः—समधिकसामर्थ्ययुक्तान्। पश्यसि—उत्प्रेक्षसे। नियतम्—निश्चयेन। अभियुक्तमात्राः—अभियुक्ता एव केवलमाक्रान्ता एव। द्रागेव—झटित्येव। विघटयि-ष्यन्ते—भेदं प्राप्स्यन्ति।

अहिंसेति॰ हिंसा परप्राणवियोजनम्, तदभावो हिंसा सा कोपस्य का क्रोधस्य पुरः कीदृशी? न कथमपि अहिंसा कोपस्य पुरोवर्त्तिनी भवितुमर्हेत्यर्थः। मम कामस्य ब्रह्मचर्यादयः के? नेमेऽपि मम पुरः स्थातुं शक्ता इत्याशयः। लोभस्य परद्रव्या-पहारेच्छारूपस्य पुरतः अग्रे अमी सत्यास्तेयापरिग्रहाः सत्याचौर्यपरिग्रहराहित्या-नि के कीदृशाः? विवेकस्य सहायत्वेन यानहिंसाब्रह्मचर्यसत्यापरिग्रहान् यमभेदान् भवती संभावयति तेष्वसिंहा मद्वर्गीयस्य कोपस्य, ब्रह्मचर्यादयो मम, सत्यास्तेया-परिग्रहाश्च लोभस्य पुरः स्थातुं न क्षमास्तदेवं महासहायत्वेनाभिमतो विवेको विपरीत एव जायत इति भावः॥ १५॥

हूँ विवेक के मन्त्री यम नियम आदि बड़े बलवान् हैं।

काम—प्रिये, विवेकके जिन आठ यमादि मन्त्रियोंको तुम बलशाली बता रही हो, निश्चय जानो, वे सभी हमारे द्वारा आक्रमण होने पर तुरत विघटित हो जायेंगे। क्योंकि—

कोपके सामने अहिंसा क्या चीज है? हमारे आगे ब्रह्मचर्य आदि क्या बात? और लोभके आगे सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रहकी कौन कथा है?॥ १५॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयस्तु निर्विकारचित्तैकसाध्यत्वादीषत्करसमुन्मूलना एव। अपि च स्त्रिय एवामीषां कृत्यास्तेनैतेऽस्मद्गोचरा एव वर्तन्ते। यतः—

सन्तु विलोकनभाषणविलासपरिहासकेलिपरिरम्भाः।
स्मरणमपि कामिनीनामलमिह मनसो विकाराय॥ १९॥

यमः कायचेष्टानिरोधः नियमो मनश्चेष्टानिरोधः आसनं धर्माधर्मक्षेपणम्। यद्वा वेदान्तवाक्यविचारोद्योग आसनम्। अथवा सिद्धासनपद्मासनादिकमत्रासनं विवक्षितम्। प्राणादीनां वायूनां मनसा सह संयमनं प्राणायामः। मनसो विषयादिभ्यो निवृत्तिः प्रत्याहारः। आत्मचिन्तनं ध्यानम्। आत्मचिन्तनस्यैव कञ्चित्कालमनुवृत्तिर्धारणम्। समाधिः सम्यगाध्यानम्। (असौ) निर्विकारचित्तैकसाध्यत्वात्। अविकृतचित्तसाध्यत्वात्। ईषत्करसमुन्मूलनाः। सुखमुन्मूलयितुं शक्याः। यमादीनामेषां सिद्धौ विकाररहितं चित्तमपेक्षितं चित्तविकारश्च मया सुकरस्तद्यमाद्युन्मूलनं मया नितान्तसुकरमिति भावः। अमीषाम् यमादीनाम्। कृत्याः डाकिन्यः। डाकिन्यो हि स्वीयमन्त्रतन्त्रप्रभावेण बालान्यूनश्च संहरन्ति तथैव कामिन्यश्चित्तविकारोत्पादनविधया यमान् विपादयन्तीति तासां तान्प्रति डाकिनीत्वेन रूपणम्। अस्मद्गोचराः—अस्मद्वशगाः। कामिनीनां मदस्त्रभूतत्वेन यमादीनां शक्यमुन्मूलनं मया कर्त्तुमिति भावः।

सन्त्विति० विलोकनम् नायकयोरन्योन्यदृष्टिमेलनम्, भाषणम् अन्योन्यसँल्लापः, विलासः नायकस्य पुरस्ताल्लीलाप्रदर्शनम्, परिहासश्चतुरनर्मोक्तिः, केलिर्जलक्रीडादिः, परिरम्भः अन्योन्यालिङ्गनम्, अमी सन्तु पृथक् तिष्ठन्तु। कामिनीनां वनितानां स्मरणम् अपि इह शान्तप्रकृतिके पुरुषे मनसः चित्तस्य विकारायास्थैर्याय अलम् समर्थम्। दूरे तिष्ठन्तु विलोकनादयः केवलं कामिनीस्मरणेनैव पुरुषाणां चित्तानि व्याक्षिप्यन्ते तदत्र यमादीनां चित्तस्थैर्यमात्रावस्थायिनामुन्मूलनं नितान्तसरलमिति भावः आर्याभेदो वृत्तम्॥ १९॥

निर्विकार चित्तमें उत्पन्न होनेवाले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि आसानीसे नष्ट किये जा सकते हैं। जब स्त्रियां ही इनका संहार कर सकती हैं तब तो ये हमारे हाथमें ही हैं। क्योंकि—

दर्शन, बातें करना, खेलकूद, दिल्लगी, क्रीड़ा, आलिङ्गन तो दूर रहें, स्त्रियों का स्मरण भी मनको विकृत करनेमें पर्याप्त होता है॥ १९॥

विशेषतश्चैते मदमात्सर्यदम्भलोभादिभिरस्मत्स्वामिवल्लभैरभियुज्यमाना नरपतिमन्त्रिणोऽधर्ममेवाश्रयिष्यन्ते ।

रतिः—आर्यपुत्र, श्रुतं मया युष्माकं विवेकशमदमप्रभृतीनां चैकमुत्पत्तिस्थानमिति । (अज्जउत्त, सुदं मए तुम्हाणं विवेअसमदमप्पहुदीणं च एक्कं उप्पत्तित्थाणं ति)

कामः—आः प्रिये, किमुच्यत एकमुत्पत्तिस्थानमिति । ननु जनक एवास्माकमभिन्नः । तथाहि—

संभूतः प्रथममहेश्वरस्य सङ्गान्मायायां मन इति विश्रुतस्तनूजः ।
त्रैलोक्यं सकलमिदं विसृज्य भूयस्तेनाथो जनितमिदं कुलद्वयं नः ॥१७॥

विशेषतः प्रधानभावेन । एते यमादयः मदः गर्वः, मात्सर्यम् परगुणासहिष्णुत्वम्, दम्भः असद्गुणाभिमानः, लोभः परद्रव्यस्पृहा । आदिपदमत्र प्रमादालस्यादिसंग्राहकम् । अस्मत्स्वामिवल्लभैः—अस्मत्स्वामिनः मोहस्य वल्लभैः प्रियतमैः । अभियुज्यमानाः आक्रम्यमाणाः प्रतिद्वन्द्विभावेनाहूयमाना इत्यर्थः । नरपतिमन्त्रिणः विवेकसचिवाः यमादय इत्यर्थः । अधर्मम् मोहपक्षम् । आश्रयिष्यन्ते भजिष्यन्ति ।

युष्माकम्-कामादीनाम् विवेकादीनां भवतां चोत्पत्तिस्थानं गोत्रं कुलमेकमेवेति मया श्रुतमित्यर्थः । कामस्य विवेकस्य च मनोजन्यतया समानकुलत्वमिति मनसि कृत्वा प्रश्नोऽयम् ।

जनकः = पिता मनोरूपः । अभिन्नः एकः । अस्माकं विवेकादिभिः सह सगोत्रत्वं सकुलत्वं वास्तीति किं वक्तव्यमेते हि विवेकादयो वयं चैकस्यैव मनसः सुताःस्मस्तत्र समानजन्यतायां समर्थितायां सगोत्रताप्रश्नो नोदयत इत्याशयः ।

सम्भूत इति० प्रथमम् आदौ महेश्वरस्य ब्रह्मणः सङ्गात् सम्बन्धात् मायायाम् अनाद्यविद्यायाम् 'मनः' इति विश्रुतः प्रसिद्धः तनूजः पुत्रः सम्भूतः जातः तेन मनसा इदं प्रत्यक्षदृश्यम् सकलम् स्थावरजङ्गमात्मकम् त्रैलोक्यम् विसृज्य विशेषतः सृष्ट्वा

खास करके हमारे स्वामीके भक्त मद, मात्सर्य, दाम और लोभ आदिसे सामना होने पर विवेकके मन्त्रिगण अधर्मकी ही शरण लेंगे।

रति—आर्यपुत्र, हमने सुना है आपका तथा विवेक आदिका कुल एक ही है।

काम—हाँ प्रिये, एक ही कुल है इस सम्बन्धमें क्या कहना है? हमलोगोंके पिता ही एक हैं। क्योंकि—

परब्रह्मका मायाके साथ संसर्ग होनेसे मन नामका एक ख्यात पराक्रम पुत्र उत्पन्न हुआ, उसीने इस त्रैलोक्यके साथ हमारे कुल तथा विवेकके वंशको जन्म दिया ॥ १७ ॥

तस्य च प्रवृत्तनिवृत्ती द्वे धर्मपत्न्यौ। तयोः प्रवृत्त्यां समुत्पन्नं महामोहप्रधानमेकं कुलम्। निवृत्त्यां च द्वितीयं विवेकप्रधानमिति।

रतिः—आर्यपुत्र, यद्येवं तत्किं निमित्तं युष्माकं सोदराणामपि परस्परमेतादृशं वैरम्। (अज्जउत्त, जइ एव्वं ता किं णिमित्तं तुम्हाणं सोअराणंवि परोप्परं एआरिसं वैरम्)

कामः—प्रिये,

एकामिषप्रभवमेव सहोदराणा-
मुज्जृम्भते जगति वैरमिति प्रसिद्धम्।
पृथ्वीनिमित्तमभवत्कुरुपाण्डवानां

अथो भूयस्तेन मनसो नः कामविवेकादीनाम् कुलद्वयम् मोहप्रधानमेकं विवेकप्रधानञ्चापरम् इदम् जनितम् उत्पादितम्। परमब्रह्मणो मायासंसर्गे मनोऽजायत तेन निखिलमिदमुच्चावचभेदभिन्नं विश्वं निर्माय विवेकमोहप्रधानं कुलद्वयमजन्यतेत्यर्थः। उक्तश्चायमर्थः श्रुतौ—'तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीन्मनसस्तन्महिम्नाऽजायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इति॥ अत्र प्रथममहेश्वरपदेन ब्रह्मैव विवक्षितं तस्यैवांशतो मायासंसर्गे सर्गप्रवृत्तेः। विशेषतः परिशिष्टेऽन्यत्र च द्रष्टव्यम्॥ १७॥

तस्य मनसः। प्रवृत्तिः–औदासीन्यप्रच्युतिः। निवृत्तिः=औदासीन्यम्। धर्मपत्न्यौ स्त्रियौ। प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्महेश्वरभोगसाधनत्वेनाप्रेततया धर्मपत्नीत्वेन रूपकम्। तयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्मध्ये।

यद्येवम्—यदि भवदुक्त एव विवेकादिभिः सह भवतां संबन्धस्तदा। सोदराणाम्–समानपितृजातत्वेन सादेरत्वव्यपदेशः। परस्परमन्योन्यम्। वैरम् विरोधः।

एकामिषेति० सहोदराणाम् समानवंशजातानाम् वैरम् विरोधः एकामिषप्रभवम् समानभोग्यवस्तुजनितम् एव जगति संसारे समुज्जृम्भते प्रथते इति प्रसिद्धम् प्रख्यातम्। तत्र दृष्टान्तमाह—पृथ्वीति० हि तथा भुवनत्रयकृत् संसारत्रयजनकस्तथा तीव्रः अतिदारुणः। कुरुपाण्डवानां विरोधः पृथ्वीनिमित्तम् साम्राज्यार्थम्

मनकी दो पत्नियाँ हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। उनमें प्रवृत्तिसे मोहकुलका और निवृत्तिसे विवेककुलका जन्म हुआ है।

रति—आर्यपुत्र, जब ऐसी बात है तब आपलोगोंका सोदरोंके प्रति ऐसा वैर क्यों है?

काम—प्रिये, सहोदरोंमें समान वस्तुकी अभिलाषासे ही वैर बढ़ता है यह प्रसिद्ध ही है। कुरु और पाण्डवोंमें संसारको समाप्तकर देने वाला वह उग्र विरोध आखिर पृथ्वीके

तीव्रस्तथा हि भुवनत्रयकृद्विरोधः ॥ १८ ॥

सर्वमेवैतज्जगदस्माकं पित्रोपार्जितं तच्चास्माभिस्तातवल्लभतया सर्वमेवाक्रान्तम्। तेषां तु विरलः प्रचारः। तेनैते पापाः सांप्रतं पितरमस्मांश्चोन्मूलयितुमुद्यताः।

रतिः—शान्तं पापम्। आर्यपुत्र, किं तादृशं पापं विद्वेषणमात्रेण तैरारब्धम्। भवतु। अस्योपायः को वा मन्त्रितः? (सान्तं पावं। अज्जउत्त, किं एरिसं पावं विद्देसनमत्तेण तेहिं आरद्धं। होदु। अस्स उवाओ कोवि मन्तिदो ?)

अभवत्। सवंश्यानां विरोधः सदैव समानवस्तुलोभमूलको भवति महाभारतप्रवर्त्तकः कुरुपाण्डवयोर्विरोधो हि पृथ्वीलोभनिमित्तक एवाभवदतोऽस्माकमपि विरोधस्तथैवेति भावः। आमिषपदमत्र लक्षणया भोग्यवस्तुपरम्। वसन्ततिलकं वृत्तं, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १८ ॥

एकामिषाभिलाषमूलकं वैरमस्माकं विवेकादिभिरिति स्वोक्तं समर्थयति—सर्वमेवेति॰ अस्माकम्–मोहादिकानाम् विवेकादीनाञ्च। पित्रा जनकेन मनसा। उपार्जितम्–अर्जितम्, मनसा हि जनितं जगत्तदुपार्जितत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। तच्च जगत्। अस्माभिः मोहपक्षीयैः। तातवल्लभतया–पितृस्नेहितया। सर्वम्–अविभक्तमखिलम्। आक्रान्तम्–वशीकृतम्। तेषाम्–विवेकादीनाम्। विरलः क्वाचित्कः। प्रचारः प्रसरणम्। तेन स्वस्य देशाधिकारराहित्येन प्रचारवैरल्येन च। एते विवेकप्रभृतयः। पापाः पापकर्माणः। पितरम् जनकम् मनोरूपम्। अस्मान् मोहपक्षीयाँश्च। उन्मूलयितुम् उच्छेत्तुम्। उद्युक्ता प्रवृत्ताः। लोकेऽपि सपत्नीद्वयसन्ततिमध्ये तातवल्लभदलं धनमधिकुरुतेऽन्यच्च दलं ततो वञ्चितं तिष्ठति तच्च तेन दुःखेन पीडितं सदुपायान् कृत्वा पितरं भ्रातॄँश्च वैमात्रेयानुन्मूलयितुं यतत इति प्रसिद्धम्।

'शान्तं पापम्' इति श्रुतस्य वृत्तस्य शब्दस्य वा समधिकनिन्द्यताद्योतनाय प्रयुज्यते। विद्वेषणमात्रेण केवलेन द्वेषेण। एतादृशम्–पितुर्भ्रातॄणां चोन्मूलनरूपम्। आरब्धम्–कर्त्तुमभिलष्य व्यापृतम्। मन्त्रितः–चिन्तितः।

लिये ही तो हुआ था ॥ १८ ॥

इस सारी दुनियाँको हमारे पिता मनने ही आर्जित किया, पिताके लाड़ले होनेके कारण उस पर हम अधिकार किये हैं। उनलोगोंको कम स्थान मिला है। इसलिये यह पापी विवेक आदि हमलोगोंको और पिताजीको उखाड़ फेंकना चाहते हैं।

रति—पाप दूर हो, आर्यपुत्र, क्या विरोध होने भरसे उनलोगोंने इतना भारी पाप करना चाहा है। अस्तु, आप लोगोंने इसका क्या उपाय सोचा है?

कामः—प्रिये, अस्त्यत्र किंचिन्निगूढं बीजम् ।

रतिः—आर्यपुत्र, तत्किं नोद्घाटयते ? (अज्जउत्त, ता किं ण उग्घाडीअदि ?)

कामः—प्रिये, भवती स्त्रीस्वभावाद्भीरुरिति न दारुणकर्म पापीयसामुदाह्रियते ।

रतिः—(सभयम्) आर्यपुत्र, कीदृशं तत् ? (अज्जउत्त, केरिसं तम् ?)

कामः—प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम् । हताशानामाशामात्रमेवैतत् । अस्ति किलैषा किंवदन्ती । अत्रास्माकं कुले कालरात्रिकल्पा विद्यानाम राक्षसी समुत्पत्स्यत इति ।

रतिः—(सभयम्) हा धिक् हा धिक् । कथमस्माकं कुले राक्षसीति वेपते मे हृदयम् । (हद्धी हद्धी । कधं अम्हाणं कुले रक्खसीति वेवदि मे हिअअम्)

निगूढम्–प्रच्छन्नम् । बीजम्–अनर्थकारणम् ।

उद्घाटयते–प्रकाशीक्रियते ।

स्त्रीस्वभावात्–नारीत्वात् । भीरुः–भयशीला । दारुणकर्म–भीषणचेष्टा । पापीयसाम्–अतिपापाचाराणाम् । पापाचारा हि विवेकादयो भीषणं कर्म चिकीर्षन्ति तेषां तत्कर्म तव समक्षं न प्रकाश्यते यतस्त्वं स्त्रीत्वाद्भीता भविष्यसीति तात्पर्यम् ।

हताशानाम्–निन्द्यानामभाग्यानां वा । आशामात्रम्–केवलो मनोरथः । किंवदन्ती–प्रवादः । कालरात्रिकल्पा–प्रलयनिशासमाना । समुत्पत्स्यते–जास्यते । विद्यायाः प्रलयरात्रिकल्पता सर्वमोहपक्षीयसंहारकरत्वेनोक्ता वेद्या । राक्षसी त्वं च तस्याः स्वरूपतो भयप्रदत्वेन मोहबन्धुभिरास्थीयते ।

वेपते–कम्पते ।

काम—प्रिये, इसमें कुछ रहस्य बात है ।

रति—आर्यपुत्र, फिर आप बताते क्यों नहीं ?

काम—प्रिये, स्त्रीस्वभावके कारण तुम भीरु हो, अतः उन पापिओंके भयङ्कर कर्म तुम्हारे सामने नहीं बताता हूं ।

रति—(भयसे) आर्यपुत्र, सो क्या ?

काम—प्रिये, डरो मत, डरो मत ! उन अभागों की यह आशाभर है । ऐसी अफवाह है कि हमारे कुलमें कालरात्रितुल्य विद्या नामकी राक्षसी पैदा होगी ।

रति—(भयसे) हा धिक् ! हा धिक् ! क्यों हमारे कुलमें राक्षसी !! इस बातसे मेरा हृदय काँप रहा है ।

कामः—प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम् । किंवदन्तीमात्रमेवैतत् ।

रतिः—अथ तया राक्षस्या किं कर्तव्यम् । (अध ताए रक्खसीए किं कादव्वम् ।)

कामः—प्रिये, अस्ति किलैषा प्राजापत्या सरस्वती—

पुंसः सङ्गसमुज्झितस्य गृहिणी मायेति तेनाप्यसा-
वस्पृष्टापि मनः प्रसूय तनयं लोकानसूत क्रमात् ।
तस्मादेव जनिष्यते पुनरसौ विद्येति कन्या यया
तातस्ते च सहोदराश्च जननी सर्वं च भक्ष्यं कुलम् ॥ १९ ॥

किंवदन्तीमात्रम्-प्रवादमात्रम्, न तु यथार्थभावेन तदुदयो जातोऽतो भयं त्यजेति भावः ।

तया-विद्याऽभिधानया ।

एषा-अग्रेऽभिधीयमाना । प्राजापत्या-ब्रह्मोक्ता । सरस्वती-वाणी ।

पुंस इति० सङ्गसमुज्जितस्य 'असङ्गो ह्यय पुरुषः' इति श्रुत्युक्तदिशा सङ्गरहितस्य पुंसः पुरुषस्य गृहिणी भोगसाधनत्वेन भार्या इति प्रसिद्धा, तेन पुंसा अस्पृष्टा अनालिङ्गितापि (ईक्षणमात्रकृतार्था) असौ प्रकृतिः मनः अन्तःकरणं तनयं पुत्रं प्रसूय उत्पाद्य क्रमात् क्रमवशेन लोकान् भूर्भुवःस्वरादीन् असूत अजनयत् । पुनः अनन्तरम् असौ विद्येति प्रसिद्धा कन्या पुत्री तस्मात् मनस एव जनिष्यते उत्पत्स्यते यया विद्यया तातः स्वोत्पादकं मनः ते प्रसिद्धाः सहोदराः बन्धवः च जननी माता माया (किं बहुना) सर्वम् निरवशेषम् । कुलम् (कुलान्तःपातित्वात् आत्माऽपि) भक्ष्यम् समाप्यम् , अस्पृष्टापि पुंसा कथं जनयतीति प्रश्नस्य—चुम्बक-पाषाणेनासम्बद्धाऽपि लोहशलाका चुम्बकं यान्तमनुयातीति दृष्टं लोके तथैवेयम-स्पृष्टायीक्षणमात्रेण जनयतीत्युत्तरं बोध्यम् । असङ्गस्य पुरुषस्य तेनास्पृष्टा माया-नाम गृहिणी मनः पुत्रमसूत तदनन्तरं च सकलं विश्वमजनि, सम्प्रति मनसः सकाशात् विद्यां नाम कन्यां जनयिष्यति यया विद्यया पितुः सहोदराणां जनन्याः

काम—प्रिये, मत डरो, यह तो अफवाह ही भर है ।

रति—आर्यपुत्र, वह राक्षसी क्या करेगी ?

काम—ऐसी प्रजापत्य सरस्वती है कि—

निःसङ्ग पुरुषकी पत्नी माया है, उसने पुरुषस्पर्श के विना ही मन नामक पुत्रको जन्म देकर इस संसारको आकाशादि क्रमसे उत्पन्न किया, उसीसे विद्या नामक कन्या जन्म ले गी जो पिता, सहोदर, माता तथा पूरे कुलको खा ले गी ॥ १९ ॥

रतिः—(सत्रासोत्कम्पम्) आर्यपुत्र, परित्राहि परित्राहि । (अज्जउत्त, परित्ताहि परित्ताहि)

(इति भर्तारमालिङ्गति)

कामः—(स्पर्शसुखमभिनीय । स्वगतम्)

स्फुरद्रोमोद्भेदस्तरलतरताराकुलदृशो
भयोत्कम्पोत्तुङ्गस्तनयुगभरासङ्गसुभगः ।
अधीराक्ष्या गुञ्जन्मणिवलयदोर्वल्लिरचितः
परीरम्भो मोदं जनयति च संमोहयति च ॥ २० ॥

समस्तस्य कुलस्य तदन्तःपातितया स्वस्य च विनाशः करिष्यते विद्योदये आविद्यकानां सर्वेषामेव पदार्थानां नाशस्यावश्यंभावादिति भावः । 'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्युपक्रमे मूलाविद्यातो मनो जन्म मनसो विद्याजन्म, ततो जगद्भङ्ग इति मुण्डकोक्तोऽर्थोऽत्र सङ्गृहीतो वेद्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

सत्रासोत्कम्पम्—त्रासोत्कम्पौ च रतेः सकुलसंहारकविद्याजन्मश्रवणेन ।

स्फुरदिति० तरलतरा अतिचपला तारा अक्षणः कनीनिका तया आकुला अतिव्यग्रा दृक् नयनं यस्या सा तस्याः चञ्चलकनीनिकाऽऽकुलनयनायाः अधीराक्ष्याः पारिप्लवनेत्रायाः स्फुरद्रोमोद्भेदः समुद्यद्रोमाञ्चः भयेन आन्तरभीत्या उत्कम्पौ उदितवेपथू यौ उत्तुङ्गौ अत्युच्चौ स्तनौ तयोर्युगं युगलं तस्य भरः भारस्तस्यासक्त्या आक्रान्त्या सुभगः रमणीयः गुञ्जन्ती मणिवलये माणिक्यविरचिते करपरिधेये भूषणे ययोस्तादृश्यौ ये दोर्वल्ली हस्तलते ताभ्यां रचितः कृतः परीरम्भः ससम्भ्रमालिङ्गनम् मोदं हर्षं जनयति सम्मोहयति विषयान्तरस्मरणवैधुर्यं च करोति । रोमाञ्चोदययुतः समयतया कम्पमानकुचयुगभारासक्तिकृतसौभगशाली । चलकनीनिकाकुलनयनाया अधीराक्ष्याः (अस्या मम प्रियायाः) अयं परीरम्भः मम हर्षं प्रथयति विषयान्तरवैमुख्यं चापादयतीत्याशयः । अत्राधीराक्ष्या इति विशेषण-

रति—(भयसे कांपकर) आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो । (स्वामीसे लिपट जाती है)

काम—(स्पर्शसुखका अनुभव करके) (स्वगत)

भयसे तरलाक्षी प्रियतमाका यह रोमाञ्चित, भयकम्पित स्तनके सर्वाङ्ग आलिङ्गनसे सुभग, सशब्द कङ्कण भुजाओंद्वारा विहित यह आलिङ्गन आनंद भी देता है और हृदयको सम्मोहित भी कर रहा है ॥ २० ॥

(प्रकाशम् । दृढं परिष्वज्य) प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

अस्मासु जीवत्सु कुतो विद्योत्पत्तिः ।

रतिः—अथ किं तस्या एव राक्षस्या उत्पत्तिर्युष्माकं प्रतिपक्षाणां सम्मता ? (अघ किं ता एव रक्खस्सीए उप्पत्ती तुम्हाणं पडिवक्खाणं सम्मदा ?)

कामः—बाढम्, सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समं जनयितव्या । तत्र सर्वे एते शमदमादयः प्रतिपन्नोद्योगाः ।

रतिः—आर्यपुत्र, कथमेतैरात्मनो विनाशकारिण्या विद्याया उत्पत्तिरेतैर्दुर्विनीतैः श्लाघ्यते ? (अज्जउत्त, कहं एदेहिं अप्पणो विनासकारिणीए विज्जाए उप्पत्ती एदेहिं दुव्विणीदेहिं सलाहिज्जदि ?)

मात्रप्रयोगेणैव रत्या इति विशेष्यस्याप्यवगमो बोध्यः, तथैव वृद्धव्यवहारोऽपि, अतएवोक्तं वामनेन—'विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ'। अत एव रघुवंशे—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' इति मयूरकृतसूर्यस्तुतौ च 'जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव' इति च प्रयुक्तम् । 'परीरम्भः' इत्यत्र 'उपसर्गस्य घञी'ति दीर्घः । स्पष्टमन्यत् । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसैरीशैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ २० ॥

दृढं परिष्वज्य—तथाकरणं च रतेर्भयनिवृत्त्यर्थम् ।

तस्याः–विद्यायाः । युष्माकं प्रतिपक्षाणाम्–विवेकपक्षीयाणाम् । सम्मता–इष्टा ।

बाढम्–स्वीकृत्यर्थकम् । सा–विद्या । विवेकेन–ज्ञानेन । उपनिषद्देव्याम्–उपनिषदभिधानायाम् महिष्याम् । प्रतिपन्नोद्योगाः–धृतप्रयत्नाः ।

एतैः–विवेकादिभिः । आत्मनो विनाशकारिण्याः–विद्यायां जातायामाविद्यकपदार्थमात्रनिवृत्तिस्त्रिपुटीनाशश्च भवतीति दृष्ट्या विवेकादीनामपि तया नाश एव क्रियत इति मनसि निधायेत्थमुक्तम् । दुर्विनीतैः–अविनीतैः । श्लाघ्यते–प्रशस्यते ।

(प्रकाश) (जोरोंसे लिपटकर) प्रिये, मत डरो, मत डरो । हमारे रहते विद्या किस तरह उत्पन्न होगी ?

रति—फिर क्या उस राक्षसीकी उत्पत्ति आपके दुश्मनोंको पसन्द है ?

काम—हाँ, वह विवेकसे उपनिषद् देवीमें प्रबोधचन्द्र नामक भाईके साथ जन्म लेगी । इसलिये ये शम दम आदि उद्योगशील हैं ।

रति—आर्यपुत्र, इन लोगोंने आत्मविनाशकारिणी विद्याकी उत्पत्तिकी क्यों तारीफ शुरू कर दी है ?

कामः—प्रिये, कुलक्षयप्रवृत्तानां पापकारिणां कुतः स्वपरप्रत्यवायगणना। पश्य पश्य—

सहजमलिनवक्रभावभाजां
भवति भवः प्रभवात्मनाशहेतुः।
जलधरपदवीमवाप्य धूमो
ज्वलनविनाशमनु प्रयाति नाशम्॥ २१॥

अत्र परिकरो नाम द्वितीयं नाट्याङ्गमुपन्यस्तं वेद्यम्—'तद्बाहुल्यं परिकरः' इति च तल्लक्षणम्। कुलक्षयप्रवृत्तानाम्—वंशनाशसमुद्यतानाम्। पापकारिणाम्—पापिनाम्। स्वपरप्रत्यवायगणना—स्वस्य परेषां च प्रत्यवायः कष्टजनकदुरदृष्टविशेषस्तद्गणना तत्र विषये विचारः। ये स्ववंशमेव विनाशयितुं प्रवृत्तास्ते कुतः परस्य स्वस्य भवन्तं विनाशं चेतयेयुस्तेषां तादृशविनाशस्यैवेष्टत्वादित्याशयः।

सहजेति० सहजमलिनाः स्वभावतो मालिन्ययुक्ताः वक्रभावः कौटिल्यं तं भजन्तीति वक्रभावभाजः कुटिलाश्चेति सहजमलिनवक्रभावभाजस्तेषाम् स्वभावमलिनकुटिलानाम् भव उत्पत्तिः प्रभवस्य उत्पादकस्य आत्मनः स्वस्य च नाशस्य हेतुः कारणं भवति जायते। स्वभावतो मलिनाः कुटिलाश्च जायमाना एव स्वप्रभवं स्वं च विनाशयन्तीत्याद्यपादद्वयार्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—जलधरेति० धूमः जलधरपदवीम् मेघभावम् अवाप्य प्राप्य ज्वलनविनाशमग्नेरुपशमम् अनु पश्चात् नाशम् अवसानम् प्रयाति। अयमर्थः—धूमो मलिनः कुटिलगतिश्च भवतीति प्रत्यक्षमेव, स हि वह्नेरुत्पद्यते, उत्पद्यमानश्चासौ मेघरूपतां प्रतिपद्यते प्राकृतिकनियमवशात्, मेघभावेन स्थितश्चासौ स्वप्रभवस्याग्नेः स्वरूपस्य धूमस्य च नाशं प्रयोजति वृष्ट्योभयोरपि शम्यत्वादिति। धूमो मेघतां प्राप्नोति, तत्र कालिदासोऽपि प्रमाणम्—'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः' इति। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, तथा च पाणिनीयं सूत्रमपि—'भुवः प्रभवः' इति। अत्र दृष्टान्तालङ्कारेण—यमादेर्धूमस्य च परस्परं बिम्बप्रतिबिम्बभावेनौपम्याक्षेपाद्यथा धूमो वृष्टिमुत्पाद्याश्रयमग्निं विनाश्य स्वयमपि नश्यति तथा यमादयोऽपि विद्यामुत्पाद्य स्वकारणं नाशयित्वा स्वयमपि नश्यन्तीत्यर्थो व्यज्यते। अत्र परिन्यासो नाम नाट्याङ्गम्—तल्लक्षणं यथा—'तस्य

काम—प्रिये, कुलक्षयमें प्रवृत्त इन पापिओंको स्व-परका क्या ज्ञान है? देखो—

स्वभावमलिन तथा कुटिल पदार्थोंका जन्म जनक तथा जन्य दोनोंके विनाशका कारण हुआ करता है। जब धूम मेघ बन जाता है, तब वह आगके साथ ही धूमका भी विनाश कर देता है॥ २१॥

(नेपथ्ये) आः पाप दुरात्मन्, कथमस्मानेव पापकारिण इत्याक्षिपसि। ननु रे!

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ २२ ॥

इति पौराणिकीं गाथां पुराणविद उदाहरन्ति। अनेन चास्माकं जनकेनाहङ्कारानुवर्तिना जगत्पतिः पितैव तावद्बद्धः। मोहादिभिश्च स एव बन्धः सुदृढतां नीतः।

कामः—(विलोक्य) प्रिये, अयमस्माकं कुले ज्यायान् मत्या देव्या सह विवेक इत एवाभिवर्तते। य एषः—

दार्ढ्यं परिन्यासः' इति। पुष्पिताग्रावृत्तम्, अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरजाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणम् ॥ २१ ॥

अस्मान्–विवेकादीन्। आक्षिपसि–निन्दसि।

गुरोरिति० अवलिप्तस्य गर्वोद्धतस्य कार्याकार्यम् इदं कर्त्तव्यमिदमकर्त्तव्यमिति अजानतः अबुद्ध्यमानस्य उत्पथप्रतिपन्नस्य उन्मार्गगामिनः गुरोः पित्रादेरपि परित्यागः विधीयते क्रियते। यदि गुरुरपि गर्वी कार्याकार्यविवेकादृत उन्मार्गगश्च जायते तदा तस्यापि त्यागः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ २२ ॥

पौराणिकीम्—पुराणगताम्। गाथाम्—उक्तिम्। उदाहरन्ति–कथयन्ति। अनेन–मनसा। अस्माकम्–विवेकादीनाम्। अहङ्कारानुवर्त्तिना–अहङ्कारानुगमनपरायणेन। जगत्पतिः–संसारस्वामी। पिता–परमेश्वरः। बद्धः बन्धनं नीतः। परमेश्वरसकाशादुत्पन्नं मनो विषयोन्मुखीकरणद्वारा तस्यैव बन्धनं जनयतीत्यभिप्रेत्यायं ग्रन्थः। मोहादिभिश्च स एव बन्धो दृढतां नीतो यो मनसा जनितोऽतो मन एव बन्धकारणमतस्तस्यो कुमार्गगामिन उच्छेदाय यत्नो नास्माकं पापं प्रयोजयिष्यत्युक्तपुराणोक्तेरिति भावः।

ज्यायान्–श्रेष्ठतमः। मतिर्नाम विवेकपत्नी। अभिवर्त्तते–आयाति।

(नेपथ्ये) अरे पाप, दुरात्मन्, क्यों हमलोगोंको ही पापी बताकर कोस रहा है? अरे! अवलिप्त हो जानेपर कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञानसे वञ्चित तथा उत्पथप्रवृत्त गुरुका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

पुराण जानने वाले ये पौराणिक गाथा बताते हैं। इस हमारे जनकने अहङ्कारके साथ मिलकर जगत्पिताको ही बांध रखा है। मोह आदिने उसी बन्धनको दृढ किया है।

काम—(देखकर) हमारे कुलका श्रेष्ठ पुरुष विवेक देवी मति के साथ इधर ही आ रहा है। जो यह—

रागादिभिः स्वरसचारिभिरात्तकान्ति-
निर्भर्त्स्यमान इव मानधनः कृशाङ्गः।
मत्या नितान्तकलुषीकृतया शशाङ्कः
कान्त्येव सान्द्रतुहिनान्तरितो विभाति॥ २३॥

तन्न युक्तमिहास्माकमवस्थातुम्।

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भः

(ततः प्रविशति राजा विवेको मतिश्च)

रागादिभिरिति० स्वरसचारिभिः स्वेच्छया व्यवहारिभिः रागादिभिः रागद्वेषलोभादिभिः निर्भर्त्स्यमानः तिरस्क्रियमाण इव आत्तकान्तिः हृततेजाः कृशाङ्गः दुर्बलतनुः मानधनः अभिमानमात्रविभव इव नितान्तकलुषीकृतया अत्यन्तपीडितया कान्त्या स्वप्रभया रागादिभिरिति शेषः, मत्या स्वस्त्रिया सान्द्रतुहिनान्तरितः निविडनीहारावृतः शशाङ्कः चन्द्रः कान्त्या स्वप्रभया इव विभाति। अयमाशयः—यथा नीहारावृतश्चन्द्रमाः स्वकान्त्या विभाति दुर्बलः पूर्णप्रकाशविकलश्च तथैवायं विवेकोऽपि यथेच्छाचारिरागादिभिः हृतप्रभो निन्दित इव कथङ्कथमपि मानं रक्षन् पूर्णरूपेण स्वप्रभावस्थापनासमर्थतया कृशकाय इवोपलक्ष्यमाणे मत्या दुर्बलदेहलतया युक्तो विभातीति। विवेकोऽपि नीहाररूपयाऽविद्ययाऽऽव्रियत इति ध्वनिः। शेषमतिस्पष्टम्। वसन्ततिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति॥ २३॥

तत्—तस्मात्, विवेकसन्निधानात्। अस्माकम्—कामरत्यादिमोहपक्षीयाणाम्। एतेन विवेकसन्निधाने कामरत्योर्निष्प्रभावत्वं व्यञ्जितम्।

विष्कम्भः—मिश्रविष्कम्भः, तथा च लक्षणम्—

अङ्कशेषकथांशानां भूतानां भाविनामपि।
संक्षेपेण समस्तानां विष्कम्भः सूचनात्मकः॥

रागादि यथेच्छाचारियोंने इसकी कान्ति हरली है, उपेक्षित होकर यह अभिमानी दुर्बल हो रहा है, इसकी सहचारिणी मति भी कलुषित हो रही है, इस तरह यह घने कुहरेमें पड़े हुए चन्द्रमाके—समान प्रतीत होता है॥ २३॥

इस समय हमलोगोंका यहां रहना अच्छा नहीं है।

(दोनोंका प्रस्थान)

विष्कम्भ

(राजा विवेक तथा मतिका प्रवेश)

राजा—(विचिन्त्य) प्रिये, श्रुतं त्वयास्य दुर्विनीतस्य कामबटोर्मद-विस्फूर्जितं वचो यदस्मानेव पापकारिण इत्याक्षिपति।

मतिः—आर्यपुत्र, किमात्मनो दोषं लोको विजानाति। (अज्जउत्त, किं अप्पणो दोसं लोगो विआणादि)

राजा—पश्य—

असावहङ्कारपरैर्दुरात्मभि-
र्निबध्य तैः पापशठैर्मदादिभिः।

विरसोऽनुचितस्तत्र सूच्यः स्याद्वस्तुविस्तरः।
शुद्धो मिश्रस्तु स द्वेधा मध्यपात्रप्रयोजितः॥
शुद्धो भवति, मिश्रस्तु नीचमध्यप्रयोजितः।
प्रधानादपरं मध्यं नायकादेरुदात्तवाक्॥
नीचं स्यादनुदात्तोक्तेर्विना परिजनादिकम्।
उदात्तवाक्-संस्कृतवाक् अनुदात्तवाक्-प्राकृतभाषा।

विवेको नामश्रवणम्, मतिस्तत्र सहायिका काचना संभावना विपरीतभाव-नयोर्निवर्त्तिका बुद्धिवृत्तिर्मननात्मिका। श्रवणं प्रति मननस्याङ्गत्वेनेह मत्या विवेक-पत्नीत्वव्यपदेशः। तयोरेव विवेकमत्योरत्र पात्रीकरणमाध्यात्मिककथाविस्तृतये कृतं तत्र विवेकस्य राजत्वं मत्याश्च तत्पत्नीत्वं वेद्यम्।

दुर्विनीतस्य—विनयशून्यस्य। मदविस्फूर्जितम्—गर्वयुक्तम्। अस्मान्—विवेका-दीन्। लोकः—साधारणो जनः। यतः साधारणो जनः स्वं दोषं न विजानाति तेनैव कामोऽपि स्वं दोषं नावैति येनास्मानेव पापकारितयाऽऽक्षिपति, तत्र तस्य साधारण-जनत्वमेव कारणमित्यर्थः।

आसाविति० अहङ्कारः अहङ्कर्त्ताऽहम्भोक्तेत्येवंरूपो मनोभावः परः प्रधानं येषु तैरहङ्कारानुवर्त्तिभिः दुरात्मभिः दुष्टान्तःकरणशालिभिः पापाश्च शठाश्च तैः पापशठैः मदादिभिः मदमात्सर्यलोभप्रभृतिभिः कर्त्तृभिः असौ विख्यातसद्गुणः चिदानन्दमयः चित्स्वरूपः आनन्दस्वरूपश्च निरञ्जनः निर्गताखिलवासनः जगत्प्रभुः संसारनियन्ता

राजा—(सोचकर) प्रिये, तुमने इस पापी कामकी मनवाली बातें सुनीं जिनके द्वारा यह हमलोगोंको ही पापी कहकर शिकायत करता है।

मति—आर्यपुत्र, क्या अपना दोष लोग खुद देख पाते हैं।

राजा—देखो-पापी ठग तथा दुरात्मा मद आदिसे परिवृत अहङ्कारने बांधकर चिदा-

चिरं चिदानन्दमयो निरञ्जनो
जगत्प्रभुर्दीनदशामनीयत ॥ २४ ॥

त एते पुण्यकारिणो वयं तु तन्मुक्तये प्रवृत्ताः पापकारिण इत्यहो जितं दुरात्मभिः ।

मतिः—आर्यपुत्र, यतोऽसौ सहजानन्दसुन्दरस्वभावो नित्यप्रकाशः प्रस्फुरत्सकलत्रिभुवनप्रचारः परमेश्वरः श्रूयते । तत्कथमेतैर्दुर्विदग्धैर्बद्ध्वा महामोहसागरे निक्षिप्तः । (अज्जउत्त, जदो सो सहजआणन्दसुन्दलसहाओ णिच्चप्पआसो पप्फुरन्तसअलतिहुअणप्पआरो परमेस्सरो सुणीअदि । ता कहं एदेहिं दुव्विणीदेहिं बधिअ महामोहसाअरे णिक्खित्तो)

(अविद्यासम्बन्धवशादखिलव्यवस्थापकः) चिरन्निबध्य बहुकालं बद्धभावम् अविद्यायुक्ततामापाद्य दीनदशाम् हीनां दशां स्वरूपच्युतिम् अनीयत प्रापितः । चिदानन्दमयो निरञ्जनश्चासावविद्यासम्बन्धेन स्वरूपाच्च्यावयित्वा बद्ध इवाज्ञानीव दुःखीव च कृत इत्याशयः । परमेश्वरस्यापि मायासम्बन्धाद्बद्धताप्रत्ययो यैर्जनितस्तेऽमी मोहादयोऽस्मानेव पापानाचक्षते तदिदं तेषां दौरात्म्यं पश्येति प्रघट्टकार्थः । वंशस्थं वृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'वदन्ति वंशस्थमिदं जतौ जरौ' इति ॥ २४ ॥

अत्र विलोभनं नाम मुखसन्धेश्चतुर्थमङ्गमुक्तं बोध्यं तल्लक्षणं यथा—'गुणाख्यानं विलोभनम्' त एते—परेश्वरबन्धकारिण इमे मोहादयः । पुण्यकारिणः—सत्पथप्रवृत्ताः । काक्वा पापकारिताऽतिशयध्वनिः । तदुन्मुक्तये—तद्बन्धव्यपगमाय । प्रवृत्ताः सव्यापाराः । जितम्—विजयः प्राप्तः । दुरात्मभिः—दुष्टैः ॥

असौ—परमेश्वरः । सहजानन्दसुन्दरस्वभावः—स्वाभाविकानन्दरमणीयप्रकृतिः, परमेश्वरो हि नित्यानन्दरूपतया रम्यरूपः, यतस्तत्र दुःखस्य लेशोऽपि न प्रभवत्युदेतुमिति । नित्यप्रकाशः—अव्याहतज्ञानः, अक्षतदीधितिर्वा, प्रस्फुरत्सकलत्रिभुवनप्रचारः—संसारव्यापी । एतैः—मोहादिभिः । दुर्विदग्धैः—दुष्टैर्धूर्त्तैः । बद्ध्वा बन्धनं प्रापय्य । निक्षिप्तः—पातितः । अयमाशयः—सान्द्रानन्दनिर्भरो जगद्व्यापकोऽव्याहतज्ञानश्च परमेश्वरः कथमेभिर्धूर्त्तैर्मोहादिभिर्वञ्चयित्वा मोहसागरे पातित इत्याश्चर्यमिति ।

नन्दमय नित्य निष्कलङ्क उस जगत्प्रभुको दीनदशा प्राप्त करा दी है ॥ २४ ॥

इस तरह यह पुण्यात्मा है और उनकी मुक्तिके लिये प्रयत्न करने वाले हम पापी हैं ? धन्य है यह दुरात्मा !

मति—आर्यपुत्र, सुनती हूं कि वह परमेश्वर सकल त्रिभुवनव्यापी तथा नित्यानन्दस्वरूप है फिर इन दुरात्माओंने उन्हें मोह समुद्रमें कैसे डाल दिया ?

राजा—प्रिये,

सततधृतिरप्युच्चैः शान्तोऽप्यवाप्तमहोदयोऽ-
प्यधिगतनयोऽप्यन्तःस्वच्छोऽप्युदीरितधीरपि ।
त्यजति सहजं धैर्यं स्त्रीभिः प्रतारितमानसः
स्वयमपि यतो मायासङ्गात्पुमानिति विश्रुतः ॥ २५ ॥

मतिः—आर्यपुत्र; नूनमन्धकारलेखया सहस्ररश्मेस्तिरस्कारो यथा तथा मायया स्फुरन्महाप्रकाशसागरस्य देवस्याप्यभिभवः । (अज्जउत्त, णं खु अन्धकारलेहाए सहस्सरस्सिणो तिरक्कारो जधा तधा माआए स्फुरन्तमहाप्प-आससाअरस्स देवस्स वि अहिहवो)

सततेति० सततधृतिः सनातनधैर्यः अपि उच्चैः उन्नतः अपि शान्तः शान्तियुक्तः अपि, अवाप्तमहोदयः प्राप्तकामोऽपि, अधिगतनयः नीतिज्ञः अपि, अन्तःस्वच्छः विमलान्तःकरणः अपि, उदीरितधीः समयोचितज्ञानः अपि, स्त्रीभिः वनिताभिः प्रतारितमानसः वञ्चितबुद्धिः सहजम् स्वाभाविकम् धैर्यम् गम्भीरत्वम् त्यजति जहाति, यतः यस्मात् कारणात् मायासङ्गात् अविद्यासम्बन्धवशात् पुमान् इति विश्रुतः प्रसिद्धः । अयमाशयः—सदाधैर्यधारी महान् शान्तिमत्तया प्रथितः प्राप्तप्रकामसमृद्धिः समभ्यस्तनीतिशास्त्रो निर्मलान्तःकरणोऽपि लोको ललनावञ्चितचित्ततया व्यत्तिप्यमाणः सन् स्वभावसिद्धमपि धीरत्वं मुञ्चति, अन्यस्य का कथा परमेश्वरस्याप्यविद्यासम्बन्धवशादेव परिच्छिन्नप्रमातृतया पुमानिति या प्रसिद्धिस्तत्रापि ललनाभूताऽविद्यैवकारणमिति । हरिणीवृत्तम्, 'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणम् ॥२५॥

अत्र युक्तिर्नाम मुखसन्धेः पञ्चममङ्गयुक्तं वेदितव्यम् । तल्लक्षणं यथा—'युक्तिः संशयितार्थस्य निर्णयः परिकीर्त्तितः' इति । अत्र मत्या संशयितार्थस्य निर्णयात्समन्वयः ।

नूनम्—निश्चयेन । अन्धकारलेखया—तमसः पङ्क्त्या सहस्ररश्मेः—सूर्यस्य । तिरस्कारः—आच्छादनम् । स्फुरन्महाप्रकाशसागरस्य—प्रकाशीभवदनन्ततेजोराशेः । देवस्य-

राजा—प्रिये, अबाध धैर्य, शान्त महान् उदयको प्राप्त, नीतिके ज्ञाता, स्वच्छ, बुद्धिमान् होकर भी स्त्रियों द्वारा छले जाने पर स्वाभाविक धीरतासे च्युत हो जाते हैं, इसीलिये परमेश्वर भी मायासंसर्गसे पुमान् कहाने लगे हैं ॥ २५ ॥

मति—आर्यपुत्र, जिस प्रकार सूर्य का अभिभव अन्धकार द्वारा होता है उसी प्रकार माया द्वारा ब्रह्मका अभिभव हुआ ।

राजा—प्रिये, अविचारसिद्धेयं वेश्याविलासिनीव माया असतोऽपि भावानुपदर्शयन्ती परपुरुषं वञ्चयति । पश्य—

स्फटिकमणिवद्भास्वान्देवः प्रगाढमनार्यया
विकृतिमनया नीतः कामप्यसङ्गतविक्रियः ।
न खलु तदुपश्लेषादस्य व्यपैति रुचिर्मनाक्
प्रभवति तथाऽप्येषा पुंसो विधातुमधीरताम् ॥ २६ ॥

परमेश्वरस्य । अभिभवः—तिरोहितप्रकाशत्वम् , अयमाशयः—यथाऽन्धकारः सूर्यं तिरोभावयति—स्वरूपाच्युतावपि प्रच्छन्नतेजसं विदधाति, तथैवाविद्यापि परमेश्वरस्य स्वरूपमविपाद्यापि बाह्यं प्रकाशं तिरोभावयतीति ।

अत्र प्राप्तिर्नाम मुखसन्धेः षष्ठमङ्गमुक्तं तल्लक्षणं यथा—'अर्थानामानुकूल्येन सुखाप्तिः प्राप्तिरिष्यते' इति ।

अविचारसिद्धा—यावदविचारकवस्थिता, विचारे जाते मायासम्बन्धहानादिदं विशेषणम् । वेश्याविलासिनी—वारवनिता । वारवनितायाः अपि विचारदृष्ट्याऽरमणीयत्वेन तदौपम्यम् । असतः—कृत्रिमान्, अविद्यमानाँश्च । वेश्या हि कृत्रिमान् भावान् प्रणयसूचकांश्चेष्टाविशेषान्प्रकाशयति मायापि असतः अत्यन्तासतो गगनकमलिनीकल्पान् पदार्थान् प्रदर्शयतीति परमार्थः । परपुरुषम्—स्वपतिभिन्नं पुमांसम् , परमुत्कृष्टं पुरुषं परमेश्वरमिति च, तत्राद्योऽर्थो वेश्यापक्षे चरमश्च मायापक्ष इति विवेकः ।

स्फटिकमणिवदिति० स्फटिकमणिवद् भास्वान् प्रकाशशाली देवः परमेश्वरः (प्रपञ्चात्मनाक्रीडनप्रवृत्ततया देवपदम्) अनया प्रत्यक्षप्रभावया अनार्यया तुच्छस्वभावतया नीचतया असङ्गतविक्रियः अनुपपद्यमानविकारोऽपि प्रगाढम् भूम्ना कामपि अनिर्वाच्याम् विकृतिम् उपरक्ततारूपाम् विक्रियाम् नीतः प्रापितः । तदुपश्लेषात् मायासंसर्गवशात् अस्य परात्मनः मनागपि ईषदपि रुचिः स्वस्वरूपप्रकाशः न खलु अपैति दूरीभवति, (यद्यप्येवं) तथापि एषा माया पुंसः परमेश्वरस्य अधीरताम् स्वरूपच्युतिलक्षणाम् दशाम् विधातुम् प्रभवति यतते, स्फटिकमणि-

राजा—प्रिये, अविचारसिद्धा यह माया वेश्या की तरह अवर्त्तमान भावोंको प्रदर्शित करके परपुरुषको छला करती है, देखो—

स्फटिक मणिकी तरह भास्वर ये परमेश्वर इस अभागी अविद्याके द्वारा अविक्रिय होनेपर भी विक्रियाको प्राप्त कराये जाते हैं, अविद्यासम्पर्क होनेपर भी परमेश्वरकी स्वाभाविक रुचि नष्ट नहीं होने पाती, फिर भी यह अविद्या पुरुषको अधीर कर देती है ॥ २६ ॥

मतिः—आर्यपुत्र, किं पुनः कारणं येन सा तथोदारचरितं दुर्विदग्धा प्रतारयति । (अज्जउत्त, किं पुणो कारणं जेण सा तधा उदारचरिदं दुव्विदग्धा प्रतारेदि)

राजा—न खलु प्रयोजनं कारणं वा विलोक्य माया प्रवर्तते । स्वभावः खल्वसौ स्त्रीपिशाचीनाम् । पश्य—

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।

यथा जपाकुसुमसन्निधानात् रक्तोऽपि स्वभाविकं श्वैत्यं न जहाति तथा परमेश्वरोऽपि मायासम्बन्धवशात्कर्तृत्वादिरूपरूपितोऽपि स्वरूपान्न च्यवते, तथाप्यस्या मायायाः प्रयासो न विरमति, वैफल्येऽपि प्रवृत्तिरस्या न दूरीभवति, तदियमतिदुरन्तेति भावः । परमेश्वरस्य देवत्वं क्रीडनप्रवृत्तिमुपलक्ष्योक्तं तत्र च 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये'ति श्रुतिः प्रमाणम् । असङ्गतविक्रियः' इत्युक्त्या यथा स्फटिके नोपाधिवर्णस्य कदापि सङ्क्रान्तेः सम्भवस्तथाऽत्रापि नोपरागसम्भावनेति प्रतिपाद्यते । तदेव प्रदर्शयितुमुक्तं—'न खलु तदुपश्लेषा'दिति । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ २६ ॥

अत्र समाधानं नाम मुखसन्धेः सप्तममङ्गं प्रदर्शितं, 'स्फटिकमणिवद्भास्वान् देवः' इत्यनेन बीजानुसन्धानात् , तथा च तल्लक्षणम्—'यद्बीजस्यानुसन्धानं तत्समाधानमिष्यते' इति । उदारचरितम्—महोच्चस्वभावम् । दुर्विदग्धा—धूर्ता ।

प्रयोजनम्—फलं, प्रवृत्त्युद्देश्यं कार्यं वा । कारणम्—प्रवृत्तिहेतुभूतम् । यथा पयसः प्रसरणं स्वभावस्तत्र न कस्यापि फलस्य कारणस्य वाऽपेक्षा तथा मायाया अपि बन्धनं स्वभाव इति । स्त्रिय एव पिशाच्यः स्त्रीपिशाच्यस्तासाम् स्त्रीपिशाचीनाम् , अत्र स्त्रीणां पिशाचीत्वोक्तिस्तासां निष्कारणपरोपतापकत्वदुस्त्यजत्वादिद्योतनाय । स्वभावस्याकारणजन्यतया तत्कारणगवेषणं वृथेति भावः ।

संमोहयन्तीति० सम्मोहयन्ति—मोहयुक्तं कुर्वन्ति, मदयन्ति—अभिमानमुत्पादयन्ति, विडम्बयन्ति—उपहसन्ति, निर्भर्त्सयन्ति—ताडयन्ति, रमयन्ति—प्रमोदयन्ति,

---

मति—क्या कारण है कि वह अभागी अविद्या उस प्रकार उदारचरित पुरुषको भी धोखेमें डाल देती है ?

राजा—माया किसी कारण वा प्रयोजनको देखकर माया नहीं प्रवृत्त होती है, वह उन स्त्रीपिशाचियोंका स्वभाव ही है । देखो—

मोहित करती हैं, मदयुक्त बनाती हैं, धिक्कारती हैं, खुश करती हैं, तकलीफ देती हैं,

एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥ २७ ॥

अस्ति चापरमपि कारणम् ।

मतिः—आर्यपुत्र, किं नाम तत्कारणम् ? (अज्जउत्त, किं णाम तक्कारणम् ?)

राजा—एवमनया दुराचारया विचिन्तितं यदहं तावद्गतयौवना वर्षीयसी । अयं पुराणपुरुषः स्वभावादेव विषयरसविमुखः । ततः स्वतनयमेव पारमेश्वरे पदे निवेशयामीति, तमेव मातुरभिप्रायमासाद्य नितान्ततत्प्रत्यासन्नतया तद्रूपतामिवापन्नेन मनसा नवद्वाराणि पुराणि रचयित्वा ।

विषादयन्ति—खेदयन्ति एता वामनयनाः सुन्दरदृशः नराणां पुरुषाणां सदयं दयायुतं हृदयं प्रविश्य वञ्चनया स्वाधीनभावं नीत्वा किन्नाम न समाचरन्ति सर्वमकार्यं कार्यं च विदधतीत्यर्थः । अत्र स्त्रीसामान्यस्य पुरुषवशीकारपूर्वकाकार्यकृतिकुशलताप्रतिपादनद्वारा मायायाः परमेश्वरवशीकारपूर्वकं तद्बन्धनं समर्थितं भवतीति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २७ ॥

अत्र विधानं नाम मुखसन्धेरष्टमङ्गं प्रतिपादितम् , तल्लक्षणं यथा—'सुखदुःखकरं यत्तद्विधानं परिकीर्त्तितम्' इति । अनया—मायया । दुराचारया—दुष्टचरित्रया । विचिन्तितम्—तर्कितम् । गतयौवना—पुरुषप्रेमनिदानभूतयौवनशून्या, गतावस्था वा, मायापि सर्वविधावस्थारहिताऽनादित्वादिति बोध्यम् । वर्षीयसी—अतिवृद्धा, पुरुषरमणाक्षमा, (अयं पुरुषः परमेश्वरः) पुराणपुरुषः—वृद्धः पुमान् विषयरसविमुखः—वैषयिकसुखभोगविरक्तः । तदेवं दम्पत्योर्वार्धक्यं जातमित्यावेदितम् । स्वतनयम्—स्वपुत्रं मनोनामकम् । पारमेश्वरे पदे—जगत्कर्तृत्वनियन्तृत्वादिरूपे परमेश्वरकर्त्तव्ये । निवेशयामि—स्थापयामि । अन्यापि वर्षीयसी वृद्धपतिश्च चतुरा वनिता स्वतनयं गृहकार्याधिकारे निवेशयति तदनुरूपमनया मायया चिन्तितमित्यर्थः । अत्र चिन्तितमित्यस्य निवेशयामीत्यन्तवाक्यार्थः कर्म । तम्—पूर्वोक्तम् । मातुः—जनिकाया मायायाः । अभिप्रायमासाद्य—इच्छामवेत्य । नितान्तप्रत्यासन्नतया—सततसन्निहित-

---

हृदयमें प्रवेश करके स्त्रियाँ पुरुषोंका क्या नहीं कर देती हैं ? ॥ २७ ॥

और भी कारण है ।

मति—आर्यपुत्र, वह क्या कारण है ?

राजा—इस दुष्ट मायाने सोचा कि मैं गतयौवना वृद्धा हुई, ये पुराण पुरुष भी स्वभावतः विषय विमुख हो गये हैं, इसलिये अपने पुत्रको ही पारमेश्वर के पदपर बिठा दूं । मनने अपनी माता अविद्याके इस अभिप्रायको समझ कर सतत आत्मसमीपवर्त्ती रहनेके कारण उसीका रूप बनाकर नवद्वार यह शरीररूप पुर बना डाला ।

एकोऽपि बहुधा तेषु विच्छिद्येव निवेशितः।
स्वचेष्टितमथो तस्मिन्विदधाति मणाविव ॥ २८ ॥

मतिः—(विचिन्त्य) आर्यपुत्र, यादृशी माता पुत्रोऽपि तादृश एव जातः। (अज्जउत्त, जादिसी मादा पुत्तको वि तादिसो जेव्व जादो ।)

राजा—ततोऽसावहंकारे चित्तस्य ज्येष्ठपुत्रेण नप्त्रा परिष्वक्तः। ततश्चासावीश्वरः।

तया। तद्रूपताम्—परमेश्वरसादृश्यम्। आपन्नेन—प्राप्तेन। अन्योऽपि मात्रा लालितः कुमारः पित्रा यौवराज्येऽधिक्रियमाणः सन् सततं तत्प्रत्यासन्नः सन् तद्विधेयानि कार्याणि करोति, तदनुकृत्यायं व्यवहारारोपः। नवद्वाराणि—नवसङ्ख्यकद्वारवन्ति, नवीनतमप्रवेशमार्गयुतानि। अत्र तत्तदिन्द्रियच्छिद्रयुतस्य देहस्यैव पुरात्मना रूपणं, देहे हि नवच्छिद्राणि मन्यन्ते नासाकर्णादीनि।

एकोऽपीति० तेषु देहरूपपुरेषु एकोऽपि वस्तुतोऽभिन्नोऽपि परमात्मा विच्छिद्य पृथग्भावमापाद्य इव बहुधा नानाभावेन निवेशितः स्थापितः, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन व्यवस्थापितः, यथैकस्यापि सूर्यस्य राजतपात्रावस्थापितजलशते शतं प्रतिबिम्बानि भवन्ति तद्वदात्मनोऽप्येकस्यैव तत्तद्देहेषु प्रवेश इति बोध्यम्। अथो अनन्तरं तस्मिन् देवे स्वचेष्टितं मनसा क्रियमाणं कर्तृत्वादिरूपम् मणौ इव विदधाति करोति। यथा जपादिरुपाधिः स्वधर्मं रक्तत्वादिकं मणौ प्रतिभासयति तद्वन्मनोऽपि स्वधर्मं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं परमात्मरूपे पुरुषे प्रतिभासयतीति परपादद्वयार्थः॥ २८॥

यादृशी—वञ्चनादि यावद् गुणोपेता। माता—अत्र माया। तादृशः—मातृगुणसजातीयगुणोपेतः। जातः—पुत्रोऽत्र मनोरूपः।

ततः—पुरप्रवेशानन्तरम्। असौ—पुरुषः। चित्तस्य—बुद्धितत्त्वस्य। ज्येष्ठपुत्रेण—प्रधानेन सुतेन। नप्त्रा—पुत्रपुत्रेण। पुरुषस्य पुत्रो मनोरूपस्तत्पुत्रश्चाहङ्कार इति तत्र नप्तृत्वारोपः।

और उन द्वारोंमें एक होकर भी भिन्न-भिन्न रूप में निविष्ट हो गया है और जैसे मणिमें भिन्न-भिन्न तरहके प्रतिविम्ब होते हैं उसी तरह भिन्न-भिन्न तरहकी चेष्टायें किया करती है॥ २८॥

मति—आर्यपुत्र, जैसी माँ थी, बेटा भी ठीक वैसा ही निकला।

राजा—अहङ्कार चित्तका बड़ा लड़का है, उससे मिलने पर आत्मा ईश्वर कहलाने लगा।

जातोऽहं जनको ममैष जननी क्षेत्रं कलत्रं कुलं
पुत्रा मित्रमरातयो वसु बलं विद्याः सुहृद्बान्धवाः ।
चित्तस्पन्दितकल्पनामनुभवन्विद्वानविद्यामयीं
निद्रामेत्य विघूर्णितो बहुविधान् स्वप्नानिमान्पश्यति ।।२९।।

मतिः—आर्यपुत्र, एवं दीर्घतरनिद्राविद्रावितप्रबोधे परमेश्वरे कथं प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति । (अज्जउत्त, एवं दीहतरणिद्दाविद्दविअप्पबोहे पलमेस्सले कहं प्पवोहोप्पत्ती भविस्सदि)

जातोऽहमिति० विद्वान् सर्वविषयकनित्यज्ञानवान् (अपि) अविद्यामयीम् मायारूपाम् निद्राम् (बोधवैधुर्यप्रदत्वेनाज्ञानावस्थाया निद्रासादृश्यकृतस्तत्त्वव्यवहारः) एत्य प्राप्य विघूर्णितः भ्राम्यन् चित्तस्पन्दितेन मनसो दृष्टानुभूतश्रुतपूर्वेषु विषयेषु सञ्चारणेन या कल्पनाऽनुपस्थितविषयकस्वाप्नपदार्थगोचरः प्रत्ययप्रवाहः ताम् अनुभवन् कुर्वन् (पुरुषः) अहं जातः उत्पन्नः, मम एषः अमुकः जनकः उत्पादयिता, इयं मम जननी, इदं मम क्षेत्रम् कृष्याभूमिः, इदं मम कलत्रम् स्त्री, इदम् मम कुलम् वंशः, इमे मम पुत्राः सुताः, इदं मम मित्रं सुहृत्, इमे मम अरातयः शत्रवः, इदं मम वसु धनम्, इदं मम बलम् सामर्थ्यम्, इमाः मम विद्याः शास्त्रज्ञानानि, अयम् मम सुहृत् प्रियः, इमे मम बान्धवाः भ्रात्रादयः, इमान् एतदाकारान् बहुविधान् नानाप्रकारान् स्वप्नान् स्वप्नावस्थायाम् उत्पद्यमानान् इवालीकविषयकान् भ्रमान् उद्भावयतीत्यर्थः । अन्योऽपि निद्राचुम्बितनेत्रो भ्राम्यन्मना नानाविधान्स्वप्नान् पश्यति, तद्वदयमपि पुरुषोऽविद्यामयीं निद्रामुपेत्य मानसिककल्पनामयान् इमान् स्वप्नान् आलोकमानस्तैस्तैर्भावैर्बद्ध इव व्यवहरन्स्वरूपं विस्मारितो लौकिको भवतीति भावः । जातोऽहमित्यादयो ह्यङ्कारविक्षेपाः पुंसि बुद्धितत्त्वसम्बन्धनिबन्धन एवेति पुरुषस्य तदुपरागात्परत एव ते ते स्वप्ना इति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ २९ ॥

दीर्घतरनिद्रा–चिरकालिकः स्वापः, तेन विद्रावितप्रबोधे दूरीकृतस्वाभाविकज्ञाने।

मैं पैदा हुआ, ये मेरे मां बाप हैं, ये हैं खेत, स्त्री, कुल, पुत्र, मित्र, धन तथा विद्याविभव । इस तरह मनःकल्पित नाना प्रकारके अविद्यामय अनुभवोंको करता हुआ अविद्यामें मग्न वह नाना प्रकारके स्वप्नोंको देखा करता है ॥ २९ ॥

मति—इस प्रकारकी निद्रासे जब प्रबोध दूर भगा दिया गया है तब प्रबोधोदय कैसे हो पावेगा ?

राजा—(सलज्जमधोमुखस्तिष्ठति)

मतिः—आर्यपुत्र, किमिति गुरुतरलज्जाभरनमितशेखरस्तूष्णींभूतोऽसि, न प्रतिभणसि। (अज्जउत्त, किंति गुरुअरलज्जाभरणमिदसेहरो तुण्हींभूदोऽसि, न प्पतिभणसि)

राजा—प्रिये, सेर्ष्यं प्रायेण योषितां भवति हृदयम्। तेन सापराधमिवात्मानं शङ्के।

मतिः—आर्यपुत्र, अन्यास्ताः स्त्रियो याः स्वरसप्रवृत्तस्य वा धर्मार्थव्यापारप्रस्थितस्य वा भर्तुर्हृदयस्थितत्वं विघ्नन्ति। (अज्जउत्त, अण्णा ता

कथम्—केन प्रकारेण। प्रबोधोत्पत्तिः—ज्ञानोदयः। यो हि पुरुषो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीस्तिस्रोऽपि दशाः स्वापरूपेणैवोपयुञ्जानः सततं स्वप्नानिवालीकविषयानत्यन्तासम्बद्धांश्च भावान्स्वस्मिन्पश्यति ततो ज्ञानं सुदूरापेतं कथं सन्निधास्यति तस्येति चिन्तातात्पर्यम्।

अत्र जाग्रदवस्थायां पश्यति स्वप्नानित्याश्चर्योक्तेः परिभावनाख्यं मुखसन्धेरङ्गमुक्तम्—तल्लक्षणं यथा—'परिभावनमित्याहुराश्चर्यार्थनिवेदनम्' इति।

गुरुतरलज्जाभरनमितशेखरः—अतिशयत्रपानम्रीकृतमस्तकः। तूष्णींभूतः—मूकीभूतः। प्रतिभणसि—प्रत्युत्तरं ददासि। अत्र विवेको राजा स्वस्योपनिपद्रूपवनितान्तरसङ्गप्रसङ्गेन लज्जानतमुखो भवतीति वेद्यम्। सेर्ष्यम्—ईर्ष्याख्यभावयुक्तम्। योषिताम्—रमणीनाम्। सापराधम्—कृतापराधम्। अयमाशयः—त्वयि धृतासङ्गं मामुपनिषद्देवी कान्तान्तरप्रसक्तं मन्यमानेर्ष्याकलुषितचित्ता भविष्यतीति हेतोरहं तस्याः समीपे स्वं सापराधमिवोत्प्रेक्षे इति।

अन्याः—मद्भिन्नाः। स्वरसप्रवृत्तस्य—स्वेच्छयागन्तुकामस्य। धर्मार्थव्यापारप्रवृ-

---

राजा—(लज्जासे अधोमुख हो जाता है)

मति—आर्यपुत्र, गुरुतर लज्जासे नतमस्तक होकर गुम क्यों हो रहे हैं? उत्तर क्यों नहीं देते?

राजा—प्रिये, स्त्रियोंके हृदय ईर्ष्यालु हुआ करते हैं, इसीलिये मैं कृतापराध अपनेको पा रहा हूं।

मति—आर्यपुत्र, वे और स्त्रियां होंगी जो स्वेच्छावश या धर्मार्थ व्यापारमें प्रवृत्त

इत्थिआओ जाओ सरसप्पउत्तस्स वा धम्मत्थवावारप्पत्थिअस्स भत्तुणो हिअअत्थिदं विहणन्दि)

राजा—प्रिये,

मानिन्याश्चिरविप्रयोगजनितासूयाकुलाया भवे-
च्छान्त्यादेरनुकूलनादुपनिषद्देव्या मया संगमः।
तूष्णीं चेद्विषयानपास्य भवती तिष्ठन्मुहूर्तं ततो
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात्प्राप्तः प्रबोधोदयः ॥ ३० ॥

त्तस्य—धार्मिककृत्यरूपेण समासक्तस्य। भर्त्तुः—स्वामिनः। हृदयस्थितम्—मनोगतम्। विघ्नन्ति—प्रतिवध्नन्ति। अतो मम हृदये त्वामुपनिषत्प्रसक्तं दृष्ट्वा नेर्ष्योदेष्यति, तवेयं प्रवृत्तिः परोपकारार्थेति कृतवापि मम नेर्ष्यासम्भवः, स्वरसतोऽपि तव तथा प्रवृत्तौ आदृश्योऽङ्गना नेष्यन्तीति प्रकरणार्थः।

मानिन्या इति० चिरविप्रयोगजनितासूयाकुलायाः दीर्घकालव्यापकविरहसमुत्पादितेर्ष्यापूर्णायाः उपनिषद्देव्याः शान्त्यादेस्तत्सख्याः कर्त्र्याः अनुकूलनात् सान्त्वनात् यदि मया विवेकेन सह सङ्गमः सहवासः स्यात्। उपनिषन्नामदेवी मम चिरं विरहेण मयि धृतेर्ष्याभावानां तत्सख्यः शान्त्यादयो यदि स्थितिवोधनेन शान्तां विधाय मया सह सङ्गमयेयुरित्यर्थः। भवती मतिः च चेत् यदि विषयान् सांसारिकभोगान् अपास्य विहाय मुहूर्त्तं क्षणं तूष्णीं निर्व्यापारम् तिष्ठेत् ततः तदा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात् जाग्रदाद्यभिमानस्थानाभावात् प्रबोधोदयः ज्ञानप्रकाशः प्राप्तः। अयमर्थः—शान्तेः सहायतयाऽनुकूलभावं गमिता विस्मृतेर्ष्योपनिषद्यदि मया सह सङ्गच्छेत, भवती मतिश्च कियन्तमपि कालं निर्व्यापारीभूय तिष्ठेत्तदा जाग्रदाद्यभिमानस्थानाभावेन प्रबोधो जन्म लभेतवेति। ज्ञानोदयेऽपेक्षिता सामग्री श्रवणमननादय एव, तत्र विवेकस्योपनिषत्सङ्गः श्रवणरूपः मत्याश्च विषयान्तरवैमुख्यं मननिदिध्यासनभावं भजते इति, शान्त्यादेरनुकूलनादिति च पावतायै अपेक्षितं

अपने पतिके प्रयासमें रोडे अटकाती हैं।

राजा—प्रिये, मानिनी, चिरवियोगजनित ईर्ष्यासे व्याकुल उपनिषद् देवीको यदि शान्ति आदि मनाये तो वह मुझसे मिल सकती है और आप अगर कुछ समय के लिये तूष्णींभावका अवलम्बन करलें, तब जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि के अभाव होनेसे प्रबोधका उदय हो सकता है ॥ ३० ॥

मतिः—आर्यपुत्र, यद्येवं कुलप्रभोर्दृढग्रन्थिनिबद्धस्यापि बन्धमोक्षो भवति तदा तया नित्यानुबन्ध एवार्यपुत्रो भवत्विति सुष्ठु मे प्रियम्। (अज्जउत्त, जदि एवं कुलप्पहुणो दिढगंथिणिबद्धस्स वि बन्धमोक्खो भोदि तदो ताए णिच्चाणुबन्धो जेव्व अज्जउत्तो भोदु त्ति सुट्ठु मे पिअम्)

राजा—प्रिये, यद्येवं प्रसन्नासि सिद्धास्तर्ह्यस्माकं मनोरथाः। तथा हि—

बद्ध्वैको बहुधा विभज्य जगतामादिः प्रभुः शाश्वतः
क्षिप्त्वा यैः पुरुषः पुरेषु परमो मृत्योः पदं प्रापितः।

शान्तिदान्त्युपरतितितिक्षादिकं स्मारयति, तदित्थं बोधोदयोऽवश्यं भावीति बोध्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ३०॥

अत्रोद्भेदो नाम मुखसन्धेर्द्वादशममङ्गमुक्तं, गूढार्थभेदसूचनात्, तथा च तल्लक्षणम्—'उद्भेदः स परिज्ञेयो यत्र गूढार्थसूचनम्' इति।

कुलप्रभोः—आत्मरूपस्य वंशस्वामिनः। दृढग्रन्थिनिबद्धस्य–अहङ्काररूपेण ग्रन्थिना दुरयासेन बन्धनेन बद्धस्य। बन्धमोक्षः–अहङ्कारनिवृत्तिः। तया–उपनिषदा नित्यानुबन्धः–सततसंसक्तः। यदि भवत्युपनिषदासक्ते आत्मनो बन्धनिवृत्तिः प्रबोधोदयद्वारा जायते। तदाऽहं भवतस्तस्यां सार्वदिकीमासक्तिमपि सोढुं क्षमेति तया मत्या स्वस्य परोपकारार्थं तत्परतारूपा शक्तिरावेदिता।

एवं प्रसन्ना—स्त्रीजनेषु दुर्लभमीदृशं त्यागं पत्युः पराङ्गनाऽऽसक्तिसहनरूपं कर्तुं तत्परा। मनोरथाः—प्रबोधोदयद्वारकात्माहङ्कारनिवृत्तिप्रमुखा आन्तरिकभावाः। सिद्धाः—सञ्जातकल्पाः।

बद्ध्वैक इति० यैः अहङ्कारादिभिः जगतामादिः संसारप्रथमः प्रभुः समर्थः शाश्वतः अविनाशी पुरुषः आत्मरूपः बद्ध्वा अहङ्कारोत्थापितेऽहम्भावबन्धने आसज्य पुरेषु शरीरेषु बहुधाऽनेकधा विभज्य नानारूपतामापाद्य क्षिप्त्वा प्रवेश्य

मति—आर्यपुत्र, यदि इस प्रकार दृढ़ बन्धन में निबद्ध कुलप्रभुका बन्धमोक्ष हो तो आप अपने व्यापारमें संलग्न रहें।

राजा—प्रिये, यदि आप इस प्रकार प्रसन्न हों तो हमारे मनोरथ पूर्ण ही हैं। क्योंकि—

बद्ध होकर अनेकता प्राप्त करके जगत् के प्रभु शरीररूप नगरमें डाल दिये जाते हैं और मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनको ब्रह्मभिन्न सिद्ध करके विद्याके द्वारा प्रायश्चित्त करके

तेषां ब्रह्मभिदां विधाय विधिवत्प्राणान्तिकं विद्यया
प्रायश्चित्तमिदं मया पुनरसौ ब्रह्मैकतां नीयते ॥ ३१ ॥

तद्भवतु । प्रस्तुतविधानाय शमादीन् योजयामः ।

(इति निष्क्रान्तौ मतिविवेकौ)

इति श्रीकृष्णमिश्रयतिविरचिते प्रबोधचन्द्रोदये प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥



मृत्योः पदं जननमरणस्थानं संसारं प्रापितः मया विवेकेन तेषां पूर्वोक्तगुणकानाम् ब्रह्मभिदाम् ब्रह्मप्रतियोगिकभेदकराणाम् विद्यया आत्मज्ञानेन विधिवत् शास्त्रोक्त-प्रकारेण इदं प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं विधाय असौ आत्मा पुनः भूयः ब्रह्मैकताम् ब्रह्माभेदम् । नीयते प्राप्यते । येऽहङ्कारादयो ब्रह्मरूपतया जगदादेः शाश्वतस्य प्रभो-श्चात्मनोऽहङ्कारावेशनेन देहाद्यात्मकतां समायोज्य देहसम्बन्धद्वारकं जननमरण-सम्बन्धं व्यधुस्तेषां पाप्मनामहङ्कारादीनां प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं शास्त्रप्रक्रियया विधाप्य विद्याप्रकाशद्वारा विवेकोऽहं तमात्मानं पुनर्ब्रह्मात्मतां प्रापयामीति भावः पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ३१ ॥

अत्र भेदो नाम मुखसन्धेरेकादशमङ्गमुक्तं, तल्लक्षणं यथा—'भेदः प्रोत्साहकरणम्' । प्रस्तुतविधानाय—प्रक्रान्तस्तात्सम्बन्धनिवृत्तिरूपस्य कार्यस्य विधानाय सम्पादनाय । शमादीन्—शमदमप्रभृतीन् ।

इति मैथिलपण्डित-श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते प्रबोधचन्द्रोदय'प्रकाशे'

प्रथमाङ्क—'प्रकाशः' ।



फिर उसे ब्रह्मात्मत्व प्राप्त कराया जाता है ॥ ३१ ॥

इसलिये प्रस्तुत कार्य सिद्ध करनेके लिये शमादिको व्यापारित करता हूँ ।

(मति तथा विवेकका प्रस्थान)

प्रथम अङ्क



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति दम्भः)

दम्भः—आदिष्टोऽस्मि महाराजमहामोहेन। यथा—वत्स दम्भ, प्रतिज्ञातं सामात्येन विवेकेन प्रबोधोदयाय। प्रेषिताश्च तेषु तेषु तीर्थेषु शमदमादयः। स चायमस्माकमुपस्थितः कुलक्षयो भवद्भिरवहितैः प्रतिकर्तव्यः। तत्र पृथिव्यां परमं मुक्तिक्षेत्रं वाराणसीनाम नगरी। तद्भवांस्तत्र गत्वा चतुर्णामप्याश्रमाणां निःश्रेयसविघ्नार्थं प्रयततामिति। तदिदानीं वशीकृतभूयिष्ठा मया वाराणसी। संपादितश्च स्वामिनो यथानिर्दिष्ट

आदिष्टः—आज्ञप्तः। महाराजमहामोहेन—इह मोहस्य सर्वत्रानुल्लङ्घनीयशासनत्वेन महाराजत्वारोपः। आज्ञास्वरूपमभिधत्ते—यथेति० सामात्येन—मन्त्रिसहितेन। ननु न केवलया प्रतिज्ञया किमपि सिद्ध्यति, तत्राह—प्रेषिताश्चेति० एवञ्च प्रतिज्ञापूरणौपयिकप्रयत्नस्यापि प्रारम्भेनोपेक्षा कर्त्तुमुचितेति व्यञ्जितम्। स च—प्रबोधोदयनिमित्तकश्च। उपस्थितः—समीपागतः, प्राप्तावसर इति यावत्। कुलक्षयः—वंशनाशः, प्रबोधोदये मायानिवृत्त्या मायिकवंशनाशः स्वाभाविक एवेति द्रष्टव्येत्थमुक्तम्। भवद्भिः—दम्भादिभिः। अवहितैः—सावधानैः। प्रतिकर्त्तव्यः—निरोद्धव्यः। परमं मुक्तिक्षेत्रम्—उत्कृष्टं मोक्षस्थलम्, तत्र तारकोपदेशेन मोक्षस्यानायासलभ्यतयोत्कृष्टता। वाराणसी काशी, वाराणस्या निर्वचने श्रुतिर्यथा—अथ हैनमत्रिः प्रपच्छ याज्ञवल्क्यम्—य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथहं विजानीयामिति? स होवाच याज्ञवल्क्यः—सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठितः, वरणायामस्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वरणा? काऽसीति? सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषानस्यत इत्यनेनासी भवति'। तत्र-काश्याम्। चतुर्णामाश्रमाणाम्—ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यासनामकानाम्। निःश्रेयसविघ्नार्थम्—मोक्षप्रतिबन्धार्थम्। प्रयतताम्—यत्नं करोतु। (एतावदन्तमा-

---

(दम्भका प्रवेश)

दम्भ—महाराज मोहका आदेश है—'वत्स, दम्भ, सामात्य विवेकने प्रबोधोदयकी प्रतिज्ञा की है, तीर्थोंमें शम आदिको भेज दिया गया है, इस प्रकार हमारे कुलका क्षय उपस्थित है, तुम लोग सावधानीसे उसका प्रतिकार करो।' पृथ्वी पर सर्वोत्कृष्ट मुक्तिक्षेत्र वाराणसी है। इसलिये तुम वहाँ जाकर चारो आश्रमोंमें निःश्रेयसको विघ्नित करनेकी कोशिश करो। तदनुसार हमने अधिकांश भावमें वाराणसी पर अधिकार कर लिया है।

आदेशः। तथा हि मदधिष्ठितैरिदानीम्—

वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै-
र्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्राः क्षपाः।
सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते॥ १॥

(विलोक्य) कोऽप्ययं पान्थो भागीरथीमुत्तीर्य सांप्रतमित एवाभि-

देशस्यावर्त्तनम्) तत्–आदेशस्य पालनीयत्वात्। वशीकृतभूयिष्ठा–अधिकांशेनाधीनतां गमिता। सम्पादितः–पूर्णः कृतः। स्वामिनः–महामोहाख्यस्य प्रभोः। मदधिष्ठितैः–मया नियम्यमानैः मया स्वाधिकारे रक्ष्यमाणैरित्यर्थः, इदं धूर्त्तैरित्यग्रे वक्ष्यमाणस्य विशेषणम्। यतो धूर्त्तैः सर्वतः स्वजालं विस्तार्य स्थितमतो मया स्वामिकार्यं कृतकल्पम्, मम दम्भस्यानुचराणामनुच्छेद्यजालेभ्यो वहिर्गमनस्याशक्यक्रियत्वादिति भावः।

वेश्यावेश्मस्विति० वेश्यावेश्मसु वाराङ्गनागृहेषु सीधु मद्यं तस्य गन्धो यत्र तादृशानां ललनावक्त्राणाम् आसवा मद्यानि तैरामोदितैः लब्धप्रसादैः सुरागन्धवद्रमणीमुखार्पितमदिरापानसक्तैः धूर्त्तैः वञ्चकैर्ममानुजीविभिः निर्भरमन्मथोत्सवरसैः सततप्रवृत्तरतिक्रीडाऽऽनन्दैः उन्निद्रचन्द्राः प्रकाशयुक्तशशाङ्कोद्भासिताः क्षपाः रात्रीः नीत्वा क्षपयित्वा दिवा दिने सर्वज्ञाः सर्वशास्त्रज्ञा इति दीक्षिता यज्ञप्रवृत्ता इति चिरात् वहोः कालात् प्राप्ताग्निहोत्राः अग्निहोत्रिणः इति ब्रह्मज्ञाः आत्मज्ञानवन्त इति तापसाः तपश्चर्यारता इति च प्रकारैरेभिः जगत् संसारः वञ्च्यते प्रतार्यते। ममानुजीविनो वञ्चकाः निशासु वेश्या सद्मनि गत्वा तन्मुखार्पितमद्यं च पीत्वा सुरतक्रीडाप्रसक्ता भूत्वा दिने वञ्चनाचातुर्येण स्वस्य सर्वज्ञतां दीक्षितभावं गृहीताग्निहोत्रव्रतत्वं ब्रह्मज्ञभूयम् विधीयमानतपस्यत्वं च प्रचार्य विश्वं वञ्चयन्तीत्यर्थः। वञ्चनपटुत्वेनात्मनः स्वरूपं गोपयित्वा तैस्तैः प्रकारैरात्मानं ख्यापयन्तीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १॥

पान्थः–पथिकः, यात्रीत्यर्थः। भागीरथीम्–गङ्गाम्। उत्तीर्य–नावा तीर्त्वा।

स्वामीका आदेश हमने पूरा कर दिया है।

क्योंकि हमारे आदमी अब वेश्याओंके घरोंमें मद्यगन्धयुक्त स्त्रीजनके मुखासवसे मस्त होकर सानन्द कामक्रीडासे चांदनी रातें विताकर दिनमें अपनेको सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ तथा तपस्वी घोषित करके दुनियाँको ठग रहे हैं॥ १॥

(देखकर) यह कोई पान्थ भागीरथी पार कर इस समय इधर ही आरहा है।

वर्तते। तथा च यथैषः—

ज्वलन्निवाभिमानेन ग्रसन्निव जगत्त्रयीम्।
भर्त्सयन्निव वाग्जालैः प्रज्ञयोपहसन्निव॥ २॥

तथा तर्कयामि। नूनमयं दक्षिणराढाप्रदेशादागतो भविष्यति। तदे-तस्मादार्यस्याहंकारस्य वृत्तान्तमनुस्मरिष्यामि। (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशत्यहंकारो यथानिर्दिष्टः)

अहंकारः—अहो, मूर्खबहुलं जगत। तथाहि—

नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनं
तत्त्वं ज्ञातमहो न शालिकगिरां, वाचस्पतेः का कथा।

साम्प्रतम्–अधुना, इत एवाभिवर्त्तते–अस्मदध्युषितप्रदेशमेवागच्छति।

ज्वलन्निवेति० अभिमानेन स्वगौरवभावनया ज्वलन् दीप्यमानः इव जगत्त्रयीम् लोकत्रितयम् ग्रसन् कवलीकुर्वन् इव वाग्जालैः शब्दाडम्बरैः भर्त्सयन् निन्दन् इव प्रज्ञया बुद्धया उपहसन् उपहासं कुर्वन् इव दृश्यत इति शेषः॥ २॥

'तथा तर्कयामि' इत्यतः पूर्वम् 'यथैष ज्वलन्निवाभिमानेनेत्यारभ्य प्रज्ञयोपह-सन्निवेत्यन्तं वाक्यं योज्यं ततश्च यथैष प्रोक्तगुणकस्तथा तर्कयामीत्यन्वयार्थः, तर्क-प्रकारं चाग्रे वक्ष्यति—नूनमिति०। नूनम्–निश्चयेन। दक्षिणराढाप्रदेशात्–वाराणस्या परभागेऽवस्थिताद्गौडराष्ट्रात्। गौडराष्ट्रमहङ्कारवसतिरिति प्रसिद्धिमनुरुध्येत्थ-मुक्तम्। एतस्मात्–आगच्छतः पथिकात्। वृत्तान्तम्–समाचारम्। अनुस्मरिष्यामि–ज्ञास्यामि, यथानिर्दिष्टः–अभिमानेन ज्वलन्, जगत्त्रयीं ग्रसन्, वाग्जालं प्रसारयन् स्वां प्रज्ञां च प्रशंसन्नित्यर्थः।

मूर्खबहुलम्—प्रायेणाज्ञानम्, पशुतुल्यमित्यर्थः।

नैवाश्रावीति० गुरोः मीमांसकैकदेशिनः प्रभाकरस्य मतम् सिद्धान्तः नैव अश्रावि

जिस प्रकार यह—

अभिमानसे दमक रहा है, सारे त्रिलोकको ग्रस्तकर रहा है, अपने वाग्जालसे ललकार रहा है, बुद्धि से संसारको हंस रहा है॥ २॥

उससे पता चलता है कि निश्चय ही—यह दक्षिण राढ़ा प्रदेशसे आ रहा है। इसलिये इससे आर्य अहङ्कारकी खबर जान लूंगा। (जाता है)

(यथोक्तरूपमें अहङ्कारका प्रवेश)

अहङ्कार—अहो, संसारमें अधिक मूर्ख ही हैं, क्योंकि—

न गुरुमत सुना, न कुमारिलदर्शन देखा, न शालिकमिश्रकी बातोंका तत्त्व जाना,

सूक्तं नापि महोदधेरधिगतं माहाव्रती नेक्षिता
सूक्ष्मा वस्तुविचारणा नृपशुभिः स्वस्थैः कथं स्थीयते ॥ ३ ॥

(विलोक्य) एते तादवदर्थावधारणविधुराः स्वाध्यायाध्ययनमात्र-

श्रुतम्, कुमारिलस्य भट्टमुख्यस्य मीमांसकस्य दर्शनम् शास्त्रम् न विदितम् नाधिगतम्, अहो आश्चर्यम् शालिकगिराम् प्रभाकरमतानुवर्त्तिनः प्रकरणपञ्चिकाकर्त्तुः शालिकमिश्रस्य वाचाम् तत्त्वं रहस्यम् न ज्ञातम् नाधिगतम्, वाचस्पतेर्न्यायभाष्य-शारीरकभाष्यादिव्याख्यातुर्वाचस्पतिमिश्रस्य का कथा का चर्चा? महोदधेर्भाष्य-सागरस्य सूक्तम् सरलम् वचनम् अपि न अधिगतम् ज्ञातम्, (दुरुक्तानि फक्किका-भूतानि तु दूरे सन्तु) माहाव्रती महाव्रतम् पशुपतिमतं तदीया सूक्ष्मा परिपक्व-बुद्धिविभवमात्रवेद्या वस्तुविचारणा पदार्थप्रक्रिया न ईक्षिता न दृष्टा, (तत्) नृप-शुभिः नरैरपि पशुकल्पैर्ज्ञानशून्यैः कथं केन प्रकारेण स्वस्थैः पण्डितवद्धीरभावमव-लम्ब्य स्थिरैः स्थीयते भूयते ? नरपशव इमे गुरोर्मतं न श्रुतवन्तोऽपि, विशेषजिज्ञासा तु दूरे तिष्ठतु, कुमारिलप्रचारितं भट्टमतं न ज्ञातवन्तः, शालिकमिश्रमतस्य तत्त्वं न ज्ञातुमक्षमन्त, वाचस्पतिमतज्ञानस्य कथाऽपि दूरापास्ता, पाशुपतमतसम्बद्धां सूक्ष्मां वस्तुविचारणामपि नास्पृशन्नथ व्याकरणमहाभाष्यस्य सरलमप्यर्थं नावाधार-यन्नथाप्येते पण्डिता इव स्वस्थभावमवलम्ब्य तिष्ठन्तीति महदद्भुतस्थानमित्यर्थः। प्रभाकरमतस्य पृथक् प्रोक्तावपि पुनः शालिकनामग्रहणमीषदवन्तिरभेदमन्तराधाय-कृतम्, महोदधिपदं महाभाष्यपरं तद्विषये-'भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः' इति कैय-टेनोद्घोषितत्वात्, महाव्रतपदं पाशुपतमतपरं तत्र महाव्रतस्य निरूपितत्वात्, इत्थं किञ्चिदप्यविज्ञाय स्वस्थतयावस्थानं पशुत्वद्योतकमिति बोध्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ३ ॥

विलोक्य दृष्ट्वा, वैदिकान् दृष्ट्वाऽयमुपहासः प्रवृत्तो बोध्यः। एते शुद्धवैदिकाः। स्वा-ध्यायाध्ययनमात्रनिरताः-पदपारायणमात्रपरायणाः। अर्थावधारणविधुराः-वेदार्थनि-श्चयरहिताः, किमेभिर्मन्त्रैरभिप्रेयत इत्यविदन्तः पदपाठमात्रप्रवृत्ताः इत्यर्थः। वेद-विप्लावकाः-वेदविनाशकारिणः, स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थावधारणप्रयोजनकत्वेनार्था-

---

वाचस्पतिकी बात ही क्या ? महोदधिरूप भाष्यका अवलोकन नहीं किया, पाशुपत दर्शनकी बारीक विचारधाराका ज्ञान नहीं प्राप्त किया, फिर भी ये नृपशु शान्तिपूर्वक कैसे बैठे हुए हैं ॥ ३ ॥

(देखकर)

ये लोग अर्थावधारण कर नहीं सकते हैं, केवल वेदपरायण करते हैं अतः वेदके दुश्मन

निरता वेदविप्लावका एव । (पुनरन्यतो गत्वा) एते च भिक्षामात्रगृहीतयतिव्रता मुण्डितमुण्डाः पण्डितंमन्या वेदान्तशास्त्रं व्याकुलयन्ति । (विहस्य)

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थावबोधिनः ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥ ४ ॥

वधारणविमुखजनकृतं वेदाध्ययनमनर्थज्ञकृतपाठस्य सम्प्रदायदूषकत्वेन नितान्तानर्थावहं वेदविनाशकारणञ्च जायत इत्याशयः ।

अन्यतः—अन्यभागे, अत्र भागे संन्यासिनां दर्शनमतस्तानाचिपति—एते चेति० भिक्षामात्रगृहीतयतिव्रताः—भिक्षां केवलामासादयितुं स्वीकृतसंन्यासवेशाः, न तु वास्तविकविरागवशाद्गृहीतप्रव्रज्याः । मुण्डितमुण्डाः—मुण्डितशिरसः । पण्डितंमन्याः—आत्मानं पण्डितं मन्यमानाः । वेदान्तशास्त्रम्—आत्मविचारविद्याम् । व्याकुलयन्ति—कदर्थयन्ति, दूषयन्तीत्यर्थः, अनधिकारिकृतचर्चाया निरतिशयसिद्धान्तमर्मव्यथकतया मूर्खवेदान्तविडम्बकसंन्यासिजनानां वेदान्तशास्त्रव्याकुलताकरत्वं बोध्यम् । अग्रिमश्लोकोऽपि वेदान्तनिन्दामुखेनामीषां वेदान्तिनामेव निन्दामभिप्रैतीति रहस्यम् ।

प्रत्यक्षादीति० प्रत्यक्षम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्, तत् आदिः प्रथमः सर्वोपजीव्यतया मुख्यभूतश्च येषाम् ते प्रत्यक्षादयः, आदिपदमनुमानोपमानशब्दानुपलब्ध्यर्थापत्तीनां ग्राहकम्, तदुद्भवाः प्रमाः अनधिगताबाधितार्थज्ञानानि, तैः सिद्धात् प्रमितात् विरुद्धाः भिन्ना येऽर्थाः तेषाम् अवबोधिनः ज्ञापकाः । प्रत्यक्षप्रमयाऽनुमानादिप्रमया च सिद्धेभ्योऽर्थेभ्यो विरुद्धं पदार्थमभ्युपगच्छन्त इत्याशयः । (तादृशाः) वेदान्ताः उपनिषदः यदि शास्त्राणि लोकशिक्षायै गृहीताविद्याः (भवेयुस्तदा तादृशार्थप्रतिपादकत्वाविशेषात्) बौद्धैः बुद्धमतोपजीविभिः सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकवैभाषिकाख्यया प्रख्यातैः । किम् अपराध्यते विप्रतीपमाचर्यते ? यदमीषां शास्त्रत्वं द्विष्यतेऽथ दूष्यते चेति । वेदान्ताः प्रपञ्चमिथ्यात्वमातिष्ठमानाः प्रत्यक्षादिसिद्धं प्रपञ्चमपलपन्तीति ते प्रत्यक्षादिसिद्धविरुद्धप्रपञ्चासत्यत्वबोधकाः, अथापि

ही हैं। (फिर दूसरी ओर जाकर) ये केवल भीखके लिये संन्यासका वेश लिये हुए हैं, मस्तक घुटवाये हैं, अपनेको पण्डित मानते हैं, इनके द्वारा वेदान्तशास्त्र व्याकुल किया जाता है।

(हंसकर)

प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध जो अर्थ हैं उनके विरुद्ध विषयोंको बताने वाले वेदान्त यदि शास्त्र हैं तो फिर बौद्धोंने कौन सा अपराध किया है ? ॥ ४ ॥

तदेतद्वाङ्मात्रश्रवणमपि गुरुतरदुरितोदयाय। (पुनरन्यतो गत्वा) एते च शैवपाशुपतादयो दुरभ्यस्ताक्षपादमताः पशवः पाषण्डाः। अमीषां संभाषणादपि नरा नरकं यान्ति। तदेते दर्शनपथाद्दूरतः परिहरणीयाः।

(पुनरन्यतो गत्वा) एते च—

गङ्गातीरतरङ्गशीतलशिलाविन्यस्तभास्वद्बृसी-
संविष्टाः कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः करण्डोज्ज्वलाः।

ते शिष्टपरिगृहीता विप्राः, बौद्धा अपि बाह्यपदार्थानामसत्त्वं ब्रुवते परन्तेषां मतानि नास्तिकमतत्वेनानर्थप्रतिपादकतया चोपेक्ष्यन्ते, तत्र कारणीभूतं बौद्धानामपराधं नावधारयाम इति भावः॥ ४॥

एतद्वाङ्मात्रश्रवणम्–वेदान्तिवचनाकर्णनम्, मात्रपदमाचारस्यात्यन्तहेयत्वं ध्वनयति। गुरुतरदुरितोदयाय–महत्तरपापोपपादकम्। अन्यतः–अन्यस्यां दिशि, सार्वविभक्तिकस्तसिः। शैवाः–शिवभक्ताः पाशुपताः=शैवपाशुपताः आदयो येषां ते तथा। पाशुपतमतविषये प्रोक्तम्—'पशुः पाशः पतिश्चेति कथ्यते तत्त्रयं क्रमात्। पाशः प्रकृतिरुद्दिष्टा पुरुषो मायया वृतः॥ सम्बन्धो मलकर्मभ्यां शिवः प्रेरक ईश्वरः'। 'पतिर्विश्वस्य निर्माता पशुपाशविलक्षणः'। अधिकमन्यतो बोध्यम्। दुरभ्यस्ताक्षपादमताः–असम्यग्गृहीतन्यायमताः। इमे पाशुपतादयो न्यायमतनिष्ठापितं वेदप्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्तोऽपि तत्प्रकारग्रहणे विरुद्धमाचरन्तीति ते अक्षपादमतस्यायथावद्ग्रहणाद्दुरभ्यस्ताक्षपादमता उक्ताः। पाषण्डाः–मिथ्याचाराः, ज्ञानाचारयोर्भेद एव पाषण्डत्वमिति साम्प्रदायिकाः। पशवः–सर्वमविशेषेण पश्यन्तीति पशवो मिथ्यादृष्टयः। अमीषाम्–पाषण्डानाम्। संभाषणात्–वार्त्तालापात्। दर्शनपथात्–दृष्टिपातवर्त्मनः। परिहरणीयाः त्यक्तव्याः, यथाऽमी न दृष्टौ पतेयुस्तथा वर्त्तितव्यमिति भावः।

गङ्गातीरेति० गङ्गायास्तीरे तटे तरङ्गैर्गङ्गाजलवीचिभिः शीतला या शिला प्रस्तर-

अतः इनकी बातें सुनना भी महापातकका कारण है। (फिर दूसरी ओर जाकर) ये शैव पाशुपत आदि बुरे ढङ्गसे अक्षपाद मतको जानने वाले पाखण्ड पशु हैं। इनसे बातें करनेसे भी लोग नरकगामी होते हैं।

(फिर दूसरी ओर जाकर)

ये–गङ्गातटमें तरङ्गशीतल शिलापर बिछे हुए आसन पर बैठकर कुशमुष्टिसे दण्डको मण्डित करके कमण्डलु लिये अक्षस्त्रक्के प्रत्येक दाने पर अंगुली घुमाते हुए ये दाम्भिक

पर्यायग्रथिताक्षसूत्रवलयप्रत्येकबीजग्रह-
व्यग्राग्राङ्गुलयो हरन्ति धनिनां वित्तान्यहो दाम्भिकाः ॥ ५ ॥

(पुनरन्यतो गत्वा) एते त्रिदण्डव्यपदेशजीविनो द्वैताद्वैतमार्गपरिभ्रष्टा एव । (अन्यतो गत्वा विलोक्य) अये, कस्यैतद्‍द्वारोपान्तनिखातांति-

खण्डस्तत्र विन्यस्तायां कौशलपूर्वकमास्तीर्णायाम् भास्वत्यां प्रकाशशालिन्यां वृस्यामासने संविष्टाः उपविष्टाः कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः दर्भराशिशोभितदण्डधराः करण्डोज्ज्वलाः कमण्डलुभिः शोभाभृतः पर्यायेण क्रमेण ग्रथितम् पिनद्धम् यदक्षसूत्रवलयम् मणिमालारूपम् तस्य प्रत्येकं बीजग्रहे मणिग्रहणे व्यग्राः चञ्चलाः अग्राङ्गुलयः अङ्गुल्यग्रभागाः येषां ते तथोक्ताः दाम्भिकाः दम्भभाजः धनिनां समृद्धिजुषाम् वित्तानि धनानि हरन्ति गृह्णन्ति, अहो आश्चर्यम् । अमी दम्भवृत्तयो गङ्गासीकरशीतलीकृतानि भास्वराण्यासनान्यधितिष्ठन्तः कुशसनाथदण्डधराः कमण्डलुकृतशोभाभृद्‍भुजाः मणिमयाक्षमालाऽऽवर्त्तनव्यग्राङ्गुलयश्च सन्तो धनिनां धनानि वञ्चकवृत्त्याऽनया तान्प्रतार्य हरन्ति, न च तेऽमीषां वञ्चनावृत्तिमिमां बुध्यन्त इत्याश्चर्यमित्यर्थः । मुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति वृसी, उपदेशकासनम् । कारण्डपदं कमण्डलुपरम् , तथा चोक्तं कमण्डलुप्रकरणे स्मृतौ—'वेणुमान् स कमण्डलुः, करण्डः स्यात्' इति । एते हि त्रिदण्डिनो धनिजनवञ्चनायैव सुरधुनीतीरे भव्यान्यासनान्यध्यध्य कमण्डलूँश्चाग्रतो निधाय तपोभ्रमं जनयितुमिव मणिमयाक्षमाला आवर्त्तयन्ति, नैतेषां वास्तविकी तपस्तृषा, तथात्वे तैरेकान्तस्य स्थानस्यान्वेषणं कृतं स्यादिति विवचितं बोध्यम् । पूर्वोक्तलक्षणं शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

त्रिदण्डव्यपदेशजीविनः—त्रिदण्डिताया व्याजेन जीविकार्जनासक्ताः, न तु वस्तुतो विरक्ताः । द्वैताद्वैतमार्गपरिभ्रष्टाः, ते हि द्वैताद्वैतमतं भास्करप्रवर्त्तितमातिष्ठन्तेऽतः द्वैतमपि नातिष्ठन्ते न वाऽद्वैतम् , उभयस्वरूपं च किञ्चन न संभवति तेजस्तिमिरयोरिव परस्परविरुद्धयोर्द्वैताद्वैतयोः सामञ्जस्यासंभवादतः द्वैतादद्वैताच्चापि परिभ्रष्टाश्च्युता एत इत्यर्थः । भास्करप्रवर्त्तितमतस्य द्वैताद्वैतरूपत्वं ग्रन्थान्तरतोऽवसेयम् ।

द्वारोपान्तेति० द्वारोपान्ते द्वारदेशे निखातानि रोपितानि यानि प्रांशूनि उच्चानि वंशकाण्डानि वंशस्तम्भाः तेषु ताण्डवितानि वायुचञ्चलतया प्रवृत्तनृत्यानि धौतानि परिधानवस्त्राणि सितानि सूक्ष्माणि अम्बराणाम् उत्तरीयादिप्रकारकाणाम् । सहस्राणि

लोग धनिकोंके धनका हरण कर रहे हैं ॥ ५ ॥

(फिर दूसरी ओर जाकर)

यह किसका आश्रम मण्डल है जिसके दरवाजे पर गड़े हुए वंशस्तम्भों पर डाले गये

प्रांशुवंशकाण्डताण्डवितधौतसितसूक्ष्माम्बरसहस्रमितस्ततो विन्यस्तकृष्णाजिनदृषदुपलसमिच्चपालोलूखलमुसलमनवरतहुताज्यगन्धिधूमश्यामलितगगनमण्डलममरसरितो नातिदूरे विभात्याश्रममण्डलम् । नूनमिदं कस्यापि गृहमेधिनो गृहं भविष्यति । भवतु । युक्तमस्माकमतिपवित्रमेतद्द्वित्रिदिवसनिवासस्थानम् । (प्रवेशं नाटयति) । (विलोक्य च) अये,

मृद्विन्दुलाञ्छितललाटभुजोदरोरः-
कण्ठोष्ठपृष्ठचिबुकोरुकपोलजानुः ।

यत्रेत्येकं गृहविशेषणम् । इतस्ततः यत्र तत्र । विन्यस्तानि स्थापितानि कृष्णाजिनानि आसनभावेनोपयुज्यमानानि मृगचर्माणि, दृषत्, उपलम्, (एतौ प्रस्तरखण्डभेदौ यज्ञोपयोगिनौ) समित् काष्ठम्, चपालः पात्रभेदः, उलूखलमुसले स्वनामख्याते अवहननसाधनायापेद्यमाणे, यत्रेति द्वितीयं गृहस्यैव विशेषणम्, अनवरतम् सततम् हुतस्य हवनकर्मीकृतस्य आज्यस्य घृतस्य गन्धो यत्र तेन धूमेन श्यामलितं कृष्णीकृतं गगनमण्डलं यत्रेति तृतीयं तद्विशेषणम् । अमरसरितः–देवापगाया गङ्गायाः । नातिदूरे–अनतिविप्रकृष्टम् । इयं चतुर्थं विशेषणम् । आश्रममण्डलम्–आश्रमः आसमन्तात् श्राम्यन्ति तपसा कायं क्लेशयन्ति यत्रेति विग्रहेण श्रोत्रियभवनपरम्, तन्मण्डलम् तदाकारं भवनमित्यर्थः । नातिदूरशब्दे–नैकशब्दवत्सुप्सुपेति समासो बोध्यः, नञा समासे त्वनतिदूरे इति स्यात् । अतिपवित्रम्–अतिशयपूतम् । इदम्–गृहमेधिनो गृहम् । द्वित्रदिवसनिवासस्थानम्–अस्थायिवासोपयुक्तं स्थलम् ।

मृद्विन्द्विति० मृदुना बालेन इन्दुना चन्द्रमसा (अत्र बालचन्द्राकृतिचन्दनचिह्नं बालचन्द्रत्वेनोपचर्यमाणं बोध्यम्) लाञ्छितानि ललाटः भालदेशः, भुजो बाहुः, उदरं कुक्षिः, उरो वक्षः, कण्ठो गलदेशः, ओष्ठम् अधरः, पृष्ठम् पश्चाद्भागः, चिबुकम् हनुः, कपोलौ मुखपार्श्वे, जानू जङ्घे च यस्य सः, तत्तदङ्गेषु बालचन्द्राकृतिचन्दन-

---

स्वच्छ वस्त्र हिलडोल रहे हैं, जहाँ कृष्णाजिन, प्रस्तरखण्ड, समिधा, चपाल, ऊखल, मुसल पड़े हैं और जो सतत होमके होते रहनेके कारण धूम निकलता रहता है और सुगन्धि फैलती रहती है । अवश्य ही यह किसी गृहमेधी का घर होगा । अस्तु, इस पवित्र स्थानमें हम दो चार रोज ठहर सकते हैं ।

(देखकर) अरे,

ललाट, बाहु, उदर, कण्ठ, ओष्ठ, पीठ, गाल आदि स्थानों पर चन्द्राकार चन्दन

चूडाग्रकर्णकटिपाणिविराजमान-
दर्भाङ्कुरः स्फुरति मूर्त इवैष दम्भः ॥ ६ ॥

भवतूपसर्पाम्येनम् । (उपसृत्य) कल्याणं भवतु भवताम् । (दम्भो हुंकारेण निवारयति)

(प्रविशति बटुः)

बटुः—(ससंभ्रमम्) ब्रह्मन्, दूरत एव स्थीयताम् । यतः पादौ प्रक्षाल्य एतदाश्रमपदं प्रवेष्टव्यम् ।

अहंकारः—(सक्रोधम्) आः पाप, तुरुष्कदेशं प्राप्ताः स्मः यत्र श्रोत्रियानतिथीनासनपाद्यादिभिरपि गृहिणो नोपतिष्ठन्ति ।

चिह्नं धारयन्नित्यर्थः । चूडाग्रे शिरोदेशे कर्णयोः श्रवणयोः कटौ कटिप्रदेशे पाण्योर्हस्तयोश्च विराजमानः शोभमानो दर्भाङ्कुरो नवकुशो यस्य तादृशश्च मूर्त्तः शरीरधारी दम्भ इव एषः पुरो दृश्यमानो जनः स्फुरति प्रकाशते । तं तं वञ्चनाप्रकारं बिभ्रदयं जनो मूर्त्तो दम्भ इव राजत इत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

उपसर्पामि—समीपं गच्छामि । हुङ्कारेणेति० सर्वंनमस्याय मह्यमाशिषः प्रयुञ्जानः कोऽपि महापराधीति तस्मै हुङ्कारप्रयोगः ।

बटुः—दम्भशिष्यः । ब्रह्मन्निति सोपहासं सम्बोधनं, वास्तविक्यां तु ब्रह्मत्वबुद्धौ दूरतः स्थीयतामिति कथनमनवसरप्राप्तं स्यादिति बोध्यम् ।

तुरुष्कदेशम्—यवनजनपदम् । श्रोत्रियान्—वेदाध्यायिनः । अतिथीन्—अभ्यागतान् । आसनपाद्यादिभिः—आसनं विष्टरः, पाद्यं पादार्थमुदकम्, तदादिभिः तत्प्रभृतिस्तत्प्रथमैर्वोपचारैः । गृहिणः—गृहस्थाः । नोपतिष्ठन्ति—न सत्कुर्वन्ति । नूनं तुरुष्कदेशोऽयं यत्रैतावत्यप्यतिथिसपर्या गृहस्थैर्न क्रियते इति भावः ।

लगाये तथा शिखा, कान, कटि देश और हाथोंमें कुश लिये हुये यह तो शरीरधारी दम्भ-सा लग रहा है ॥ ६ ॥

अस्तु—मैं इसके पास जाता हूं । (समीप जाकर) जय हो । (दम्भ हुंकार द्वारा वारण करता है)

(बटुका प्रवेश)

बटु—(घबड़ाहटके साथ) महाराज, अलग ही रहना, क्योंकि पाँव धोकरके इस आश्रममें प्रवेश करनेका नियम है ।

अहङ्कार—(क्रोधसे) आः पाप, क्या हम तुर्कोंके देशमें पहुंच गये हैं जहाँ पर श्रोत्रिय अतिथिओंको आसन पाद्य आदि से भी सत्कृत नहीं किया जाता है ।

दम्भः—(हस्तसंज्ञया समाश्वासयति)

बटुः—एवमाराध्यपादा आज्ञापयन्ति दूरदेशादागतस्यार्यस्य कुलशीलादिकं न सम्यगस्माकं विदितम् ।

अहंकारः—आः कथमस्माकमपि कुलशीलादिकमिदानीं परीक्षितव्यम् । श्रूयताम्—

गौडं राष्ट्रमनुत्तमं निरुपमा तत्रापि राढापुरी
भूरिश्रेष्ठकनाम धाम परमं तत्रोत्तमो नः पिता ।
तत्पुत्राश्च महाकुला न विदिताः कस्यात्र तेषामपि
प्रज्ञाशीलविवेकधैर्यविनयाचारैरहं चोत्तमः ॥ ७ ॥

आराध्यपादाः—मम गुरवो दम्भाः । अज्ञातकुलस्य भवतः कथं सत्कारो विधीयतामिति प्रतीक्षैवास्माकं सत्कारप्रवृत्तौ विलम्बे कारणमिति तदुक्तेराशयः ।

कुलम्-वंशः । शीलम्-स्वभावः । परीक्षितव्यम्—कोटिनिर्धारणपूर्वकं प्रश्नादिना निर्धारणीयम् ।

गौडमिति० अनुत्तमम् सर्वोत्कृष्टम् गौडम् राष्ट्रम् देशः, तत्र गौडे अपि निरुपमा असमाना राढा तदभिख्यया प्रथमाना पुरी नगरी, तत्र राढा पुर्याम् अपि भूरिश्रेष्ठकनाम तदभिधानम् परमम् उत्कृष्टम् धाम गृहम् , तत्र धामनि उत्तमः सर्वश्रेष्ठः नः पिता जनयिता । तत्पुत्राः तस्य मम पितुः सुताः महाकुलाः । सद्वंशप्रसूताः (वयम् सर्वे भ्रातरः) अत्र वाराणस्यां कस्य न विदिताः ज्ञाताः, तेषाम् अस्माकं सर्वेषां सोदराणामपि मध्ये च प्रज्ञाशीलविवेकधैर्यविनयाचारैः बुद्धिस्वभावज्ञानगम्भीरत्वनम्रताचरित्रचारुत्वैः अहम् अहङ्कारः उत्तमः श्रेष्ठः अस्मीति शेषः । यस्य मम विश्वविदिते गौडराष्ट्रे समुद्भवः, तद्राष्ट्रालङ्कारभावं भजन्ती राढापुरी वसतिः,

दम्भ—(हाथके इशारेसे आश्वासन देता है)

बटु—गुरुदेवकी आज्ञा होती है कि दूर देशसे आये हुए आपके कुल तथा शील हम ठीकसे नहीं जान सके हैं ।

अहङ्कार—(क्रोधसे) आः, क्या हमारे कुल–शील की भी अब परीक्षा करेंगे ? सुनलें—गौड़ एक अनुपम देश है, उसमें निरुपमेय राढ़ा नामकी नगरी है, जहाँ भूरिश्रेष्ठक वास करते हैं। उन भूरिश्रेष्ठकोंमें उत्तम हमारे पिता हैं । महाकुलप्रसूत उनके पुत्र किसे नहीं विदित हैं, उनमें भी प्रज्ञा, शील, विवेक, धीरता, विनय और आचारसे मैं उत्तम कहा जाता हूं । ७ ॥

(दम्भो बटुं पश्यति)

बटुः—(ताम्रघटीं गृहीत्वा) भगवन्, पादशौचं विधीयताम् ।

अहंकारः—(स्वगतम्) भवतु । कोऽत्र विरोधः । एवं क्रियते । (तथा कृत्वोपसर्पति)

दम्भः—(दन्तान् संपीड्य बटुं पश्यति)

बटुः—दूरे तावत्स्थीयताम् । वाताहताः प्रस्वेदकणिकाः प्रसरन्ति ।

अहंकारः—अहो, अपूर्वमिदं ब्राह्मण्यम् ।

बटुः—ब्रह्मन्, एवमेतत् । तथाहि—

अस्पृष्टचरणा ह्यस्य चूडामणिमरीचिभिः ।

तत्राप्युत्कृष्टं भूरिश्रेष्ठकं नाम गृहम्, तत्रापि गृहे सर्वोत्कृष्टतया प्रथमानो जनो जनयिता, मम सोदर्याः सर्वेऽपि वाराणस्यामिह प्रसिद्धा एव तेष्वपि स्वीयप्रज्ञादिभिरहं प्रथिततमस्तथापि मम कुलशीलादिकमत्र परीक्षितव्यं मन्यत इति महदनौचित्यमिति भावः, शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ७ ॥

पादशौचम्–चरणप्रक्षालनम् । अत्र—पादशौचानुष्ठाने ।

वाताहताः—पवनचलिताः । प्रस्वेदकणिकाः–भवद्देहस्थितघर्मजलबिन्दवः । प्रसरन्ति–भवद्देहाच्चतुर्दिक्षु व्याप्नुवन्ति ।

ब्राह्मण्यम्–ब्राह्मणाचारः । सोपहासमिदं वचनम्, उपहासकारणं चातिशयिताडम्बरदर्शनम् । एवमेतत्–भवता यदुपहस्यते तदत्रत्यं स्वभाविकं न कृत्रिममतो नोपहास्यमिति तात्पर्यम् ।

अस्पृष्टचरणा इति० अस्पृष्टचरणाः पादस्पर्शं कर्त्तुमसमर्थाः भूपालाः राजानः अस्य दम्भस्य पादपीठान्तभूतलम् पादपीठसमीपगतधरित्रीतलम् चूडामणिमरीचिभिः

(दम्भ बटुकी ओर देखता है)

बटु—(ताम्र घट लेकर) महाराज, चरण पखार लें ।

अहङ्कार—(स्वगत) अस्तु, इसमें क्या विरोध है । ऐसा कर ही लेता हूं ।

(पैर धोकर समीप जाता है)

दम्भ –(दांत पीसकर बटुको देखता है)

बटु—महाराज, जरा अलग ही रहना, हवाके साथ पसीनेकी बूंदें उड़कर आरही हैं ।

अहङ्कार—अहा ! कैसा अपूर्व ब्राह्मणत्व है ।

बटु—महाराज, यही तो बात है क्योंकि इनके चरणों को न छूकर भूपाल लोग

नीराजयन्ति भूपालाः पादपीठान्तभूतलम् ॥ ८ ॥

अहंकारः—(स्वगतम्) अये, दम्भग्राह्योऽयं देशः । (प्रकाशम्) भवतु । अस्मिन्नासने उपविशामि । (तथा कर्तुमिच्छति)

बटुः—मैवम् । नाराध्यपादानामन्यैरासनमाक्रम्यते ।

अहंकारः—आः पाप, अस्माभिरपि दक्षिणराढाप्रदेशप्रसिद्धविशुद्धिभिर्नाक्रमणीयमिदमासनम् । शृणु रे मूर्ख,

नास्माकं जननी तथोज्ज्वलकुला सच्छ्रोत्रियाणां पुन-
र्व्यूढा काचन कन्यका खलु मया तेनास्मि ताताधिकः ।

मुकुटमाणिक्यरश्मिभिः नीराजयन्ति आरार्त्तिक्यक्रिययोपचरन्ति । दम्भस्य गौरवेणागता राजानोऽपि साक्षादस्य पादौ न स्प्रष्टुमीशते, किन्तु पादपीठपरिसर एव नमितशिरसो मुकुटावस्थितरत्नप्रभाभिस्तस्य स्थानस्य नीराजनामाचरन्तीत्यहो पूताचारत्वकृता प्रशस्तिरिति भावः ॥ ८ ॥

दम्भग्राह्यः—दम्भेन मिथ्याऽऽडम्बरेण वशीभावं नेयः ।

मैवम्—नेत्थमत्रासने उपवेष्टव्यमित्यर्थः । आराध्यपादानाम्–गुरुदेवानाम् । आक्रम्यते–उपविश्यते ।

पाप–पापाचारिन् , पापपदं तद्वति लाक्षणिकमर्श आद्यजन्तं वा । प्रसिद्धविशुद्धिभिः–प्रख्यातपवित्रभावैः । इदम्–दम्भसम्बन्धि ।

नास्माकमिति० अस्माकं जननी न तथोज्ज्वलकुला प्रशस्तवंशप्रसूता, (यथा मम नायोज्ज्वलकुला) मया पुनः सच्छ्रोत्रियाणाम् साधुवेदाध्यायिनाम् काचन कन्या व्यूढा परिणीता, तेन सच्छ्रोत्रियकन्यापरिणयनकृतेन गौरवेण ताताधिकः पितुरुत्कृष्टः अस्मि ।

अपने मस्तकालङ्कारकी किरणोंसे इनके पादपीठको ही उद्भासित करते हैं ॥ ८ ॥

अहङ्कार—(स्वगत) अरे, यह देश दम्भग्राह्य है । (प्रकाश) अस्तु, इस आसन पर बैठता हूं । (वैसा करना चाहता है)

बटु—ऐसा मत कीजिये । गुरुदेवके आसन पर अन्य जन नहीं बैठते हैं ।

अहङ्कार—आः पाप, क्या राढा देशमें प्रसिद्ध पराक्रम तथा शुद्धि वाले हम भी इस आसन पर नहीं बैठ सकते हैं ? सुन मूर्ख,—

हमारी मां उतने ऊंचे कुलकी नहीं थी, लेकिन हमने श्रोत्रियकी कन्यासे व्याह कर लिया है अतः मैं पिताजी से बड़ा हूं । हमारे सालेके भाञ्जेकी लड़कीको मिथ्याकलङ्क

अस्मच्छ्यालकभागिनेयदुहिता मिथ्याभिशस्ता यत-
स्तत्संपर्कवशान्मया स्वगृहिणी प्रेयस्यपि प्रोज्झिता ॥ ९ ॥

दम्भः—ब्रह्मन्, यद्यप्येवं तथाप्यस्माकमविदितवृत्तान्तो भवान्। तथाहि—

सदनमुपगतोऽहं पूर्वमम्भोजयोनेः
सपदि मुनिभिरुच्चैरासनेषूज्झितेषु।
सशपथमनुनीय ब्रह्मणा गोमयाम्भः-
परिमृजितनिजोरावाशु संवेशितोऽस्मि ॥ १० ॥

अस्मच्छ्यालकस्य मम स्त्रियो भ्रातुः यः भागिनेयः भगिनीपुत्रः तस्य दुहिता कन्या यतः यस्मात् मिथ्याऽभिशस्ता कलङ्कवत्तया ख्यापिता, तत्सम्पर्कवशात्। तत्कृत-परम्परासम्बन्धशालित्वात् मया प्रेयस्यपि प्रियतमाऽपि स्वगृहिणी स्वभार्या प्रोज्झिता त्यक्ता। मम माता यादृशे वंशे जनुरग्रहीत्ततोऽधिकपूते वंशे जातया कन्यया सह मम विवाहो जात इति हेतोरहं स्वपितुरुत्कृष्टोऽस्मि, नैतावदेव मम चारित्रगौरवं किन्तु मम श्यालकस्य यो भागिनेयस्तस्य दुहिता खलैर्मिथ्याऽशोभनाचारत्वेन प्रख्यापिता, तत्सम्बन्धवशात् पारम्पर्येण तत्संबन्धिकोटौ गणनीयत्वादन्यादृशदोषा-भावेऽपि प्रेयस्यपि स्वभार्या मया त्यक्तेति भावः। ईदृशाचारपूतेनापि मयाऽऽ-सनमिदमाक्रमणीयमिति ब्रुवाणस्त्वं किमिति न त्रपसे इति प्रसङ्गरहस्यम्। 'श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

एवम्—भवदुक्तं सत्यम्; अविदितवृत्तान्तः—अज्ञातकुलशीलादिसमाचारः।

सदनमिति॰ अहम् पूर्वम् अम्भोजयोनेः ब्रह्मणः सदनम् ब्रह्मलोकम् उपगतः प्राप्तः, सपदि मदुपस्थितिक्षण एव उच्चैः अतिशयेन मुनिभिः तत्र स्थितैः ऋषिभिः आसनेषु स्वाध्युषितविष्टरेषु मदादरार्थम् उज्झितेषु त्यक्तेषु ब्रह्मणा गोमयाम्भःपरि-मृजितनिजोरौ गोमयेन गव्येन अम्भसा पयसा च परिमृजिते शुद्धतांगमिते निजोरौ स्वोरुदेशे सशपथम् शपथपूर्वकम् अत्र त्वयाऽवश्यमुपवेश्यम्, यदि तथा न करोषि, मम शपथस्तवेति प्रकारेण बलवदागृह्य अनुनीय सविनयप्रदर्शनमाशु शीघ्रमुप-

लग गया, इसलिये हमने अपनी प्यारी धर्मपत्नीका भी त्याग कर दिया ॥ ९ ॥

दम्भ—महाराज, यद्यपि आपका कहना ठीक है फिर भी हमारे लिये आपका वृत्तान्त अज्ञात है। देखिये—

कुछ दिन पूर्व मैं ब्रह्माके घर गया था, वहां जाने पर मुनियोंने हमारे सत्कारमें अपने आसन छोड़ दिये। ब्रह्माने शपथ देकर मुझे अपनी जङ्घा पर बैठाया जिसे उन्होंने जल तथा गोमयसे धोकर पवित्र कर लिया था ॥ १० ॥

अहंकारः—(स्वगतम्) अहो, दाम्भिकस्य ब्राह्मणस्यात्युक्तिः। (विचिन्त्य) अथवा दम्भोऽयम्। भवत्वेवं तावत्। (प्रकाशम्) आः, किमेवं गर्वायसे। (सक्रोधम्)

अरे क इव वासवः कथय कोऽत्र पद्मोद्भवो
वद प्रभवभूमयो जगति का मुनीनामपि।
अवेहि तपसो बलं मम पुरन्दराणां शतं
शतं च परमेष्ठिनां पततु वा मुनीनां शतम्॥ ११॥

वेशितः स्थापितोऽस्मि। ब्रह्मलोकं गते मयि सपदि ऋषयोऽभ्युत्थाय सदकुर्वन्माम्, ब्रह्मा चात्मनः स्वतः पूतमप्यूरुदेशं मदुपवेशनानर्हं प्रतीत्य तत्काल एवाम्भःसहायेन गोमयेन प्रक्षाल्य मदुपवेशयोग्यतां लम्भयित्वा तत्र सशपथमनुनीयोपवेशितोऽभूवमिति। ब्रह्मणाऽपि तथाऽऽद्रियमाणस्य मम गौरवे तव का विचिकित्सेति भावः। मालिनीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति॥ १०॥

दाम्भिकस्य—दम्भेन जीवतः। अत्युक्तिः–अतिशयिता उक्तिः, उक्तावतिशयश्चायथाविषयकत्वम्। गर्वायसे–गर्ववानिवाचरसि, गर्ववच्छब्दात् 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक्।

अरे क इति० अरे इति साधिक्षेपं दम्भसंबोधनम्, वासवः इन्द्रः क इव कीदृशः? तस्यापि चरितं गुरुतल्पगमनं प्रसिद्धम्। पद्मोद्भवः ब्रह्मा अत्र गौरवतारतम्ये कः कतमः? तस्यापि निजकन्याऽभिकत्वं नाविदितम्। मुनीनां व्यासादीनां जगति प्रभवभूमयः उत्पत्तिस्थानानि कानि? इति वद कथय। व्यासस्य धीवरकन्यागर्भसम्भूतत्वम्, अगस्त्यस्य घटयोनिता, ऋष्यशृङ्गस्य हरिण्या जन्मेति कथाः प्रतीङ्गितं कृतम्। मम तपसः तपश्चर्यायाः बलम् सामर्थ्यम् अवेहि जानीहि, पुरन्दराणाम् इन्द्राणाम् शतम्, परमेष्ठिनां च शतम् मुनीनां वा शतम् पततु, मत्तपःसामर्थ्यस्य पुरतः का कथा शतस्येन्द्राणाम् परमेष्ठिनाम् मुनीनां वेति तात्पर्यम्। तदेवं सामर्थ्यशालिनो मम पुरतो विकत्थना तव लज्जां न जनयतीत्याश्चर्यम्

अहङ्कार—(स्वगत) अहा, इस दाम्भिक ब्राह्मणकी बातें तो सुनो। (सोचकर)

अथवा—यह तो दम्भ ही है। अस्तु। (प्रकाश) आः, क्यों इतना घमण्ड कर रहा है। (क्रोधसे)

अरे, कहो तो इन्द्र कौन है? ब्रह्माकी क्या हस्ती है? बताओ इन मुनियोंकी पैदाइश कहाँ से हुई है? मेरी तपस्यामें वह शक्ति है जिसके सामने सैकड़ो इन्द्र तथा ब्रह्माको झुकना पड़े॥ ११॥

दम्भः—(विलोक्य । सानन्दम्) अये, आर्यः पितामहोऽस्माकमहङ्कारः । आर्य, दम्भो लोभात्मजोऽहं भो अभिवादये ।

अहंकारः—वत्स, आयुष्मान्भव । बालः खल्वसि मया द्वापरान्ते दृष्टः । संप्रति चिरकालविप्रकर्षाद्वार्धक्यग्रस्ततया च न सम्यक्प्रत्यभिजानामि । अपि त्वत्कुमारस्यानृतस्य कुशलम् ?

दम्भः—अथ किम् ? सोऽप्यत्रैव महामोहस्याज्ञया वर्तते । न हि तेन विना मुहूर्तमप्यहं प्रभवामि ।

अहंकारः—अथ तव मातापितरौ तृष्णालोभावपि कुशलौ ?

इति परमार्थः ॥ पृथिवी वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति ॥ ११ ॥

आर्यः–पूज्यः । पितामहः–पितृपिता । लोभात्मजः–लोभप्रभवः । अभिवादये–प्रणमामि । द्वापरान्ते–कलियुगादौ । बालः–अप्रौढः, अल्पप्रचार एवास्य बाल्यं बोध्यम् । चिरकालविप्रकर्षात्–बहुसमयव्यवधानात् । वार्धक्यग्रस्ततया–जरागृहीतत्वेन । प्रत्यभिजानामि–दृष्टिमान्द्येन परिचिनोमि । त्वत्कुमारस्य तव सूनोः । अनृतस्य–मिथ्याभाषणस्य । दम्भोऽनृतस्य पिता, तज्जनकत्वादिति बोध्यम् ।

अत्र–वाराणस्याम् । महामोहस्य–प्रभोर्मोहराजस्य । तेन–अनृतेन । अनृतं विना दम्भो न शक्नोत्यवस्थातुमिति तथोक्तम् ।

कुशलौ–सकुशलावित्यर्थे प्रयुज्यमानेऽत्र कुशलाविति पदेऽर्श आद्यजन्तता मन्तव्या । तृष्णालोभौ–तृष्णा–यावदीप्सितद्रव्यप्राप्तावपि पुनस्ततोऽधिकद्रव्याकाङ्क्षा, लोभो नाम स्वद्रव्यापरित्यागपूर्वकपरद्रव्यजिघृक्षा ।

दम्भ--(देखकर, प्रसन्नतासे) अरे, आप तो हमारे पितामह अहङ्कार हैं । आर्य, लोभका पुत्र दम्भ मैं आपको प्रणाम करता हूं ।

अहङ्कार--बच्चा, जीते रहो । मैंने बालकरूपमें तुम्हें द्वापरके अन्तमें देखा था, उसे बहुत दिन हुए इसलिये और मैं बूढ़ा हो गया हूं, इसलिये भी मैं तुम्हें ठीकसे नहीं पहचान सका । तुम्हारा पुत्र अनृत तो कुशल से है न ?

दम्भ--और क्या ? वह भी महामोहकी आज्ञासे आजकल यहीं पर है । उसके विना एक क्षणके लिये भी हमारा प्रभुत्व नहीं रहता है ।

अहङ्कार—और तुम्हारे मां बाप तृष्णा और लोभ भी तो सकुशल हैं ।

दम्भः—तावपि राज्ञो महामोहस्याज्ञयाऽत्रैव वर्तेते। तयोर्विना क्षणमपि न तिष्ठामि। आर्यमिश्रैः पुनः केन प्रयोजनेनात्र प्रसादः कृतः।

अहंकारः—वत्स, मया महामोहस्य विवेकसकाशादत्याहितं श्रुतम्। तेन तद्वृत्तान्तं प्रत्येतुमागतोऽस्मि।

दम्भः—स्वागतमेवार्यस्य। यतो महाराजस्यापीन्द्रलोकादत्रागमनं श्रूयते। अस्ति च किंवदन्ती यद्देवेन वाराणसी राजधानी वस्तुं निरूपितेति।

अहंकारः—पुनः किं वाराणस्यां सर्वात्मना मोहस्यावस्थानकारणमिति।

दम्भः—आर्य, ननु विवेकोपरोध एव। तथाहि—

तौ–तृष्णालोभौ। तयोः–पित्रोः तृष्णालोभयोः, अत्र विनापदयोगे कथं षष्ठीति चिन्त्यम्। आर्यमिश्रैः–पूज्यैर्विद्वद्भिश्च, मिश्रपदस्य पण्डितपरत्वं प्रसिद्धम्। केचित्तु षड्दर्शनज्ञो मिश्र इत्याहुः। प्रसादः–स्वागमनेनानुग्रहः।

विवेकसकाशात्–विवेकतः। अत्याहितम्–महाभीतिः, उच्छेदरूप इत्यर्थः। अयं बिन्दूपन्यासो वेदितव्यः, बिन्दुलक्षणं यथा–'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' इति। अत्र दम्भाहङ्कारयोः संवादेन कथाविच्छेदे पुनरविच्छेदहेतुर्महामोहस्य विवेकसकाशादत्याहितं श्रुतमिति पुनः कथानुसरणरूपो बिन्दुः। प्रत्येतुम्–अवधारयितुम्।

महाराजस्य–महामोहस्य। स च विषयेष्वासक्तिविशेषहेतुरहं ममाभिमानरूपः, तथोक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञकाः। यद्यपि शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेष्वनुरक्तिरूपतया दशविधो महामोहस्तथापि विषयभेदाद्दशविधोऽपि वस्तुतस्त्वेक एवेत्यवधारणीयम्'। अत्र–वाराणस्याम्। किंवदन्ती–जनश्रुतिः। वस्तुं निरूपिता–आवासस्थानत्वेन वृता। सर्वात्मना-सर्वथा, अवस्थानकारणम्-आवासहेतुः।

विवेकोपरोधः–विवेकस्य परिपन्थिनः उपरोधनम् निरोधनम्।

दम्भ—वे भी मोहकी आज्ञासे यहीं हैं। उनके बिना मैं क्षणभर भी नहीं रह सकता हूं। आपने किस प्रयोजनसे यहाँ पधारनेकी कृपा की है?

अहङ्कार—बच्चा, मैंने सुना कि विवेकसे महामोहको महाभय उपस्थित है, इसीको ठीकसे जानने आया हूं।

दम्भ—स्वागत है आपका। महाराज भी इन्द्र लोकसे यहाँ आरहे हैं ऐसा सुननेमें आया है। यह भी अफवाह है कि महाराजने काशीको ही अपने वासके लिये चुना है।

अहङ्कार—सर्वथा काशीमें वसनेके लिये मोहको क्या कारण मिला?

दम्भ—आर्य, विवेकको रोकना ही। क्योंकि—

विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमिर्वाराणसी ब्रह्मपुरी निरत्यया।
असौ कुलोच्छेदविधिं चिकीर्षुर्निवस्तुमत्रेच्छति नित्यमेव ॥ १२ ॥

अहंकारः—(सभयम्) यद्यप्येवमशक्यप्रतीकार एवायमर्थः। यतः—

परममविदुषां पदं नराणां पुरविजयी करुणाविधेयचेताः।

विद्येति० ब्रह्माकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्विद्या, ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्त्युपहितं चैतन्यं च प्रबोधोदयः, तयोर्जन्मभूमिः उत्पत्तिस्थानम्, निरत्यया अविनाशिनी ब्रह्मपुरी शिवनगरी वाराणसी काशी अस्तीति शेषः। वाराणस्या ज्ञानक्षेत्रतया निखिलप्रलयेऽपि न नाशः, अत्र ब्रह्मपुरीति शब्दे ब्रह्मपदं च शिवपरम्, तदुक्तम्—'ब्रह्मज्ञानं प्रधानञ्च क्षेत्रज्ञोङ्कारबुद्धयः। मोक्षो हिरण्यगर्भश्च मन्त्रो वेदः शिवस्तथा' इति। कुलोच्छेदविधिम् मायिकवंशविनाशकार्यम् चिकीर्षुः कर्त्तुं कामयमानः असौ विवेकः अत्र वाराणस्याम् नित्यमेव सततम् निवस्तुम् वासं कर्त्तुम् इच्छति कामयते। विवेको नाम मायाप्रसूतमनोजनितत्वान्मायावंशप्रभवोऽपि मतिमान्द्यवशान्मायिकवंशं विनाशयितुं कामयमानोऽत्र वाराणस्यां सार्वदिकं स्वं वासं कर्त्तुमिच्छति, यतोऽविनाशिनीयं शिवपुरी विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमितया प्रसिद्धा। अत्र निवत्स्यतो विवेकस्योपरोधार्थमेव महामोहस्यात्रागमनं जातमिति भावार्थः। अन्योऽपि राजा स्वविरोधिभूपतिं विजयावहसैन्याद्युपकरणसञ्चयप्रवृत्ततया तदुपपादनसौविध्यशालिनि क्वचन क्षेत्रे वासमाचरन्तं संभाव्य तदुपरोधार्थं तदागमात्पूर्वमेव तत्रावासं विरचयतीति मनसिकृत्यायं व्यवहारसमारोपः। इन्द्रवज्रावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति ॥ १२ ॥

यद्यप्येवम्, आचर्यते मोहेनेति योजनीयम्, यद्यपि मोहस्येयं चेष्टा प्रवर्त्तताम्, तथापि अशक्यप्रतीकारः—अवरोद्धुमशक्यः। मोहो यथेच्छं चेष्टतां विवेकोऽपरोधाय परं विवेकाभिमतो विद्याप्रबोधोदयोऽत्र वाराणस्यां प्रतिबन्धुमशक्य इति भावः।

परममिति० परमम् पदम् ब्रह्मस्वरूपम् अविदुषाम् अजानताम् ब्रह्मज्ञानरहितानाम् नराणाम् भगवान् सर्वसामर्थ्यशाली करुणाविधेयचेताः कारुणिकहृदयः पुर-

---

विद्या तथा प्रबोधोदयकी जन्मभूमि यह नित्या काशीपुरी ही है, अपने कुलके उच्छेद की इच्छासे सदा वे यहीं वास करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

अहङ्कार—(भयसे) यद्यपि इस तरह तो इसका कोई उपाय है भी नहीं। क्योंकि—

परमतत्त्वको नहीं जाननेवाले जब मरने लगते हैं तब महादेव दया करके भवभय से

कथयति भगवानिहान्तकाले भवभयकातरतारकं प्रबोधम् ॥१३॥

दम्भः—सत्यमेतत्तथापि नैतत्कामक्रोधाभिभूतानां सम्भाव्यते । तथा ह्युदाहरन्ति तैर्थिकाः—

'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च तीर्थं च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १४ ॥' इति ।

विजयी शिवः अन्तकाले प्राणप्रयाणसमये भवभयेन सांसारिकभीत्या कातराणां सभयानां तारकम् उद्धरणसमर्थम् प्रबोधम् । इह वाराणस्याम् कथयति उपदिशति । इह काश्यां कारुणिकः शिवो ब्रह्मज्ञानवञ्चितेभ्यो जनेभ्यस्तदन्तकाले मुक्तिप्रदं तारकमन्त्रमुपदिशन्ति येन ते सद्य एव मुक्ता भवन्तीति भावः । तथा चोक्तम्—'मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यति तं मन्त्रं समुक्तो भविता शिवः' 'मुमूर्षोर्मणिकर्ण्यन्तरर्धोदकनिवासिनः । अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्' । भगवानन्तकालेऽत्र तारकस्योपदेशतः, अविमुक्तस्थितान् जन्तून्मोचयेन्नात्र संशयः । इति । काश्यां मोक्षस्य सर्वसाधारणलभ्यतया महामोहचिकीर्षितो विवेकोपरोधो न सिद्ध्यति तदशक्यप्रतीकार एवात्र विवेकवास इति भावः । पुष्पिताग्रावृत्तमिदम् 'अयुजि नयुगरेफतो जकारो युजि च नजौ जरजाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ॥

एतत्—सर्वेषामेव काशीवासिनां भगवता चरमसमये तारकोपदेशतो मोच्यमानत्वम् ।

यस्येति० यस्य जनस्य पादौ चरणौ सुसंयतौ निषिद्धसञ्चारपराङ्मुखौ, हस्तौ च सुसंयतौ अप्रतिग्रहौ, मनश्च सुसंयतम् परद्वेषाकाम्यकामनादिनिवृत्तम्, विद्या सुसंयता परप्रतारणादिविमुखी, तपः व्रतादिसुसंयतम् दम्भेनासंस्पृष्टम्, तीर्थम् योनिरुपस्थेन्द्रियम् सुसंयतम् अनिषिद्धगामि, सतीर्थफलम् काशीरूपतीर्थलभ्यमोक्षरूपं फलमश्नुते प्राप्नोति । सामान्यतः काशीक्षेत्रे मृतानां मोक्षमुपदिशतां शास्त्राणां विशेषशास्त्रेणानेनैकवाक्यतयाऽर्थसङ्कोचे काश्यामपि संयतानामेव तीर्थफलाधिगम इति नियमितं बोध्यम् । अत्र सुसंयतशब्दस्य विभक्तिलिङ्गयोर्विपरिणामेन सर्वत्रान्वयो बोध्यः । उक्तश्चायमर्थो विस्तारेण काशीखण्डे उत्तरभागे षण्ण-

---

बचानेके लिये उन्हें तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं ॥ १३ ॥

दम्भ—यह ठीक है, फिर भी काम और क्रोधसे अभिभूत लोगों के विषयमें ऐसी सं भावना नहीं है । शास्त्रकारों ने कहा है—

जिस व्यक्तिके हाथ-पैर तथा मन संयत हैं और विद्या तथा तप भी ठिकाने हैं वही व्यक्ति तीर्थफल प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

दम्भः—(नेपथ्ये) भो भोः पौराः, एष खलु संप्राप्तो देवो महामोहः। तेन,

निष्यन्दैश्चन्दनानां स्फटिकमणिशिलावेदिकाः संस्क्रियन्तां
मुच्यन्तां यन्त्रमार्गाः प्रचरतु परितो वारिधारा गृहेषु।
उच्छ्रीयन्तां समन्तात्स्फुरदुरुमणयः श्रेणयस्तोरणानां
धूयन्तां सौधमूर्धस्वमरपतिधनुर्धामचित्राः पताकाः॥ १५॥

चतितमेऽध्याये—'अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ तच्च ज्ञानं भवेत् पुंसां सम्यक् काशीनिषेवणात्। काशीनिषेवणात्तस्माद्विश्वेशो करुणोदयः॥ ततो महोदयावाप्तिः कर्मनिर्मूलनक्षमा। ततः काश्यां प्रयत्नेन स्नानं दानं तपो जपः॥ व्रतं पुराणश्रवणं स्मृत्युक्ताध्वनिषेवणम्॥ प्रतिक्षणं प्रतिदिनं विश्वेशपदचिन्तनम्'॥ इत्यादि॥ काशीमरणस्य परम्परया ज्ञानलाभद्वारैव मोक्षप्रयोजकता न सद्यस्तथात्वे तारकोपदेशवैयर्थ्यापत्तेः। काश्यामपि कैवल्यमुक्तेः शास्त्रसिद्धत्वाज्जीवन्मुक्तिरुच्यमानाऽर्थवादतयानेया। एतेन सर्वेणात्राप्यस्त्यस्माकं प्रसङ्गेन मोहस्य स्फूर्जथोरवकाशस्तत्प्रयत्नो न त्याज्य इत्याश्वासना व्यक्ता॥ १४॥

संप्राप्तः–समागतः। तदस्य स्वागताय प्रवर्त्तध्वं, तेन स्वागतप्रकारस्य वक्ष्यमाणस्यावसरः।

निष्यन्दैरिति० चन्दनानां मलयाचलप्ररूढसुगन्धिद्रव्याणां निष्यन्दैः पिष्टैर्लेपैः सेचनैश्च स्फटिकमणिशिलावेदिकाः स्फटिकमणिविरचितानि चत्वराणि संक्रियन्तां परिष्क्रियन्ताम्। यन्त्रमार्गाः जलयन्त्रद्वाराणि मनोविनोदार्थमापणेषु विरचितानि मुच्यन्ताम् प्रवृत्तकार्याणि विधीयन्ताम्। गृहेषु राजोपयुक्तप्रासादेषु वारिधारा परिष्कारसाधनायापेक्ष्यमाणा जलधारा परितः सर्वतः प्रचरतु प्रसारं लभताम्। स्फुरन्तः प्रकाशमाना उरवः स्थूलाः मणयो यासु तादृश्यः स्फुरदुरुमणयः तोरणानाम् बहिर्द्वाराणाम् श्रेणयः पङ्क्तयः समन्तात् सर्वदिगवच्छेदेन उच्छ्रीयन्ताम्। बध्यन्ताम्। सौधमूर्धसु प्रासादशिखरेषु अमरपतिधनुर्धामचित्राः इन्द्रधनुःप्रभानानारूपाः पताका ध्वजाः धूयन्ताम् कम्पमानभावं प्राप्यन्ताम्। अत्र वेदिसंस्कारयन्त्र-

दम्भ—(नेपथ्यमें) अरे ओ नागरिको, ये महाराज मोह आ गये, इसलिये—

चन्दनके लेपसे स्फटिक शिलासे बनी वेदिकाओंका संस्कार किया जाय, फब्वारे खोल दिये जांय, घरोंमें पानी पटाया जाय, मणियुक्त तोरण सर्वत्र लटकाये जांय और प्रासादों पर इन्द्रधनुषके समान चित्रवर्ण पताकायें लटका दी जांय॥ १५॥

दम्भः—आर्य, प्रत्यासन्नोऽयं महाराजः। तत्प्रत्युद्गमनेन संभाव्यतामार्येण।

अहंकारः—एवं भवतु। (निष्क्रान्तौ)

(प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति महामोहो विभवतश्च परिवारः)

महामोहः—(विहस्य) अहो, निरङ्कुशा जडधियः।

आत्मास्ति देहव्यतिरिक्तमूर्तिर्भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्।

प्रवर्त्तनाभ्यामापणश्रृङ्गारः, वारिधारया समस्तपुरीसंस्कारः, तोरणबन्धनेन राजगृहाणां विशिष्टः परिष्कारः, पताकाधूननेन नगरद्वारपरिष्कारो बोधितः। स्रग्धरावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति ॥ १५ ॥

अत्र विलासो नाम प्रतिमुखसन्धेः प्रथममङ्गमुक्तं, तल्लक्षणं यथा—'दृष्टार्थविषयामीहां विलासं परिचक्षते' इति।

प्रत्यासन्नः—अतिसमीपागतः। प्रत्युद्गमनेन—आगच्छन्तं जनं सत्कर्त्तुं तत्समीपगमनं प्रत्युद्गमनं तेन। सम्भाव्यताम्—आद्रियताम्।

प्रवेशकः—'अङ्कयोर्मध्यवर्ती च नीचपात्रप्रवेशितः। विष्कम्भ इव नान्यज्ञैः प्रवेशक इति स्मृतः'। इति प्रवेशकलक्षणं, सङ्गतिः सरला। यद्यपि दम्भाहङ्कारयोः सर्वदूषकत्वान्नीचपात्रतया प्राकृतभाषाप्रयोगः प्राप्तः, तथापि 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः' इति वचनात् संस्कृतभाषाश्रयणं तयोर्दूषकतास्वभाववत्तयैव नीचत्वं न तु जात्येति हृदि निधाय कृतं बोध्यम्।

निरङ्कुशाः—नियन्त्रणरहिताः, किमपि निषेधकं शास्त्रमनाद्रियमाणाः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषये स्वतन्त्रा इत्यर्थः, जडधियः—मूर्खाः।

आत्मास्तीति॰ देहव्यतिरिक्तमूर्त्तिः शरीरभिन्नः आत्मा जीवः अस्ति, सः आत्मा

दम्भ—आर्य, ये समीपमें ही तो महाराज हैं, अतः अगवानीसे आप उन्हें सत्कृत करें।

अहङ्कार—अच्छी बात है। (दोनों जाते हैं)

(प्रवेशक)

(महामोह तथा विभवानुसार परिवारका प्रवेश)

महामोह—(हंसकर) अहा ! ये मूर्ख कितने निरङ्कुश हैं।

शरीरसे भिन्न आत्मा है, वह लोकान्तरमें फलका भोग करता है, यह आशा वैसी ही है

आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात्प्रथीयसः स्वादुफलप्रसूतौ ॥ १६ ॥

इदं च स्वकल्पनाविनिर्मितपदार्थावष्टम्भेन जगदेवं दुर्विदग्धैर्वञ्च्यते। तथाहि—

यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकै-
र्वाचालैर्बहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्याः कृता नास्तिकाः।

लोकान्तरितः स्वर्गं गतः फलानाम् इह जन्मनि कृतानां कर्मणां परिणामानाम् भोक्ता अस्ति, इयमाशा एतादृशी श्रद्धा प्रथीयसः स्थूलमूलात् आकाशतरोः प्रसूनात् पुष्पात् स्वादुफलप्रसूतौ रम्यफलोदये आशा इत्यर्थः। यथा कश्चिदुन्मत्तोऽत्यन्तासतो गगनकुसुमात् फलोदयविषयामाशां मनसि पुष्णेत्तद्वदेवमपि बुद्धिर्यदस्ति देहव्यतिरिक्त आत्मा स च लोकान्तरगतः सन्निह कर्मणि कृतानां कर्मणां फलान्युपभोक्तेति। चार्वाकमतेनेदमुक्तम्, ते हि-पृथिव्यादीनि चत्वारिभूतानि तत्त्वानि, तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते, तेषु च विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तच्चैतन्यविशिष्टो देह एवात्मा, तदतिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्। अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव स्वर्गः, कण्टकक्षतादिजन्यं दुःखमेव नरकः, परलोककल्पना तु धूर्त्तानामित्याहुः। निदर्शनालङ्कारः। स्पष्टमन्यत् ॥ १६ ॥

स्वकल्पनाविनिर्मितपदार्थावष्टम्भेन स्वकल्पनाप्रसूतपदार्थाङ्गीकारेण। परमार्थविचारणासिद्धवस्तुस्वीकारेण तु नैवं वक्तुं शक्यतेति बोध्यम्। दुर्विदग्धैः = धूर्त्तैः। वञ्च्यते—प्रतार्यते।

यन्नास्त्येवेति० यद् वस्तु पदार्थः देहातिरिक्तात्माऽपूर्वादिकं प्रत्यक्षानुपलभ्यतयानास्त्येव (एवकारो भिन्नक्रमः) नैवास्ति अत्यन्तासन्, इति प्रमापितम्, तद्वस्तु अस्ति इति मृषा व्यर्थं जल्पद्भिः वदद्भिः बहुभिः भूरिसंख्यैः आस्तिकैः वेदप्रामाण्यवादिभिः नास्तिकाः वेदप्रामाण्यमनभ्युपगच्छन्तो वयम् सत्यवचसः प्रामाणिककथाव्याहारिणः निन्द्याः निन्दापात्राणि कृताः विहिताः। स्वयमसत्यमर्थं शरीरातिरिक्ताः पूर्वाद्यस्तित्वरूपमुच्चैर्घोषयन्तोऽमी वैदिकाः प्रमाणसिद्धतदभाववादिनामस्माकं नास्तिकानामेव निन्दां प्रचारयन्तीत्येषां वाचालतामात्रं

जैसे आकाश वृक्षसे बड़े बड़े फलों की आशा ॥ १६ ॥

इस संसारको ये बेवकूफ लोग अपनी कल्पना द्वारा गढ़े गये पदार्थों से ठग रहे हैं। देखिये—

जो वस्तु है ही नहीं, वह है इस तरह की झूठी बात कहने वाले आस्तिकोंने

हंहो पश्यत तत्त्वतो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणो
दृष्टः किं परिणामरूपितचितेर्जीवः पृथक्कैरपि ॥ १७ ॥

अपि च न केवलं जगदात्मैव तावदमीभिर्वञ्च्यते। तथाहि—

तुल्यत्वे वपुषां मुखाद्यवयवैर्वर्णक्रमः कीदृशो
योषेयं वसु चापरस्य तदमुं भेदं न विद्मो वयम्।

न तु वस्तुतत्त्वमित्याशयः। हंहो इदं साहङ्कारं संबोधनम्, यथा जयदेवीये चन्द्रालोके हंहो चिन्मयचित्तचन्द्रमणय इत्यत्र। तत्त्वतः पश्यत तत्त्वविचारणां कुरुत, छिन्नात् छेदनकर्मतां गमितात् इतः अस्मात् वर्ष्मणः देहात् किञ्च परिणामरूपितचितेः। परिणामेन पृथिव्यादिरूपान्तरतापत्त्या रूपिता उत्पादिता चितिः चैतन्यं यस्य ततः देहात् पृथक् भिन्नः जीवः सचेतन आत्मा किम् कैरपि कैश्चित् भवद्भिः यदि पुनर्दृष्टः प्रत्यक्षीकृतः। पृथिव्यादिभूतान्येव संहतानि सन्ति संयोगविशेषमहिम्ना चेतयन्ते यथा क्रमुकादीनां मिलितानां रागजनकत्वं न तु तदतिरिक्तः कोऽप्यस्ति चेतन आत्मा, यदि सोऽभविष्यदवश्यमतो देहाच्छिद्यमानान्निर्यास्यन्केनाप्यद्रक्ष्यत न चादृश्यतातो नास्ति तादृश आत्माऽथापि तदस्तित्वमुच्चैर्घोषयन्तो वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तारो वैदिका यदस्मान्सत्यवचो निन्दन्ति तत्तेषां प्रचारमात्रमिति सारांशः। आस्तिकनास्तिकशब्दौ 'अस्तिनास्तिदिष्टंमतिः' इति पाणिनीयसूत्रेण ठकि सिध्यतः। अस्तिदिष्टमिति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्तिदिष्टमिति मतिर्यस्य स नास्तिकः। 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

न केवलं जगत्–वञ्च्यत इति संबध्यते, न हि केवलस्य लोकस्य प्रतारणमेभिरास्तिकैः क्रियते, किन्तु स्वात्माऽपि प्रतार्यते, तादृशाभिप्रायधारणेनोपनततत्तद्भोगपराङ्मुखताऽऽपादनात्। तथाहि–आत्मापि वञ्च्यत इत्युक्तौ प्रमाणं दर्शयतीत्यर्थः।

तुल्यत्व इति० मुखाद्यवयवैः आस्यनासादिभिः शरीरावयवविशेषैः तुल्यत्वे साधारण्ये सत्यपि वर्णक्रमः कीदृशः शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणादिसंज्ञया जातिव्यवस्था कीदृशी किंमूला च। ब्राह्मणादीनां शूद्राणाञ्च करपादाद्यवयवसाम्येऽपि जातिव्यवस्थाकारणं नावधार्यत इत्यर्थः। इयम् परस्य योषा वनिता इदं परस्य धनम्, स्वम्, तत् तत्र वयम् चार्वाकमतानुवर्त्तिनोऽमुम् अन्यैरास्थीयमानम् भेदं पृथग्भावं

वृथा ही नास्तिकोंकी निन्दा की है। जरा देखिये तो, क्या खण्डित होनेवाले इस शरीरसे, जो सङ्घातभूत चैतन्य है, क्या पृथक् जीवको किसीने देखा है ? ॥ १७ ॥

और केवल संसारको ही नहीं, अपनेको भी ये धूर्त्त ठगा करते हैं, क्योंकि—

सभीके मुखादि अवयव समान ही हैं फिर जात-पात क्या चीज है ? यह स्त्री तथा

हिंसायामथवा यथेष्टगमने स्त्रीणां परस्वग्रहे
कार्याकार्यविचारणा हि यदमी निष्पौरुषाः कुर्वते ॥ १८ ॥

(विचिन्त्य, सश्लाघम्) सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रं यत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि, अर्थकामौ पुरुषार्थौ भूतान्येव चेत-

न विद्मः न जानीमः। इयमन्यस्य स्त्री परकीयमिदं धनमिति कृत्वा परस्त्रीप्रवृत्तिः परधनापहृतिश्च यन्निन्द्यते तत्र परकीयताबीजस्यास्वीकारेण नास्माकमास्थेति भावः। तदनेन तन्मते सर्वासामपि वनितानां स्त्रीत्वादेवोपभोगयोग्यतां प्रति सर्वेषां धनानां च धनत्वादेव ग्राह्यतां प्रतीङ्गितं कुर्वता संयमास्तेयव्रतादेरुपहासः कृतो वेद्यः। हि प्रसिद्धौ, हिंसायां तृप्तये प्राणिवधेऽथवा स्त्रीणां यथेष्टगमने कासामपि वनितानां कुत्रापि समये रमणे परस्वग्रहे परकीयधनापहारे यत् यस्मात् अमी निष्पौरुषाः सामर्थ्यशून्याः (अतः) कार्याकार्यविचारणाः कुर्वते इदं कर्त्तव्यम् इदमकर्त्तव्यमिति विवेचयन्ति, सति तूपभोगसामर्थ्येऽमीषामपि नेयं स्थितिः स्यादतथाभावादेवेमे परानपि तथोपदिशन्तो मत्सरिण इत्येषामुक्तिषु प्रत्ययो न कार्य इति भावः। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १८ ॥

श्लाघा-गुणकीर्त्तनं तेन सहेत्यर्थः।

लोकायतम्-लोके आयतम् विस्तृतम्, स्वारसिकप्रवृत्त्यनुमोदकस्यास्य लोकायतमिति संज्ञा, चार्वाकमतसंज्ञेयम्। यत्र लोकायते मते। प्रत्यक्षमेव-प्रत्यक्षमात्रम्, अनुमानस्य न प्रामाण्यं सहचारग्रहस्याविनाभावस्य दुर्बोधत्वात्, तदप्रामाण्ये च शब्दादिप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुमशक्यमिति प्रत्यक्षमात्रप्रामाण्यमुशन्ति चार्वाकाः। पृथिव्यप्तेजोवायवः, आकाशस्य तु न तत्त्वान्तरत्वं तस्याप्रत्यक्षतयाऽलीकत्वात्, पुरुषार्थौ-पुरुषैरर्थ्यमानतया काम्यौ। धर्ममोक्षयोः परलोकफलप्रदत्वेनाप्रत्यक्षग्राहग्रस्तत्वात् अर्थकामावेव पुरुषार्थौ इति। भूतानि-पृथिव्यप्तेजोवायवः। चेतयन्ते-चैतन्यं जनयन्ति देह इति शेषः, पृथिव्यादीनां चतुर्णां तत्त्वानां शरीररूपेण परिणामे परिणामविशेषस्वाभाव्यात्तेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, यथा किण्वादिभ्यो मदशक्तिरिति भूतानामेव चेतनतायां तदाश्रयात्मसिद्धिर्वृथेति तात्पर्यमिति बोध्यम्। परलोकः—स्वर्गनरकादिः, परलोको नास्ति, प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणानभ्युपगमात्, परलोकस्य

सम्पत्ति हमारी है और यह दूसरोंकी है इस भेदको मैं नहीं समझ पा रहा हूं। यह नामर्द है, अतएव दूसरे की हिंसा तथा परस्त्रीगमनमें दोष बताते हैं ॥ १८ ॥

(सोचकर, खुशीसे) सर्वथा शास्त्र है बौद्धागम, जिसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण तथा पृथिवी जल तेज वायु तत्त्व हैं, अर्थ और काम दो ही पुरुषार्थ हैं, भूतोंको ही चैतन्य है। परलोक

यन्ते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः। तदेतदस्मदभिप्रायानुबन्धिना वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्। तेन च शिष्योपशिष्यद्वारेणास्मिल्लोके बहुलीकृतं तन्त्रम्।

(ततः प्रविशति चार्वाकः शिष्यश्च)

चार्वाकः—वत्स, जानासि दण्डनीतिरेव विद्या। अत्रैव वार्तान्तर्भवति। धूर्तप्रलापस्त्रयी। स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्। पश्य—

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि यज्वनाम्।

शब्दप्रमाणैकसमर्थत्वात्। आत्मनो भोक्तुः स्थिरस्याभावोऽपि परलोकाभावे कारणत्वेनोपस्थाप्यते। मृत्युः—देहपातः, मोक्ष इति परप्रसिद्धिमनुरुध्योक्तं, यमन्ये मोक्षमाहुः सोऽत्र मते मृत्युरेवेति भावः। अस्मदभिप्रायानुबन्धिना—मदाशयानुरोधिना। वाचस्पतिना—गुरुणा। चार्वाकाय—तदभिधानाय। चारु—रमणीया वाक् उक्तिर्यस्येति विग्रहे चार्वाकपदसिद्धिः, उकारलोपः पृषोदरादिः। तेन—चार्वाकेण। शिष्योपशिष्यद्वारेण—शिष्यपरम्परया। बहुलीकृतम्—प्रचारितम्। तन्त्रम्—शास्त्रम्। 'ततः' इत्यत्र द्वितीयपताकास्थानत्वं, सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्त्तितमिति तल्लक्षणयोगात्, यत्र सहसैव सशिष्यचार्वाकरूपपात्रप्रवेशात्।

दण्डनीतिः—राजनीतिः, नान्वीक्षिक्यादयस्तत्र वेदप्रामाण्यसमर्थनस्य कृतत्वादित्थयुक्तम्। वार्ता—अर्थानर्थप्रतिपादकं नीतिशास्त्रम्। अत्रैव—राजनीतावेव। त्रयी—वेदत्रयी। धूर्त्तप्रलापः—वञ्चकजनवचनानि। वेदानां धूर्त्तप्रलापतां समर्थयितुं तत्प्रतिपाद्य स्वर्गादेरसम्भवित्वं वक्ष्यत्यग्रेऽनुपदमेव।

स्वर्ग इति० कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे—कर्त्तारः यज्ञविधायका ऋत्विजः, क्रियाः होमादयः, द्रव्यम् यज्ञविधौ प्रयुज्यमानं पुरोडाशादि, तेषाम् विनाशे अपाये, कर्त्तुः कालक्षेपवशान्मृत्युनाऽपायः, क्रियायाः कतिपयक्षणोत्तरमेवापायः, तत्रोपयुज्यमानद्रव्याणामपि नातिचिरेणैवापायस्तदेवं सर्वेषामभावे (अपि) यज्वनाम् यज्ञं कृतव-

---

नहीं है। मरना ही अपवर्ग है। हमारी रुचिके अनुसार वाचस्पतिने इस शास्त्रका निर्माण करके चार्वाकको समर्पित किया और चार्वाकके शिष्योपशिष्यों द्वारा यह शास्त्र लोकमें फैला।

(अनन्तर चार्वाक तथा शिष्यका प्रवेश)

चार्वाक—वत्स, जानते हो दण्डनीति ही विद्या है, वार्त्ताका भी इसीमें अन्तर्भाव है। वेद तो धूर्त्तों की बेतुकी बातें हैं। वेदों ने जो स्वर्गकी बात कही है उसमें क्या विशेषता है। देखो—

कर्त्ता, क्रिया, साधन द्रव्य आदिके नाश हो जाने पर यज्ञ करनेवालोंको यदि स्वर्ग

ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद्भूरि भूरुहाम् ॥ १९ ॥

अपि च—

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥ २० ॥

अपि च—

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥ २१ ॥

ताम् यदि स्वर्गः स्यात् ततः तर्हि दावाग्निदग्धानाम् वनवह्निभस्मीकृतानाम् भूरुहाम् वृक्षाणाम् भूरि बहु फलम् स्यात् । प्रयोजकाभावसाम्येऽपि यदि प्रध्वस्तात्कर्मणः फलोदयस्वीकारे दग्धात् पादपात् फलोत्पत्तिरपि स्वीकर्त्तव्या स्यादिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

निहतस्येति० यज्ञे ज्योतिष्टोमादियागे निहतस्य हिंसाकर्मतां गमितस्य पशोः छागादेः यदि स्वर्गप्राप्तिः स्वर्गाख्यकल्पितसुखातिशयावाप्तिः इष्यते 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'तत्र हतानां छागादीनां स्वर्गगतिश्च जायत' इति वदद्भिरास्तिकैरास्थीयते तदा तत्र ज्योतिष्टोमादौ यजमानेन यागप्रवृत्तेन आस्तिकेन स्वपिता स्वजनकः कस्मात् कुतो हेतोः न हन्यते ? पशुर्हतो यदि स्वर्गं गच्छति तर्हि यजमानः स्वर्गं प्रापयितुं स्वं पितरमपि तत्रैव हन्तु, तावतैवाल्पेन प्रयत्नेन तत्पिता स्वर्गं यास्यति, कृतं तत्स्वर्गप्राप्तये प्रयत्नान्तरानुष्ठानेनेत्यर्थः । अनेन देवयज्ञप्रतिपादकं शास्त्रं दूषितमिति बोध्यम् ॥ २० ॥

मृतानामिति० श्राद्धम् श्रद्धया कृतं दशाहपिण्डदानादि मृतानाम् प्राणैस्त्यक्तानाम् अपि जन्तूनां प्राणिनाम् चेत् तृप्तिकारणम् सन्तोषसाधनम् , तदा स्नेहः तैलम् निर्वाणस्य अग्निशिखया वियुक्तस्य प्रदीपस्य शिखाम् ज्वालाम् सम्वर्धयेत् , यदि मृतस्यापि जन्तोःश्राद्धेन तृप्तिर्जायते तदा निर्वाणे दीपे न्यस्तं तैलं तदीयामपि शिखां समेधयितुं शक्नुयान्न च शक्नोति, तत् पुत्रकृतेन श्राद्धेन मृतस्य पितुरपि तृप्तिर्न भवितुं शक्नोतीति भावः । अनेन पितृयज्ञप्रतिपादकं शास्त्रं दूषितं वेदितव्यम् ॥२१॥

मिलता है तो दावाग्निदग्ध वृक्षोंमें बहुतसे फल भी होंगे ॥ १९ ॥

और—यदि यज्ञमें निहत पशुओंको स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिताओंको यज्ञमें क्यों नहीं मारते हैं ॥ २० ॥

और—यदि मरे लोगोंको श्राद्धद्वारा तृप्ति प्राप्त होती है तो बुझे हुए दीपमें तेल डालिये और उसकी शिखा बढ़ जायगी ॥ २१ ॥

शिष्यः—आचार्य, यद्येष एव परमार्थः पुरुषस्य यत्खाद्यते पीयते। तर्हि किमित्येतैस्तीर्थैः संसारसौख्यं परिहृत्यात्मा घोरघोरतरैः पराक-सान्तपन-षष्ठकालाशनप्रभृतिभिर्दुःखैः कस्मात् खेद्यते ? (आचालिअ, जई एसो जेव्व पलमत्थो पुलिसस्स जं खज्जए पिज्जए। ता किंति एदिहिं तित्थेहिं संसालसुहं पलिहलिअ आप्पा घोलघोलतलेहिं पलाअ-सांतवन-सट्ठका आप्पासनप्पहुदिहिं दुःखेहिं कुदो खविज्जदि)

चार्वाकः—धूर्तप्रणीतागमप्रतारितानामाशामोदकैरियं तृप्तिर्मूर्खाणाम्। पश्य पश्य—

कालिङ्गनं भुजनिपीडितबाहुमूलं
भुग्नोन्नतस्तनमनोहरमायताक्ष्याः।

परमार्थः-सिद्धान्तः। तैर्थिकैः-तीर्थविश्वासिभिः। संसारसौख्यम्-अङ्गनाऽऽलिङ्गनादिजन्यं वैषयिकं सुखम्। परिहृत्य-विहाय। घोरघोरतरैः-अतिकठोरैः। पराकः-स्वनामख्यातः। सान्तपनम्-तदाख्यया प्रसिद्धम्। षष्ठकालाशनम्-षष्ठ्यां सन्ध्यायाम् भोजनम्, इदमप्येकं व्रतम्। खेद्यते-कष्टमाप्यते। यदि खाद्यते पीयत इत्येव सिद्धान्तसिद्धोऽर्थस्तदाऽलमात्मानमेभिः पराकादिभिरायासं जनयित्वेति भावः।

धूर्त्तप्रणीतागमप्रतारितानाम्-वञ्चकजननिर्मितशास्त्रवञ्चितानाम्। आशामोदकैः-कल्पनामात्रस्थितैर्लड्डुकैः। इमे हि मूर्खा वास्तविकं भौतिकं सुखं विहाय भाविस्वर्गादिकाल्पनिकं वञ्चकप्रणीतशास्त्रप्रमापितं सुखं कामयमानाः कष्टानि सहन्ते, सोऽयमेषां प्रयासो मनःकल्पितमोदकैस्तृप्तिरिव मूलं न स्पृशतीति तात्पर्यम्।

कालिङ्गनमिति० भुजनिपीडितबाहुमूलम् भुजाभ्यां नायकबाहुभ्याम् निपीडितम् दृढं धृतं यद्बाह्वोर्मूलमादिभागः यत्र तथा अत एव भुग्नोन्नतस्तनम् नम्रीभवदुच्छ्रितकुचम् अतश्च मनोहरम् हृदयम् आयताक्ष्याः विशाललोचनायाः आलिङ्गनम्

शिष्य—आचार्य, यदि खाना-पीना ही पुरुषोंके लिये परमार्थ है तो फिर संसार सुखको छोड़कर इन तीर्थोंमें भ्रमणसे तथा घोरतर पराक सान्तपन षष्ठकालाशन प्रभृति दुःखोंसे क्यों आत्माको तकलीफ देते हैं।

चार्वाक—धूर्तों द्वारा निर्मित आगमसे वञ्चित मूर्खोंकी यह आशामोदक तृप्ति है। देखो—बाहुसे बाहुमूलको दबाकर उन्नतस्तनी ललनाओंका आलिङ्गन कहाँ और मूर्खों द्वारा

भिक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहै-
देहोपशोषणविधिः कुधियां क्व चैषः ॥ २२ ॥

शिष्यः—आचार्य, एवं खलु तैर्थिका आलपन्ति यद्दुःखमिश्रितं संसारसुखं परिहरणीयमिति। (आचालिअ, एवं खु तित्थिआ आलवन्ति जं दुःखमिस्सिदं संसालसुहं पलिहलणीअं त्ति)

चार्वाकः—(विहस्य) आः, दुर्बुद्धिविलसितमिदं नरपशूनाम्।

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।

आश्लेषः क्व कुत्र? भिक्षा भैक्षचर्यम्, उपवासः उपोषणम्, नियमाः चान्द्रायणादयः, अर्कमरीचिदाहः पञ्चाग्निव्रतादयः सूर्यनिविष्टदृष्टिता वा, तैः, कुधियाम् नष्टमतीनाम् एषः देहोपशोषणविधिः कायक्लेशकरं कर्म च क्व? नोभयोर्मनागपि सादृश्यमस्तीति भावः। दृढमङ्गनामाश्लिष्य तदुच्चकुचसम्पर्कजन्य आनन्द क्व? क्व चायं कायक्लेशकरो व्रतादिनियमो मूर्खैरेभिरुपदिष्टः? तदेतयोस्तुलनायां प्रागुक्तमेव स्वादुतया प्राथम्यं भजमानमत एव चादरणीयमिति बोध्यम्। वसन्ततिलकं वृत्तम्, प्रागुक्तं च तल्लक्षणम् ॥ २२ ॥

दुःखमिश्रितम्–दुःखसङ्कीर्णम्, विषसंपृक्तमिष्टान्नवत् सांसारिकसुखमपि परत्रदुःखसङ्कीर्णतया त्याज्यमिति भावः। दुर्बुद्धिविलालितम्–बुद्धिदोषविजृम्भितम्। नरपशूनाम्–पशुतुल्यनराणाम्, तेषां पशुत्वं च हेयोपादेयार्थपरिज्ञानाभावात्, तथा त्वं चादेयमिह सुखं परित्यज्य मिथ्याभूतपरत्रसुखविषये प्रवृत्तिमत्त्वात् ॥

त्याज्यमिति॰ विषयसङ्गमजन्म–विषयाः स्रक्चन्दनवनिताद्याः। पदार्थाः तेषाम् सङ्गम उपभोगस्ततो जन्म प्रभवः यस्य तादृशं वैषयिकम् सुखम् आनन्दः दुःखोपसृष्टम् तदपगमादिकारणवशाज्जायमानेन कष्टेन युक्तम् अतः पुंसाम् त्याज्यम् अनुपादेयम् इति एषा एवं प्रकारा मूर्खविचारणाऽज्ञानजनधारणा। 'भोः' इदं

आदृत भिक्षा उपवास नियम सूर्यकिरणदाह आदिसे देहको कष्ट देना कहाँ? ॥ २२ ॥

शिष्य—तैर्थिकोंका कहना है कि दुःखमिश्रित होनेके कारण संसारिक सुख परिहरणीय है।

चार्वाक—(हंसकर) आः! यह तो उन नरपशुओंकी दुर्बुद्धिका विलास है। विषय संगमसे होनेवाला सुख दुःखमिश्रित होनेके कारण त्याज्य है यह मूर्खोंका

व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ॥ २३ ॥

महामोहः—अये, चिरेण खलु प्रमाणवन्ति वचनानि कर्णसुखमुपजनयन्ति। (विलोक्य, सानन्दम्) हन्त, प्रियसुहृन्मे चार्वाकः।

चार्वाकः—(विलोक्य) एष महाराजो महामोहः। (उपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः। एष चार्वाकः प्रणमति।

महामोहः—चार्वाक, स्वागतं ते। इहोपविश्यताम्।

चार्वाकः—(उपविश्य) एष कलेः साष्टाङ्गं प्रणामः।

महामोहः—अये कले, भद्रमव्याहतम्।

शिष्यसम्बोधनम्, को नाम हितार्थी अभिलषितेच्छुः श्रेयःकामयमानः सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् श्वेतोत्तमतण्डुलयुक्तान् व्रीहीन् धान्यानि तुषकणोपहितान् तुषयुक्तान् जिहासति त्यक्तुमिच्छति। यथातुषपूर्णस्य व्रीहिराशेः सितोत्तमतण्डुलप्रदतया हितार्थिनो ग्रहणमेव कुर्वन्ति न त्यागं, तथैवांशिकक्लेशपूर्णस्यापि सांसारिकसुखस्यादर एव यतनीयं न त्याग इति, तत्त्यागप्रवृत्तिश्चोपादेयत्यागप्रवृत्तिरूपतया कर्त्तुर्मूर्खतां गमयेदिति भावः। निदर्शनाऽलङ्कारः। पुंसामिति कर्त्तरि षष्ठी, त्याज्यमिति कृत्यप्रत्यययोगात्। वृत्तमनुपदमेवोक्तम् ॥ २३ ॥

चिरेण–बहोः कालात्परतः। प्रमाणवन्ति–युक्तियुक्तानि। कर्णसुखमुपजनयन्ति=श्रवणं तर्पयन्ति। प्रियसुहृत्–मित्रम्।

स्वागतम्–सत्कारः। इह–अत्र। उपविश्यताम्–स्थीयताम्, आस्यतामिति वा।

कलेः–कलियुगस्य। साष्टाङ्गः–अष्टाङ्गनतियुक्तः।

भद्रमव्याहतम्–कुशलमक्षतम्, त्वदीये कुशले तु कापि क्षतिर्नास्तीति प्रश्नाशयः।

विचार है। क्या हित चाहने वाला व्यक्ति भूसासे मिलित होनेके कारण सुन्दर चावलसे युक्त धानको छोड़ देता है ?॥ २३ ॥

महामोह—अरे, बहुत दिनोंके बाद आज प्रमाणयुक्त बातें कानोंको सुख प्रदान कर रही हैं। (देखकर प्रसन्नतासे) अहा ! हमारा मित्र चार्वाक आरहा है।

चर्वाक—(देखकर) ये महाराज महामोह हैं। (समीप जाकर) जय हो महाराजकी। यह चार्वाक प्रणाम करता है।

महामोह—चार्वाक, आओ, स्वागत है। यहाँ बैठो।

चार्वाक—यह कलि आपको साष्टाङ्ग प्रमाण करता है।

महामोह—कले, सब कुशल तो है ?

चार्वाकः—देवप्रसादात्सर्वत्र भद्रम्। निर्वर्तितकृत्यशेषश्च देवपादमूलं द्रष्टुमिति। यतः—

आज्ञामवाप्य महतीं द्विषतां निपाता-
न्निर्वर्त्य तां सपदि लब्धसुखप्रसादः।
उच्चैःप्रमोदमनुमोदितदर्शनः सन्
धन्यो नमस्यति पदाम्बुरुहं प्रभूणाम्॥ २४॥

महामोहः—अथ तस्मिन्कलौ कियत्संवृत्तम्?

चार्वाकः—देव,

व्यतीतवेदार्थपथः प्रथीयसीं यथेष्टचेष्टां गमितो महाजनः।

देवप्रसादात्—त्वदनुग्रहात्। निर्वर्त्तितकृत्यशेषः—समाप्तकर्त्तव्यः। देवपादमूलम्—भवदीयचरणप्रान्तम्।

आज्ञामिति॰ महतीम् कार्यगौरवगुर्वीम् आज्ञाम् प्रभोः आदेशम् अवाप्य लब्ध्वा, ताम् आज्ञाम् द्विषतां शत्रूणां निपातात् संहारात् निर्वर्त्य साधयित्वा सपदि सद्यः लब्धसुखप्रसादः प्राप्तसन्तोषः सन् उच्चैः प्रमोदो हर्षो यत्र तत्तथा सात्यानन्दम् अनुमोदितदर्शनः दर्शनदानकृपया कृतार्थीकृतः धन्यः स्तुत्यः प्रभूणाम् स्वामिनां भवताम् मोहमहाराजानाम् पदाम्बुरुहं चरणकमलम् नमस्यति प्रणमति। शत्रुनिपातविषयां प्रभोराज्ञामासाद्य शत्रुशातनेन तां सम्पाद्य च सन्तुष्यन्मना अहं चार्वाकः सानन्दं भवता दत्तदर्शनो भवतः पादकमलं प्रणमामीत्याशयः। पूर्वंतनं वृत्तम्॥२४॥

तस्मिन् कलौ—तद्विषये, कलिना कियत्कार्यं कृतमिति प्रश्नाशयः।

व्यतीतेति॰ महाजनः वैदिकजनः समधिको जन इति वा। प्रथीयसीम् पृथुतराम् भूयसीम् यथेष्टचेष्टाम् इच्छानुकूलव्यवहारम् गमितः यथेच्छाचारितां प्रापितः सन्नित्याशयः, व्यतीतवेदार्थपथः, वैदिकमार्गाच्च्युतः। वैदिका जना भूयसीं यथेच्छाचारितां लम्भिताः सन्तो वैदिकमार्गाच्च्याविता इत्येतावत् कार्यं जातमित्याशयः।

चार्वाक—आपकी कृपासे सब कुशल है। सब कार्य सम्पन्न करके आपके चरणोंमें आया हूं। क्योंकि—

बड़ी सी आज्ञा प्राप्त करके शत्रुओंका विनाशकर सुख तथा प्रसन्नता प्राप्त करके दर्शनकी अनुमति मिलजानेसे धन्य हो मैं प्रभुके चरणोंमें प्रणाम कर धन्य हो रहा हूं॥२४॥

महामोह—उस कलिके सम्बन्धमें कितनी दूर तक गति हुई है?

चार्वाक—देव,

अधिकांश लोक वेदोक्त पथका त्याग करके यथेच्छाचारी बन गये हैं, इसमें न हम

तदत्र हेतुर्न कलिर्न चाप्यहं प्रभोः प्रभावो हि तनोति पौरुषम् ॥२५॥

तत्रोत्तराः पथिकाः पाश्चात्याश्च त्रयीमेव त्याजिताः। शमदमादीनां कैव कथा। अन्यत्रापि प्रायशो जीविकामात्रफलैव त्रयी। यथाहाचार्यः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ २६ ॥

तदत्र अस्यां कार्यसिद्धौ न कलिः कलियुगम् हेतुः कारणम् न चापि अहं चार्वाकः कारणम्, प्रभोः महामोहस्य भवतः प्रभावः सामर्थ्यातिशयः हि पौरुषम् पुरुषकारम् तनोति विस्तारयति। वैदिकानां लोकानां यथेच्छाचारावलम्बनेन वैदिकमार्गाच्च्युतौ न कलेः कारणत्वं न वा मम चार्वाकस्य कारणत्वम्, अयं तु महामोहस्य प्रभोः प्रभाव एव स्वं पुरुषकारं प्रकटयतीति समधिकप्रभाववत्ताऽऽवेदनेन धन्यतोक्ता। वंशस्थं वृत्तम् ॥ २५ ॥

आचार्यः—बृहस्पतिः।

अग्निहोत्रमिति० अग्निहोत्रम् ज्योतिष्टोमादि, अथवाऽग्निहोत्रपदेनाग्निसाध्यान्यखिलान्यपि श्रौतस्मार्त्तकर्माण्युपलक्ष्यन्ते, त्रयो वेदाः ऋग्यजुःसामरूपाः, त्रिदण्डम् कर्मत्यागरूपः सन्न्यासः, भस्मगुण्ठनम् शरीरे भस्मलेपः, तेन च भस्मधारणपूर्वाणि सन्ध्यावन्दनदेवपूजनजपादीनि कर्माणि गृह्यन्ते। बुद्धिमन्तः पुरुषाः स्वबुद्धिवैभवेन राज्ञः सामदानाद्युपायेषु तत्तद्देशकालोचितमन्त्रप्रदानेन साहाय्यमाचरन्तो राज्ञः प्रीतिमातन्वते, पौरुषशालिनोऽपि पराक्रमेण शत्रून् विजित्य राज्ञः प्रीतिपात्रतां भजन्ते, द्वयेऽप्यमी राज्ञः सकाशाल्लब्धधना नयेन जीविकां सम्पादयन्ति, ये चैतादृशबुद्धिविकलाः पराक्रमहीनाश्च पुरुषास्ते नयेन स्वजीविकां सम्पादयितुमपारयन्तो लोकवञ्चनादन्यजीविकासाधनमपश्यन्तोऽग्निहोत्राद्यनेकविधविषयजालं प्रसार्य भिन्नरुचींल्लोकान् कांश्चित् क्वचिदित्येवंप्रायोऽखिलांस्तान् कर्मपाशबद्धान् सम्भाव्य पश्यतोहरा एते वैदिकंमन्या धूर्त्तवका लोकेभ्यो द्रव्यं लब्ध्वा स्वजीविकां सम्पादयन्तीत्याशयः ॥ २६ ॥

कारण हैं न कलि, यह तो आपका प्रभाव पौरुष दिखा रहा है ॥ २५ ॥

उसमें भी उत्तर और पश्चिमके लोगोंने तो वेदको छोड़ ही दिया है। शमदमकी क्या कथा? दूसरी जगह भी वेदोंका फल केवल जीविका रह गई है, जैसाकि आचार्यने कहा है—

अग्निहोत्र, वेदत्रय, दण्डधारण, भस्म यह सब बुद्धि-पौरुषहीन जनोंकी जीविका है ऐसा बृहस्पतिका मत है ॥ २६ ॥

तेन कुरुक्षेत्रादिषु तावद् देवेन स्वप्नेऽपि विद्याप्रबोधोदयो नाशङ्कनीयः।

महामोहः—साधु संपादितम्। महत्खलु तत्तीर्थं व्यर्थीकृतम्।

चार्वाकः—देव, अन्यच्च विज्ञाप्यमस्ति।

महामोहः—किं तत्।

चार्वाकः—अस्ति विष्णुभक्तिर्नाम महाप्रभावा योगिनी। सा तु कलिना यद्यपि विरलप्रचारा कृता तथापि तदनुगृहीतान्वयमालोकयितुमपि न प्रभवामः। तदत्र देवेनावधातव्यमिति।

महामोहः—(सभयमात्मगतम्) आः, प्रसिद्धमहाप्रभावा सा योगिनी स्वभावाद्विद्वेषिणी चास्माकं दुरुच्छेद्या सा। भवतु। (स्वगतम्) कार्य-

कुरुक्षेत्रादिषु–महाभारताख्ययुद्धभूमितया प्रसिद्धं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं तत्प्रभृतिषु तीर्थस्थानेषु। देवेन–भवता। स्वप्नेऽपि–कदापि। विद्याप्रबोधयः–ज्ञानजन्म। आशङ्कनीयः–सम्भाव्यः।

सम्पादितम्–कृतम्। महत्–प्रधानम्। तत्–कुरुक्षेत्राख्यम्। व्यर्थीकृतम्–अकार्यंकारिजनितम्। विज्ञाप्यम्–बोधनीयम्।

महाप्रभावा–अतिशयितसामर्थ्यशालिनी। योगिनी–सिद्धिमासाद्य परोच्चटना-दिकर्मपरा। सा–विष्णुभक्तिः। विरलप्रचारा–स्तोकसञ्चारा। तदनुगृहीतान्वयम्–तत्कृपापात्रजनवंशम्। (साक्षात्तत्कृपापात्रस्य कथा दूरे तिष्ठतु, तयाऽनुगृहीतस्य जनस्य वंशे जन्मग्रहणमेवास्माकं प्रवेशं वारयितुमलमिति भावः) आलोकयितुम्–द्रष्टुम्, किं पुनः स्प्रष्टुमिति भावः। प्रभवामः–समर्था भवामः। अत्र–विष्णुभक्त्याः प्रभावविषये। देवेन–भवता। अवधातव्यम्–ध्यानं प्रदेयम्।

प्रसिद्धमहाप्रभावा–ख्यातप्रचुरसामर्थ्या। सा–विष्णुभक्तिः। स्वभावात्–अकृत्रि-

अतः इन स्थानोंमें और कुरुक्षेत्रमें विद्याप्रबोधोदयकी आप आशङ्का न करें।

महामोह—ठीक किया। बड़ा भारी तीर्थ व्यर्थ कर दिया।

चार्वाक—महाराज, कुछ और निवेदन करना है।

महामोह—वह क्या है?

चार्वाक—विष्णुभक्ति नामकी एक योगिनी है जिसका बड़ा प्रभाव है। यद्यपि कलिने उसे विरलप्रचार कर दिया है, फिर भी उसके द्वारा अनुगृहीत वंशकी ओर हम देख भी नहीं पाते हैं। आप इस पर ध्यान दें।

महामोह—(डरकर–स्वगत) आः! वह योगिनी बड़ी प्रसिद्ध प्रभावा है और हमारे ऊपर स्वभावतः द्वेष भी रखती है, उसका नाश हमें करना चाहिये। (प्रकाश)

मत्याहितं भविष्यति। (प्रकाशम्) तत्र भद्र, अलमनया शङ्कया। कामक्रोधादिषु प्रतिपक्षेषु कुतेयमुदेष्यति।

चार्वाकः—तथापि लघीयस्यपि रिपौ नानवहितेन जिगीषुणा भवितव्यम्। यतः—

विपाकदारुणो राज्ञां रिपुरल्पोऽप्यरुंतुदः।
उद्वेजयति सूक्ष्मोऽपि चरणं कण्टकाङ्कुरः॥ २७॥

महामोहः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कः कोऽत्र भोः।

सभावात्। विद्वेषिणी—शत्रुत्वकरी दुरुच्छेद्या—कष्टेनापास्या। कार्यमत्याहितं भविष्यति—विष्णुभक्तिः प्रभावं विस्तारयितुं यद्यपेक्षे तथापि नाशोऽस्माकमथ प्रत्यक्षं युध्ये तत्रापि सैव गतिरित्युभयतः पाशायामस्यां रज्जौ महद्भयमुपस्थितं वेद्यम्। कामक्रोधादिषु—अस्मद्वर्गीयेषु कामनाकोपादिषु। प्रतिपक्षेषु—शत्रुषु विरोधिषु। कुतेयमुदेष्यति—क्व विष्णुभक्तिः प्रकाशमेष्यति, तस्याः प्रकाशीभावो हि लोकानां हृदयेष्वेव भावी, तत्र सर्वत्र कामादिभिः स्वावासे कृते तस्याः प्रसरो न संभवतीति तदुदयशङ्कामाकारीति तात्पर्यम्।

तथाऽपि—यद्यपि कामक्रोधादिवृत्ततया जनमनसां नास्ति विष्णुभक्तेरुदयस्याशङ्केति योजनीयम्। लघीयसि—लघुतमे। रिपौ—शत्रौ। अनवहितेन—असावधानेन। जिगीषुणा—जयेच्छावता।

विपाकेति० विपाकदारुणः परिणामभयङ्करः अल्पः क्षुद्रतमः अपि रिपुः शत्रुः राज्ञाम् भूभृताम् अरुन्तुदः मर्मव्यथकः, तत्र दृष्टान्तमाह—सूक्ष्मः कृशाग्रभागः अपि कण्टकाङ्कुरः कण्टकप्ररोहः चरणम् उद्वेजयति पीडयति। यथा कृशाग्रोऽपि कण्टकाङ्कुरःपादव्यथाकरो भवति तथैव तुच्छोऽपि शत्रूराज्ञां मर्म व्यथयतीति तात्पर्यम्। निदर्शनाऽलङ्कारः। अरुः मर्मस्थानं तदुपपदात्तुदतेः खशि 'अरुर्द्विषजन्तस्येति' मुमि 'अरुन्तुदः' इति सिद्धम्॥ २७॥

कः कोऽत्र भोः—द्वारदेशे कस्तिष्ठतीति जिज्ञासा।

भद्र, इससे घबड़ानेकी जरूरत नहीं है। जब काम क्रोध आदि उसके खिलाफ हैं तब वह कहाँ सिर उठायेगी?

चार्वाक—तथापि विजिगीषु व्यक्तिको छोटेसे शत्रु पर भी सावधान दृष्टि रखनी चाहिये। क्योंकि—

परिणाममें भयङ्कर छोटा भी शत्रु राजाओंके मर्मको दुखाता रहता है, छोटा-सा भी कण्टक चरणको उद्विग्न कर देता है॥ २७॥

महामोह—(नेपथ्यकी ओर देखकर) कौन है?

(प्रविश्य दौवारिकः)

दौवारिकः—जयतु जयतु । आज्ञापयतु देवः ।

महामोहः—भो असत्सङ्ग, आदिश्यन्तां कामक्रोधलोभमदमात्सर्यादयो यथा योगिनी विष्णुभक्तिर्भवद्भिरेवावहितैर्विहन्तव्येति ।

दौवारिकः—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति पत्रहस्तः पुरुषः)

पुरुषः—अहमुत्कलदेशादागतोऽस्मि । अस्ति तत्र सागरतीरसन्निवेशे पुरुषोत्तमशब्दितं देवतायतनम् । तस्मिन्मदमानाभ्यां भट्टारकाभ्यां महाराजसकाशं प्रेषितोऽस्मि । (विलोक्य) एषा वाराणसी । इदं राजकुलम् । यावत्प्रविशामि । (प्रविश्य) एष भट्टारकश्चार्वाकेण सार्धं किमपि मन्त्रयंस्तिष्ठति । तदुपसर्पाम्येनम् । (उपसृत्य) जयतु जयतु भट्टारकः ।

अवहितैः—सावधानैः ।

अत्र 'विष्णुभक्तिर्विहन्तव्येति' समारभ्य 'सा भवद्भिरेव निग्राह्या' इत्यन्तेन विष्णुभक्तिश्रद्धाहिंसाकथनेनार्त्तिप्रतीतेर्विधूतं नाम प्रतिमुखसन्धेस्तृतीयमङ्गम्, 'विधूतमार्त्तिविख्यातम्' इति तल्लक्षणात् ।

सागरतीरसन्निवेशे—समुद्रतीरस्थे पत्तने । पुरुषोत्तमशब्दितम्–पुरुषोत्तमपदेन ख्यातम् । देवतायतनम्–देवमन्दिरम् । तस्मिन् मदमानाभ्याम् भट्टारकाभ्याम्–तत्र स्थिताभ्यां राजभ्यां मदमानाभिधाभ्याम् । महाराजसकाशम्–महामोहपार्श्वे ।

(दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक—जय हो जय हो ! महाराजकी आज्ञा सुनें ।

महामोह—अजी असत्सङ्ग, कामक्रोध लोभ मद मात्सर्य आदिको आदेश सुना दो कि आप लोग सावधान होकर देवी विष्णुभक्तिको मारदें ।

दौवारिक—महाराजकी जैसी आज्ञा । (जाता है)

(हाथमें पत्र लेकर पुरुषका प्रवेश)

पुरुष—मैं उत्कल देश से आरहा हूं । वहाँ समुद्रके किनारे पुरुषोत्तमका मन्दिर है । वहाँ रहने वाले मद-मान ने मुझे महाराजके पास भेजा है । (देखकर) यही है वाराणसी ।

इदं पत्रं तावन्निरूप्यमाणं प्रेक्षतां भट्टारकः। (इति पत्रमर्पयति)। (हग्गे उक्कलदेसादो आगदोम्हि। अत्थि तत्थ साअलतीलसण्णिवेसे पुलिसोत्तमसण्णिदं देवदाअदणम्। तस्सिं मदमाणेहिं भट्टेहिं महालाअसआसं पेसिदोम्हि। एसा वालाणसी। एदं लाअउलम्। जाव प्पविसामि। एसो भट्टको चव्वाकेण सद्धं किंचि अन्तअन्तो चिट्ठदि। ता उवसप्पामि णम्। जेदु जेदु भट्टको। एदं पत्तं जाव णिलुप्पिअमाणं पेक्खदु भट्टको)

महामोहः—(पत्रं गृहीत्वा) कुतो भवान्।

पुरुषः—अहं पुरुषोत्तमादागतोऽस्मि। (हग्गे पुलिसोत्तमादो आगदोम्हि)

महामोहः—(स्वगतम्) कार्यमत्याहितं भविष्यति। (प्रकाशम्) चार्वाक, गच्छ। कर्तव्येष्ववहितेन भवता भवितव्यम्।

चार्वाकः—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रान्तः)

भट्टारकः-महामोहो राजा। मन्त्रयन्-परामृशन्। निरूप्यमाणम्-समर्प्यमाणम्। प्रेक्षताम्-पश्यतु। भट्टारकः-महाराजः।

कुतो भवान् कस्मात्स्थानादागत इति प्रश्नाशयः।

पुरुषोत्तमात्-पुरुषोत्तमशब्दप्रथिताज्जगन्नाथपुर्यभिधानात् स्थानात् आगतोऽस्मीति तदुत्तरार्थः।

कार्यमत्याहितं भविष्यति-मदमानाभ्यामत्र पत्रे निवेद्यमानं वस्तु महाभयजनकमत एव च सद्य एव ध्यातव्यं भविष्यति, तदविलम्बमत्र सावधानता करणीयेत्यर्थः।

कर्त्तव्येषु-विधेयवस्तुषु। अवहितेन-सावधानेन। भवता-चार्वाकेण।

यह रहा राजकुल, पैठता हूं। (प्रवेश करके) ये महाराज चार्वाकके साथ बात कर रहे हैं। तब तक इनके पास जाता हूं। (जाकर) जय हो महाराजकी। इस पत्रको महाराज अच्छी तरह देखें। (पत्र देता है)

महामोह—(पत्र लेकर) तुम कहाँसे आये हो ?

पुरुष—मैं पुरुषोत्तमसे आया हूं।

महामोह—(स्वगत) आवश्यक कार्य होगा। (प्रकाश) चार्वाक, जाओ, कर्त्तव्यांशमें सावधान रहना।

चर्वाक—महाराजकी जैसी आज्ञा।

(जाता है)

महामोहः—(पत्रं वाचयति)

'स्वस्ति श्रीवाराणस्यां महाराजाधिराजपरमेश्वरमहामोहपादान्पुरुषोत्तमायतनान्मदमानौ साष्टाङ्गपातं प्रणम्य विज्ञापयतः। यथा भद्रमव्याहतम्। अन्यच्च देवी शान्तिर्मात्रा श्रद्धया सह विवेकस्य दौत्यमापन्ना विवेकसंगमाय देवीमुपनिषदमहर्निशं प्रबोधयति। अपि च कामसहचरोऽपि धर्मो वैराग्यादिभिरुपजप्त इव लक्ष्यते। यतः कामाद्विभिद्य कुतश्चिन्निगूढः प्रचरति। तदेतज्ज्ञात्वा तत्र देवः प्रमाणमिति।

पुरुषोत्तमायतनात्–जगन्नाथक्षेत्रात्। साष्टाङ्गपातम्–प्रणामं कृत्वा। विज्ञापयतः–सूचयतः। भद्रमव्याहतम्–कुशलमक्षतम्। शान्तेर्माता श्रद्धा–सा श्रद्धोपेताशान्तिः–विवेकस्य दौत्यमापन्ना–विवेकेन दूतीपदे नियुज्यमाना। दूत्यो हि विप्रतीपनायिकाः स्वामिभिः सङ्गमयितुं चेष्टन्ते, अत्रोपनिषत्प्रतीपनायिका, विवेकस्तत्पतिः, श्रद्धया मात्रोपेता शान्तिदूतीति बोध्यम्। विवेकसङ्गमाय–विवेकेन सह संगन्तुम्। अहर्निशम्–रात्रिं दिवम्। प्रबोधयति–शिक्षयति। कामसहचरः–कामसुहृत्। समीपवर्त्तितयाऽनयोः सुहृद्भावः, समीपवर्त्तिता च पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये सहपाठवशात्। उपजप्तः–भेदं प्रापितः। उपजप्तत्वे प्रमाणमाह—यत इति० विभिद्य–पृथग्भूत्वा। निगूढः–प्रच्छन्नः। इदमत्र बोध्यम्—कामो धर्मश्च सहपठितौ पुरुषार्थौ, तौ सुहृदौ यतस्तयोर्धर्मः कामसाधनतयाऽऽचर्यते, यदवधिकामानुद्दिश्य धर्माचरणं क्रियते तावत् पर्यन्तं तयोर्मैत्री स्थिरा। वैराग्यादिप्रकाशेन धर्मेऽकामभावेनाचर्यमाणे धर्मः कामस्य पोषको न भवतीति धर्मो वैराग्यादिभिरुपजप्त इति कथितः। अन्योऽप्युपजप्तः स्वसुहृदो हितेष्वसक्तः पृथङ् निगूढभावेन प्रचरति, तद्वदेवात्रापि कामसुहृद्धर्मो वैराग्यादिभिरुपजप्त इति कामं विहाय पृथग्भूतः फलाभिसन्धिशून्यतयाऽऽचर्यमाण इति तद्विषयाज्ञानान्निगूढचारितयोत्प्रेक्षित इति। देवः प्रमाणम्–यथोचितमादेष्टुं भवन्तः प्रभव इत्यर्थः।

महामोह—(पत्र पढ़ता है) स्वस्ति श्री वाराणसीमें महाराजाधिराज परमेश्वर महामोहके चरणोंमें पुरुषोत्तमसे आये हुए मद-मान प्रणाम करते हैं। यहाँ सब कुशल है। और देवी शान्ति अपनी माता श्रद्धाके साथ विवेककी दूती बनकर विवेकसे मिलनेके लिये देवी उपनिषद्को अहर्निश समझाती है। और काम सहचर होकर भी धर्म वैराग्य आदिसे फूटमें डाल दिया गया सा प्रतीत होता है। आजकल धर्म कामसे छिपकर घूमा करता है। इन बातोंको जानकर महाराज यथोचित कार्य करें।

महामोहः—(सक्रोधम्) आः किमेवमतिमुग्धौ शान्तेरपि बिभितः । कामादिषु प्रतिपक्षेषु कुतोऽस्याः संभवः । तथाहि—

धाता विश्वविसृष्टिमात्रनिरतो देवोऽपि गौरीभुजा-
श्लेषानन्दविघूर्णमाननयनो दक्षाध्वरध्वंसनः ।
दैत्यारिः कमलाकपोलमकरीलेखाङ्कितोरःस्थलः
शेतेऽब्धावितरेषु जन्तुषु पुनः का नाम शान्तेः कथा ॥२८॥

सक्रोधम्–क्रोधश्चात्र मदमानयोरतिलघुकार्येऽपि व्यग्रतामालोक्य जातो बोध्यः । अतिमुग्धौ–अतिशयेन व्यामोहवन्तौ । बिभीतः=भयं कुरुतः । कामादिषु–कामक्रोधलोभमदमात्सर्यप्रभृतिषु । प्रतिपक्षेषु–विरोधिषु सत्सु । अस्याः–शान्तेः (इन्द्रियोपशमरूपायाः) । कुतः सम्भवः नास्ति सम्भावना । सर्वतो निरुद्धेषु मार्गेषु कुत इन्द्रियशमरूपा शान्तिरुदेतुमीशेति तात्पर्यम् ।

धातेति० धाता ब्रह्मा विश्वस्य जगतः विसृष्टिमात्रे केवलायां विविधायां सृष्टि-प्रक्रियायां निरतः एकान्तभावेन संलग्नः, देवः दक्षाध्वरध्वंसनः दक्षयज्ञविनाशकः शिवः अपि गौर्याः पार्वत्याः भुजाभ्याम् बाहुभ्याम् य अश्लेषः आलिङ्गनं तेन य आनन्दः प्रमोदस्ततो विघूर्णमाननयनः अतिमत्तदृष्टिः, दैत्यारिः विष्णुः कमलाकपो-लमकर्याः लक्ष्मीगण्डस्थलवर्त्तिमत्स्याकृतिचन्दनचर्यायाः लेखया रेखया अङ्कित-मुरःस्थलं वक्षोदेशो यस्य तादृशः सन् अब्धौ समुद्रे शेते निद्राति, (तदेवं ब्रह्म-विष्णुशिवेषु कामाद्यधीनेषु) पुनः इतरेषु साधारणजनेषु का नाम शान्तेः कथा ? कीदृशी शान्तिवार्त्ता ? विधातुर्विश्वनिर्माणव्यग्रतया शान्तिर्नास्ति, शिवः पार्वती-दृढालिङ्गनजन्यसुखावेशभ्राम्यन्नयनः सन् कामपर एव, विष्णुरपि प्रियां कमलां वक्षसि स्वापयित्वा तदीयकपोलवर्त्तिमकरीलेखया स्वमुरो लाञ्छयित्वा चाब्धौ निर्भरं निद्रातीति कामाविष्ट एव, तदेवं त्रिष्वपि प्रधानदेवेषु शान्तिमत्तसम्भावना-विरहितेषु साधारणजनेष्वन्येषु शान्तेः कीदृशी चर्चा, तदेवं शान्त्या अलीकोदयतया ततो बिभ्यतोर्मदमानयोर्मुग्धत्वं सुप्रतीतमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ; लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ २८ ॥

महामोह—(क्रोधसे) यह इतने भोले हैं कि शान्तिसे भी डरते हैं । जब काम विरोधमें है तो शान्ति कब संभव है । देखो—

ब्रह्मा सृष्टि करनेमें लगे हैं, महादेवको पार्वती बाहुपाश के आलिङ्गनसे फुरसत नहीं मिलती, और विष्णु छातीसे लक्ष्मीको लगाकर समुद्रमें सो रहे हैं, और लोगोंमें शान्तिकी क्या बात ? ॥ २८ ॥

(पुरुषं प्रति वदति)

जाल्म, गच्छ। कामं सत्वरमुपेत्यादेशमस्माकं प्रतिपादय । तथा दुराशयो धर्म इत्यस्माभिरवगतम् । तदस्मिन्मुहूर्तमपि न विश्वसितव्यम् । दृढं बद्ध्वा धारयितव्य इति ।

पुरुषः—यद्देव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्तः)

महामोहः—(स्वगतं विचिन्त्य) शान्तेः कोऽभ्युपायः । अथवा अलमुपायान्तरेण । क्रोधलोभावेव तावदत्र पर्याप्तौ । (प्रकाशम्) कः कोऽत्र भोः !

(प्रविश्य दौवारिकः)

दौवारिकः—आज्ञापयतु देवः ।

जाल्म–मूर्ख, असमीक्ष्यकारिन् , तथात्वं चास्य स्थितिमविचार्यैवागमनात् कल्पनीयम् । सत्वरम्–शीघ्रम् ।

उपेत्य–प्राप्य । प्रतिपादय–कथय । दुराशयः–दुष्टाभिप्रायः । धर्मस्य वैराग्योपजकतया कामविमुखत्वेन दुष्टत्वमुक्तम् । अस्मिन्–धर्मे । मुहूर्त्तम्–क्षणम् । दृढं बद्ध्वा–निपुणं संयम्य । बन्धनञ्च धर्मस्य काम्यानि फलान्युद्दिश्य विधीयमानत्वमेव, तथाकरणेन धर्मो वैराग्यादिभिः कृतमुपजापं न मन्येतेति भावः। शान्तेः कोऽभ्युपायः–शान्तेर्निराकरणाय कीदृशः प्रयत्नः करणीय इति भावः। उपायान्तरेण–अन्येन प्रयासेन, पर्याप्तौ–दक्षौ ।

(पुरुषसे कहता है)

मूर्ख, जाओ। जल्दी जाकर हमारा आदेश सुना दो। हमने जान लिया कि धर्म दुष्ट है, उस पर एक क्षणके लिये भी विश्वास मत करना। उसे कसकर बांधे रहो।

पुरुष—महाराजकी जैसी आज्ञा ।

(जाता है)

महामोह—(स्वगत, सोचकर) शान्तिका क्या प्रतीकार ? अथवा-प्रतीकारकी क्या चिन्ता है, क्रोध लोभ ये दोनों इस कामके लिये काफी हैं। (प्रकाश) कोई है ?

(दौवारिकका प्रवेश)

दौवारिक—महाराज आदेश करें ।

महामोहः—तावदाहूयतां क्रोधो लोभश्च।

पुरुषः—यदाज्ञापयति देवः। (जं आणवेदि देवो)।

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति क्रोधो लोभश्च)

क्रोधः—श्रुतं मया यथा शान्तिश्रद्धाविष्णुभक्तयो महाराजेन प्रतिपक्षमाचरन्तीति। अहो, मयि जीवति कथमासामात्मनि निरपेक्षितं चेष्टितम्। तथाहि—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति॥ २९॥

आहूयताम्–आकार्यताम्।

महाराजेन प्रतिपक्षम्–महाराजस्य महामोहस्य विरुद्धम्। मयि–क्रोधे। जीवति–प्राणान् धारयति। आसाम्–शान्तिश्रद्धाविष्णुभक्तीनाम्। आत्मनि निरपेक्षम्–स्वस्मिन्नपेक्षारहितम्। क्रोधमुपेक्ष्य यदमूरित्थं प्रगल्भन्ते तदमूषामात्मविनाशायैव जायेत, तदेवं स्वचिन्तारहितमिदं तासां चेष्टितमिति तात्पर्यम्।

अन्धीकरोमीति॰ भुवनम् धरामण्डलम् अन्धीकरोमि अनन्धमन्धंकरोमि कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचाररूपदृष्टिशून्यं करोमीत्यर्थः। (भुवनम्) बधिरीकरोमि श्रुतिसाधनेन्द्रियरहितं करोमि (येन हितं न शृणुयात्) सचेतनम् चेतनया सहितम् धीरम् मनस्विनं जनम् अचेतनताम् ज्ञानशून्यत्वम् नयामि प्रापयामि। येन अन्धताऽऽपादनेन कृत्यम् कर्त्तव्यम् न पश्यति विचारयति, येन बधिरताप्रापणेन हितम् न

महामोह—तब तक क्रोध और लोभको बुलाओ।

पुरुष—महाराजकी जो आज्ञा।

(क्रोध और लोभका प्रवेश)

क्रोध—मैंने सुना है कि शान्ति, श्रद्धा और विष्णुभक्ति महाराजके विरुद्ध आचरण कर रही हैं। अहो! हमारे जीतेजी इन लोगोंको अपनी चिन्ता भूल गई? क्योंकि—

मैं जगत्को अन्धा और बहरा बना सकता हूं, विद्वान्को अधीर तथा मूर्ख कर दे सकता हूँ, जिससे उसे न कर्त्तव्य ज्ञान होगा, न वह हित बात सुनेगा, बुद्धिमान् होकर भी वह पढ़ी बातें भूल जायगा॥ २९॥

लोभः—अये, मदुपगृहीता मनोरथसरित्परम्परासेव तावन्न तरिष्यन्ति किं पुनः शान्त्यादींश्चिन्तयिष्यन्ति। पश्य पश्य सखे—

सन्त्येते मम दन्तिनो मदजलप्रम्लानगण्डस्थला
वातव्यायतपातिनश्च तुरगा भूयोऽपि लप्स्येऽपरान्।
एतल्लब्धमिदं लभे पुनरिदं लब्धाधिकं ध्यायतां
चिन्ताजर्जरचेतसां वत नृणां मा नाम शान्तेः कथा॥ ३०॥

शृणोति, येन चाचेतनतानयनेन धीमान् बुद्धिमान् अपि अधीतम् पठितम् (अपि) न प्रतिसन्दधाति स्मरति। क्रोधेनान्धीकृतो जनो हितमहितं च विवेक्तुमशक्तो भवति, बधिरीकृतश्च हितमपि नाकर्णयति, अचेतनभावं गमितश्च धीमानपि नाधीतमपि स्मरतीति भावः। तथा चोक्तमपि—'क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्' इति॥ २९॥

मदुपगृहीताः-लोभेन धृताः। मनोरथसरित्परम्पराम्-अभिलाषरूपनदीश्रेणीम्। तरिष्यन्ति-पारं गमिष्यन्ति। लोभगृहीता जनाः सदैव मनोरथपरम्परामेव तन्वानास्तत्पूर्त्तय एव यतमानाश्च शान्तिविषयां चिन्तामपि न कर्त्तुं पारयन्तीति भावः। मनोरथपरम्पराप्रकारमग्रे वक्ष्यति-सन्त्यते इत्यत्र।

सन्त्येत इति० मदजलप्रम्लानगण्डस्थलाः मदवारिक्लिन्नकपोलदेशाः एते दन्तिनः हस्तिनः मम सन्ति मदधिकारे वर्त्तन्ते, वाताः वायवः इव व्यायतपातिनः अधिकधाविनः तुरगाः अश्वाश्च 'मम सन्ति' इत्यनुषज्य योजनीयम्। भूयः पुनः अपरान् अन्यान् अपि गजान् तुरगांश्च लप्स्ये। एतत् लब्धम् प्राप्तम् इदम् पुनर्लभे प्राप्नोमि इदम् एवंप्रकारेण लब्धाधिकं प्राप्ताद्धुपरि ध्यायताम् चिन्तयताम् चिन्ताजर्जरचेतसाम् चिन्ताकदर्थितस्वान्तानां नृणाम् नराणाम् शान्तेः का नाम कथा वत? येषां मनसि सदेदमाप्तमिदमाप्तव्यमित्येवमलब्धलाभविषया चिन्ता स्वां ज्वालां विस्तारयति तेषां शान्तेः का चर्चा? वतेति निश्चयार्थे। व्यायतं दीर्घं पतन्तीति व्यायतपातिनः, वातव्यायतपातिन इत्यस्य वायुवेगा इति निर्गलितार्थः। एतेन लोभस्य स्वरूपं प्रकटीकृतम्॥ ३०॥

लोभ—अरे, मैं जिसे पकड़ लूंगा वह मनोरथोंसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकेगा, शान्तिकी बात क्या सोचेगा? देखो, देखो, मित्र,

ये मेरे मतवाले हाथी हैं, ये मेरे हवा की तरह द्रुतगामी घोड़े हैं और हाथी घोड़े मुझे मिलेंगे। यह पा लिया और पाना है इस तरह लब्धसे आगेकी चिन्तामें जर्जर चित्त वाले मनुष्योंको शान्तिकी बात क्या सूझेगी॥ ३०॥

क्रोधः—सखे, विदितस्त्वया मत्प्रभावः ।

त्वाष्ट्रं वृत्रमघातयत्सुरपतिश्चन्द्रार्धचूडोऽच्छिन-
द्देवो ब्रह्मशिरो वसिष्ठतनयानाघातयत्कौशिकः ।

अपि च—

विद्यावन्त्यपि कीर्तिमन्त्यपि सदाचारावदातान्यपि
प्रोच्चैःपौरुषभूषणान्यपि कुलान्युद्धर्तुमीशः क्षणात् ॥ ३१ ॥

लोभः—तृष्णे, इतस्तावत् ।

(प्रविश्य तृष्णा)

मत्प्रभावः—मम क्रोधस्य सामर्थ्यम् ।

त्वाष्ट्रमिति० त्वष्टुः देवशिल्पिनः अपत्यम् त्वाष्ट्रम् वृत्रम् सुरपतिः देवेन्द्रः अघातयत् हतवान्, देवः चन्द्रार्धचूडः चन्द्रशेखरः शिवः ब्रह्मशिरः ब्रह्मणो मस्तकम् अच्छिनत् अकर्त्तयत्, कौशिकः विश्वामित्रो वसिष्ठतनयान् शतसंख्यकान् महर्षेर्वसिष्ठस्य पुत्रान् अघातयत् अमारयत्, क्रोधान्धतायामिन्द्रः स्वशिल्पिनः पुत्रं वृत्रासुरमहन्, शिवो ब्रह्मशिरोऽच्छिनत्, कौशिकः परस्यापराधे परान् वसिष्ठतनयान् अमारयत्, तदेवं क्रोधमाहात्म्यं महदिति सामान्येन समर्थयितुमाह—विद्यावन्त्यपीति० (अहं क्रोधः) विद्यावन्ति प्रशस्तविद्यानि अपि कीर्त्तिमन्ति यशोभाजनानि अपि, सदाचारावदातानि चरित्रशुद्धानि अपि, प्रोच्चैःपौरुषभूषणानि सामर्थ्यशालितया प्रथितानि अपि कुलानि लोकसमुदायान् वंशान् वा क्षणात् एकेन मुहूर्त्तेन उद्धर्त्तुम् च्यावयितुम् ईशः समर्थः । क्रोधोऽहं विद्यावतां यशस्विनां चारित्रिकशुद्धियुक्तानां पौरुषप्रथितानाञ्च जनानां हृदयानि बलादधिकर्त्तुं क्षमो यथादृष्टमेषूदाहरणेषु—इन्द्रो वृत्रासुरवधमकार्षीत्, संयमिश्रेष्ठश्शिवो ब्रह्मणः शिरोऽकृन्तत्, तपस्विचूणामणिर्विश्वामित्रो वसिष्ठपुत्रानघातयदिति । तदेवं प्रभावोऽहमिति भावः ॥ शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ३१ ॥

इतस्तावत्—आगच्छेति शेषः ।

क्रोध—मित्र, तुम तो हमारा प्रभाव जानते ही हो ।

इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया, शिवने ब्रह्माका सिर काटा, विश्वामित्रने वसिष्ठ पुत्रोंका वध किया । और विद्यासे युक्त तथा कीर्त्तिसे धवल एवं पौरुषसे भूषित कुलोंको भी मैं क्षण भरमें वशीकृत कर सकता हूँ ॥ ३१ ॥

लोभ—तृष्णे, जरा इधर तो आना ।

(तृष्णाका प्रवेश)

तृष्णा:—किमाज्ञापयत्यार्यपुत्रः। (किं आणवेदि अज्जउत्तो)
लोभः—प्रिये, श्रूयताम्—
क्षेत्रग्रामवनाद्रिपत्तनपुरद्वीपक्ष्मामण्डल-
प्रत्याशायतसूत्रबद्धमनसां लब्धाधिकं ध्यायताम्।
तृष्णे देवि यदि प्रसीदसि तनोष्यङ्गानि तुङ्गानि चे-
त्तद्भोः प्राणभृतां कुतः शमकथा ब्रह्माण्डलक्षैरपि ॥ ३२ ॥
तृष्णा—आर्यपुत्र, स्वयमेव तावदहमस्मिन्नर्थे नित्यमभियुक्ता। सांप्र-

क्षेत्रग्रामेति० क्षेत्रम् कर्षणोपयुक्ता भूमिः, ग्रामः—वसतिः, वनम् काष्ठप्राप्तिसाधनम्, अद्रिः पर्वतः स च शैलेयादिप्राप्तिहेतुः, पत्तनम् स्वल्पग्रामः, पुरम् नगरम्, द्वीपम् देशभेदः, क्ष्मामण्डलम् पृथिवीचक्रम्, क्षेत्रमारभ्य क्ष्मामण्डलान्तमुपभोगार्थमपेक्ष्यमाणमिष्यते प्राणिभिरिति प्रसिद्धिमनुरुध्यैषां क्रमशो लाभेऽग्रेऽग्रे वर्द्धते प्रत्याशेति दर्शयितुमित्थं प्रोक्तम्। एषां प्रत्याशा प्राप्तीच्छा एव आयतम् विस्तृतम् सूत्रं रज्जुर्बन्धनसाधनत्वात्तेन बद्धानि नियन्त्रितानि मनांसि हृदयानि येषां तेषाम् लब्धाधिकम् प्राप्तादग्रिमम् ध्यायताम् साभिलापमनसा भावयताम् प्राणभृताम् प्राणिनाम् अयि तृष्णे देवि, यदि प्रसीदसि अनुग्रहं करोषि, तथा कृत्वा च अङ्गानि शरीरावयवान् तुङ्गानि महान्ति स्थूलानि च तनोषि कुरुषे चेत् तत् तदा, भोः इदं सम्बोधनम् आनन्दं व्यञ्जयितुम्, ब्रह्माण्डलक्षैरपि लक्षसंख्यैः ब्रह्माण्डैः प्राप्तैरपि कुतः शमकथा शान्तिचर्चा? अयमाशयः—क्षेत्रादिक्ष्मामण्डलान्तं प्राप्तवन्तोऽपि जनाः प्राप्तादधिकं कामयन्त इति न तिरोहितं दृष्टिशालिनामस्यां स्थितौ त्वं तृष्णा यदि प्रसद्य लब्धाधिकं ध्यायतां प्राणिनामङ्गानि स्थूलानि करोषि अर्थात् प्राप्तिप्रत्याशायां यत्र तत्र भ्रमणक्षमाणि सम्पाद्य स्वविस्तृतयेऽवसरमुत्पादयसि तदा ते सतृष्णा जना ब्रह्माण्डलक्षाणि प्राप्यापि न शमं भजिष्यन्त इति। तदेवं यतस्वेति तदनुरोधः पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ३२ ॥

स्वयम्—अप्रवर्त्तिता। अस्मिन्नर्थे—सतृष्णजनतृष्णासमेधने। नित्यम्—सततम्।

तृष्णा—आर्यपुत्रकी क्या आज्ञा है?
लोभ—प्रिये, सुनो,—
क्षेत्र, ग्राम, वन, पहाड़, गाँव, पृथ्वीमण्डल की आशामें जिनके दिल बंधे हैं, जो लब्धाधिक का ध्यान कर रहे हैं, यदि तुम कृपा करके उनके अङ्गों को स्थूलकर दो तो लाख ब्रह्माण्ड पालने पर भी प्राणियोंको शान्ति कहाँ होगी ॥ ३२ ॥
तृष्णा—आर्यपुत्र, मैं इस विषयमें खुद सचेष्ट रहती हूँ। अब आपके इशारा को

तदार्यपुत्रस्याज्ञया ब्रह्माण्डकोटयोऽपि न मे उदरं पूरयिष्यन्ति । (अज्जउत्त, सच्चं जेव्व दाव अहं एदस्सिं अत्थे णिच्चं अहिजुत्ता । संपदं अज्जउत्तस्स अण्णाए वह्मण्डकोटिओवि ण मे उदरं पूरइस्संदि)

क्रोधः—हिंसे, इत आगम्यताम् ।

(प्रविश्य हिंसा)

हिंसा—एषास्मि । आज्ञापयत्वार्यपुत्रः । (एसम्हि । आणवेदु अज्जउत्तो)

क्रोधः—प्रिये, तावत्त्वया सह धर्मचारिण्या मातृपितृवधोऽपि ममेषत्कर एव । तथाहि—

केयं माता पिशाची क इव हि जनको भ्रातरः केऽत्र कीटा
वध्योऽयं बन्धुवर्गः कुटिलविटसुहृच्चेष्टिता ज्ञातयोऽमी ।
(हस्तौ निष्पीड्य)
आगर्भं यावदेषां कुलमिदमखिलं नैव निःशेषयामि

अभियुक्ता-तत्परा । ब्रह्माण्डकोटयः-कोटिसंख्यकब्रह्माण्डानि । न मे उदरं पूरयिष्यन्ति तृप्तिं जनयिष्यन्ति ।

सहधर्मचारिण्या-स्त्रिया । ईषत्करः-सुकरः । हिंसासहचरः क्रोधो मातरं पितरमपि च हन्तुं प्रवृत्तिशालीति भावः ।

केयमिति० इयं पिशाची राक्षसी इव माता जननी का ? न काऽपीत्यर्थः, जनकः पिता क इव ? न कोऽपीत्यर्थः । कीटाः कीटवत्तुच्छाः भ्रातरः सोदराः अत्र के ? न कोऽपीति भावः । अयम् बन्धुवर्गः परिवारचयः वन्ध्यः निष्प्रयोजनः । अमी ज्ञातयः दायादाः कुटिलविटसुहृच्चेष्टिताः कुटिलाः वक्राभिसन्धयो ये विटाः धूर्त्तजारास्तद्वत् सुहृच्चेष्टितं मित्रताव्यवहारो येषां तादृशाः सन्तीति शेषः । यावत् यावत्कालपर्यन्तम् एषाम् भ्रातृबन्धुवर्गज्ञातीनाम् आगर्भम् गर्भावस्थितानप्यपरित्यज्य अखि-

---

पा लेने पर तो करोड़ों ब्रह्माण्ड भी हमारे उदरको पूर्ण नहीं कर पायेंगे ।

क्रोध—हिंसे, जरा इधर तो आना ।

(हिंसाका प्रवेश)

हिंसा—हाजिर हूँ, आर्यपुत्र आदेश दें ।

क्रोध—प्रिये, तुमको प्राप्त कर मेरे लिये माता-पिताका वध भी आसान है, क्योंकि—पिशाची माता कौन है ? पिता कौन है ? कीटतुल्य ये भाई कौन हैं ? बन्धुओंको मार भगाना चाहिये । इन ज्ञातिजनोंका आचरण कुटिलधूर्तों का सा है । जब तक गर्भ

स्फूर्जन्तः क्रोधवह्नेर्न दधति विरतिं तावदङ्गे स्फुलिङ्गाः ॥ ३३ ॥

(विलोक्य) एष स्वामी । तदुपसर्पामः । (सर्वे उपसृत्य) जयतु जयतु देवः ।

महामोहः—श्रद्धायास्तनया शान्तिरस्मद्द्वेषिणी । सा भवद्भिरवहितैर्निग्राह्येति ।

सर्वे—यदादिशति देवः ।

(इति निष्क्रान्ताः)

महामोहः—श्रद्धायास्तनया इत्युपक्षेपेणोपायान्तरमपि हृदयमारूढम् । तथाहि । शान्तेर्माता श्रद्धा । सा च परतन्त्रा । तत्केनाप्युपायेनोपनिषत्सकाशात्तावच्छ्रद्धापकर्षणं कर्तव्यम् । ततो मातृवियोगदुःखादति-

लम् समग्रम् इदम् कुलम् नैव निःशेषयामि समापयामि तावत् तदवधि अङ्गे मदीये देहे स्फूर्जन्तः वर्धमानाः क्रोधवह्नेः कोपाग्नेः स्फुलिङ्गाः अग्निकणाः विरतिम् निर्वृतिम् न दधति धारयन्ति । यावदेतेषां आम्नादीनामखिलमपि कुलं न विनाशयामि तावन्मम कोपस्य शान्तिर्न भवतीति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

तनया-पुत्री, तदुदितत्वाच्छान्तेस्तत्पुत्रीभावेन रूपणम् । अस्मद्द्वेषिणी-अस्माकं प्रतिपन्थिनी । अवहितैः-सावधानैः । निग्राह्या-निग्रहीतव्या, दण्डनीयेति यावत् ।

आदिशति-आज्ञापयति । अत्रार्त्तिशान्तिप्रतीतेः शमो नाम प्रतिमुखसन्धेश्चतुर्थमङ्गमुक्तं, तल्लक्षणं यथा—'आर्त्तिशान्तिः । शमः स्मृतः' इति ।

तनया-पुत्री । इत्युपक्षेपेण-हृदयस्य ध्यानपथागतत्वेन । उपायान्तरम्-अन्य

समेत इनके कुलका नाश नहीं कर लेता हूं तब तक क्रोधवह्निकी लपटें शान्त नहीं होंगी ॥ ३३ ॥

(देखकर) ये महाराज हैं । समीप जाता हूँ । (सभी जाते हैं) जय हो महाराजकी, जय हो ।

महामोह—श्रद्धाकी बेटी शान्ति हमारी शत्रु है, तुमलोग सावधानतासे उसे निगृहीत करो ।

सब—जो आज्ञा महाराज की ।

(सब जाते हैं)

महामोह—'श्रद्धाकी तनया है' इस प्रसङ्गसे एक दूसरा उपाय भी हमारी दृष्टिमें आगया । क्योंकि शान्तिका माता श्रद्धा । वह परतन्त्र है । इसलिये किसी छलसे उप-

मृदुलतया शान्तिरुपरता भविष्यति। श्रद्धां व्याक्रष्टुं मिथ्यादृष्टिरेव विलासिनी परं प्रगल्भेति तदस्मिन्विषये सैव नियुज्यताम्। (पार्श्वतो विलोक्य) विभ्रमावति, सत्वरमाहूयतां मिथ्यादृष्टिविलासिनी।

विभ्रमावती—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि)।

(निष्क्रम्य मिथ्यादृष्ट्या सह प्रविशति)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, चिरदृष्टस्य महाराजस्य कथं मुखं प्रेक्षिष्ये। न खलु मां महाराज उपालप्स्यते? (सहि, चिरदिट्ठस्स महाराअस्स कहं मुहं पेक्खिस्सं। णं खु मं महाराओ उवालहिस्सदि?)

विभ्रमावती—सखि, त्वन्मुखदर्शनेनात्मानमेव महाराजो न वेत्स्यति।

उपायः। सा च-शान्तिः। परतन्त्रा-मात्रायत्ता। उपनिपत्सकाशात्-उपनिषदः समीपदेशात्। श्रद्धाऽपकर्षणम्-श्रद्धाया दूरीकरणम्। अतिमृदुलतया-अतिसुकुमारतया। उपरता-मृता। श्रद्धासाहचर्यव्यपगमे शान्तेर्नाशस्तदायत्तत्वात्तस्या इति मनसिकृत्येदं रूपकम्। व्याक्रष्टुम्-अपगमयितुम्, उपनिषदः समीपाच्चालयितुमित्यर्थः। मिथ्यादृष्टिः-नास्तिकता। प्रगल्भा-धृष्टा, क्षमेति भावः। अस्मिन् विषये-श्रद्धाया उपनिपत्सकाशादपकर्षणरूपे कर्मणि। सा-मिथ्यादृष्टिः। नियुज्यताम्-अधिक्रियताम्। 'विभ्रमावति' इदं मिथ्यादृष्टिसख्या नाम, 'अन्यतोऽपि दृश्यते' इति विभ्रमशब्दस्य दीर्घः। सत्वरम्-शीघ्रम्। आहूयताम्-आकार्यताम्।

चिरदृष्टस्य-बहोः कालात् परतः साक्षात्कृतस्य। प्रेक्षिष्ये-द्रक्ष्यामि। उपालप्स्यते इयन्तं कालं कुत्र स्थितासि? कथं न दृष्टासि? इत्येवं प्रकारमुपालम्भं न प्रदास्यतीति जिज्ञासा।

त्वन्मुखदर्शनेन-त्वद्वदनावलोकनेन। आत्मानमेव न वेत्स्यति-आत्मानं विस्म-

---

निपद्के पाससे श्रद्धाको हथिया लें। इस तरह मांके वियोगमें शान्ति ढीली पड़ जायगी। श्रद्धाको बहकानेमें मिथ्यादृष्टि ही समर्थ हो सकेगी, अतः इस कार्यके लिये उसे ही नियुक्त करना चाहिये। (बगलकी ओर ताककर) विभ्रमावति, विलासिनी मिथ्यादृष्टिको शीघ्र बुला लाओ।

विभ्रमावती—महाराजकी जो आज्ञा।

(बाहर जाकर मिथ्या दृष्टिके साथ प्रवेश)

मिथ्यादृष्टि—सखि, बहुत दिनों के बाद महाराज का मुख कैसे देख सकूंगी, क्या महाराज मुझे उलाहने नहीं देंगे?

विभ्रमावती—सखि, तुम्हारा मुख देखकर महाराज अपने को भूल जायेंगे, फिर

कुत उपालप्स्यते ? (सहि, तुश्र मुहदंसणेण अप्पाणं जेव्व महाराओ ण वेइस्सदि । कुदो उवालहिस्सदि ?)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, किं मामलीकसौभाग्यां संभाव्य विडम्बयसि । (सहि, किं मं अलीअसोहग्गां संभाविअ विलम्बेसि)

विभ्रमावती—सखि, सांप्रतमेव प्रेक्षिष्येऽलीकत्वं सौभाग्यस्य । अन्यच्च निद्राघूर्णाकुले प्रियसख्या लोचने पश्यामि । तर्हि किं खलु प्रियसख्या लोचनस्य विनिद्रतायाः कारणम् । (सहि, संपदं जेव्व पेक्खिस्से अलिअत्तणं सोहग्गस्स । अण्णच्च णिद्दाघुम्माउले प्पिअसहीए लोअणे पेक्खेमि । ता किं खु प्पिअसहीए लोअणस्स विणिद्ददाए कालणम्)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, एकवल्लभापि या स्त्री भवति तस्या अपि निद्रा दुर्लभा । किं पुनरस्माकं सकललोकवल्लभानाम् । (सहि, एकवल्लहावि जा इत्थिआ भवई ताएवि णिद्दा दुल्लहा । किं उण अम्हाणं सअललोअवल्लहाणम्)

रिष्यति, आनन्दाधिक्येनात्मविस्मृतिर्भवतीत्यन्तर्निधायायं ग्रन्थः । कुतः ?—कस्मात् ?

अलीकसौभाग्याम्—मिथ्याभाग्यवतीम् । सम्भाव्य—कल्पयित्वा । त्वां दृष्ट्वैव महाराजः स्वं विस्मरिष्यतीति तव कथनम्मम सौभाग्यातिशयकल्पनया, नास्ति मम तादृशं सौभाग्यं यन्मयि महाराजस्य तथाभूतमाकर्षणं स्यादतो मामलीकसौभाग्यां कल्पयित्वोपहासो नोचित इति भावः । विडम्बयसि—उपहससि ।

अलीकत्वम्—असत्यताम् । विपरीतलक्षणया सत्यत्वमित्यर्थः, निद्राघूर्णाकुले—निद्रया घूर्णमाने तयैव चाकुले । प्रियसख्याः—तव । विनिद्रतायाः—जागरस्य । किमुद्दिश्य जागरेण निद्रां क्षपितवत्यसि, यदेवं घूर्णमाने व्याकुले च तव लोचने दृश्येते, नास्ति तव प्रियः परासक्तो यं प्रतीक्षमाणायास्तवेयं स्थितिः स्यादिति तात्पर्यम् ।

एकवल्लभा—एकत्र नायकेऽनुरक्ता । तस्याः—एकवल्लभायाः । साऽपि स्वं नायकं प्रतीक्षमाणा निशमुन्निद्रभावेन गमयन्ती सम्भवति । सकललोकवल्लभा-

---

उलाहना कैसा ?

मिथ्या०—सखि, क्यों मेरे सौभाग्य की मिथ्या कल्पना करके मुझे बना रही हो ?

विभ्रमा०—अभी तो तुम्हारे मिथ्या सौभाग्यको देखना है और तुम्हारी आंखोंमें रात जागरणकी खुमारी दीख पड़ती है, क्या कारण है ?

मिथ्या०—जिसका एक स्वामी होता है वह स्त्री भी ठीक से सो नहीं पाती है, फिर हमारी जैसी सकल लोकवल्लभाकी क्या बात ?

विभ्रमावती—के के पुनः प्रियसख्या वल्लभाः। (के के उण पिअस-हीए वल्लहा)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, प्रथमं महाराजः, अत उपरि कामः, क्रोधः, लोभः, अहंकारश्च। अथवालं विशेषेण। अस्मिन्कुले यो जातो बालः स्थविरो युवापि हृदयनिहितया मया विना रात्रिदिवसान्नाभिरमते। (सहि, पढमं महाराओ, अदो उवरि कामो, कोहो, लोहो, अहंकालो त्ति। अधवा अलं विसेसेण। एत्थ कुले जो जादो वालो ट्ठविरो जुवाणोवि हिअअणिहिदए मए विणा रदिदिअहाइं ण अहिरमई)

विभ्रमावती—नन्वस्य कामस्य रतिः, क्रोधस्य हिंसा, लोभस्य तृष्णा, प्रियतमेति श्रूयते। तासां कथं प्रियतमान्नित्यं रमयन्तीर्ष्या न संजनयसि। (णं एत्थ कामस्स रदी, कोहस्स हिंसा, लोहस्स तिण्हा परमप्पिआ सुणीअदि। तासं कधं पिअदमाणं निच्चं रमन्दी इस्सं ण संजाणेसि)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, ईर्ष्येति कथं भण्यते। ता अपि मया विना

नाम्र-सर्वजनप्रियाणाम्, वहुभक्तृकाणामित्याशयः।

अस्मिन् कुले-मोहवंशे। स्थविरः-वृद्धः। हृदयनिहितया-हृदयस्थापितया। मोहकुले यो जातः स वृद्धो युवा बालो वाऽस्तु मिथ्यादृष्टिं मां विना न रमते, सर्वेषां प्रियाऽहमिति भावः।

तासाम्-रतिहिंसातृष्णानाम्। प्रियतमान्-वल्लभान् कामक्रोधलोभान्। रमयन्ती-स्वेन सह विहारयन्ती। रतिहिंसातृष्णास्त्वया सह रममाणान् स्वप्रिया-न्कामक्रोधलोभान्विलोक्य त्वयीर्ष्यां कथं न वहन्ति? स्वभावो ह्येष नारीणां यत्ताः प्रियान् पराङ्गनाऽऽसक्तान् विलोकमानास्तस्यै स्त्रियै ईर्ष्यन्ति कुप्यन्ति च स्वनाय-केभ्य इति वाक्यार्थः।

ईर्ष्येति कथं भण्यते-तासामीर्ष्याभाजनमहं स्यामिति का कथा? तामपि परं

विभ्रमा०—तुम्हारे कौन कौन वल्लभ हैं?

मिथ्या०—सखि, प्रथम तो महाराज ही। उसके वाद काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार। अथवा विशेष नाम लेनेकी क्या जरूरत है? इस वंशमें जो हो, चाहे वह लड़का जवान बूढ़ा कोई हो, विना मुझे हृदयमें रखे चैन नहीं लेता है।

विभ्रमा०—कामकी स्त्री रति है, क्रोधकी हिंसा, लोभकी तृष्णा। फिर उनके प्रियतमों से स्नेह करती हो, क्या वह खफा नहीं होती?

मिथ्या०—सखि, ईर्ष्याकी क्या बात, वह भी मेरे विना एक क्षण भी चैन से नहीं

मुहूर्तमपि न तुष्यन्ति। (सहि, इत्थंसेत्ति कहं भणीअदि। ता अवि मए विणा मुहूत्तंवि ण तुस्संति)

विभ्रमावती—सखि, अत एव भणामि त्वत्सदृशी सुभगास्यां पृथिव्यां नास्ति, यस्याः सौभाग्यमाहात्म्यविधुरितहृदयाः सपत्न्यः प्रसादं प्रतीच्छन्ति। सखि, अन्यद्भणामि। एवं निद्राकुलनयनविसंस्थुलस्खलच्चरणनूपुरझङ्कारमुखरया गत्या महाराजं संभावयन्ती शङ्कितहृदयं करिष्यति प्रियसखीति तर्कयामि। (सहि, अदो जेव्व भणामि तुहसरिसी सुहआ इत्थिआ पुहिवीए णत्थि। जाए सोअग्गमहद्धिविहुरिअहिअआ सावत्तिओ प्पसाअं पडिच्छन्ति। सहि, अण्णच्च भणामि। एवं णिद्दाउलणअणविसंठुलक्खलन्तचलणणेउलंझकालमुहलाए गदीए महाराअं संभावयंदी संकिदहिअअं करिस्सदि पिअसहीति तक्केमि)

मिथ्यादृष्टिः—किमत्र शङ्कितव्यम्। न चास्माकं महाराजनियुक्ताना-

---

सन्तोषं प्रकटयन्तीति हि वस्तुस्थितिरतस्तदीर्ष्याप्रश्नोऽनवरप्राप्त इति भावः।

सुभगा-भाग्यशालिनी। यस्याः-तव। सौभाग्यमाहात्म्यविधुरितहृदयाः—भाग्यवत्ताऽतिशयपराजितमनसः। प्रसादम्-प्रसन्नताम्। प्रतीच्छन्ति-कामयन्ते। सपत्न्यो हि सपत्न्याः सौभाग्यं दृष्ट्वा दुःखमनुभवन्त्यस्ततो विरक्तास्तिष्ठन्ति, सार्वत्रिकोऽयं नियमः, परमिदं तव सौभाग्यस्यैव महत्त्वं यत्त्वत्सौभाग्यमहत्तया पराजितास्तव सपत्न्यस्तव प्रसादमेव प्रतीच्छन्त इति धन्यासीति भावः। निद्रेति० निद्रया स्वापप्रवृत्त्या आकुले पूर्णे ये नयने नेत्रे ताभ्याम् विसंस्थुलौ अयथास्थानन्यस्तावत एव च स्खलन्तौ निम्नोन्नतभूमिस्थापितत्वेन चलौ यौ चरणौ पादौ तयोः नूपुरयोः झङ्कारः शब्दस्तेन मुखरया स शब्दया गत्या-गमनेन। महाराजम्-मोहम्। संभावयन्ती-सत्कुर्वती। शङ्कितहृदयम्-परपुरुषरत्योन्निद्रत्वपात्तपणकृतोऽस्या नयनविकार इति मनसि भावयन्तम्। अहं तर्कयामि त्वां निद्राकुलनयनतया स्खलद्गमनां दृष्ट्वा तव परपुरुषोपभोगविषयां शङ्कां महाराजः करिष्यतीति भावः।

महाराजनियुक्तानाम्-महाराजेन पुमन्तररमणार्थमाज्ञप्तानाम्। एषोऽविनयः-

---

रहती है।

विभ्रमा०—इसीलिये तो कहती हूँ कि तुम्हारी जैसी सुभगा इस विश्वमें नहीं है जिसके सौभाग्यसे पराजित सपत्नियाँ भी प्रसादकी कामना करती हैं। सखि, और कहती हूँ, इस तरह निद्रासे अलस आंखों से स्खलित चरण चलती हुई तुम महाराजके हृदयमें आशङ्का उत्पन्न कर दोगी।

मिथ्यादृष्टि—इसमें शङ्काकी क्या बात है? हमलोग तो महाराजकी आज्ञासे ही ऐसा

सैवैषोऽविनयः । अपि च सखि, दर्शनमात्रप्रसन्नानां पुरुषाणां पुरतः कीदृशं भयम् । (किं एत्थ संकिदव्वं । णं अम्हाणं महाराअणिउत्ताणं जेव्व एसो अविणओ । अविअ सहि, दंसणमत्तप्पसण्णाणं पुरिसाणं पुरो कीरिसं भअम्)

महामोहः—(विलोक्य) अये, संप्राप्तेव प्रिया मिथ्यादृष्टिः । या एषा—

श्रोणीभारभरालसा दरगलन्माल्योपवृत्तिच्छला-
लीलोत्क्षिप्तभुजोपदर्शितकुचोन्मीलन्नखाङ्कावलिः ।
नीलेन्दीवरदामदीर्घतरया दृष्ट्या धयन्ती मनो
दोषान्दोलनलोलकङ्कणरणत्कारोत्तरं सर्पति ॥ ३४ ॥

ईदृशेनाकारेण महाराजोपसर्पणरूपः । दर्शनमात्रप्रसन्नानाम्–कामिनीविलोकनमात्रहृष्टानाम् । एतेन पुरुषाणां कामुकभावातिशयावेदनेन तेषां स्त्रीकृतचापलविषयकनिपुणनिरीक्षणाक्षमत्वं बोधितम् ।

सम्प्राता–समायाता ।

श्रोणीभारेति० श्रोणी नितम्बस्तस्या भारो गौरवं तस्य भरः समुदयस्तेन अलसा मन्दगतिः, दरम् ईषत् गलतः धम्मिल्लदेशात् स्रंसमानस्य माल्यस्य पुष्पदाम्नः उपवृत्तिः स्वस्थानप्रापणं तस्य च्छलात् व्याजात् उपदर्शितौ दर्शनगोचरीकृतौ कुचौ स्वस्तनौ तयोः, उन्मीलन्ती स्फुटलक्ष्या नखाङ्कावलिः करजचिह्नराजिः यस्याः सा तादृशी, नीलेन्दीवरदामदीर्घतरया नीलकमलमालाविशालया दृष्ट्या नयनेन मनः विलोककहृदयम् धयन्ती पिबन्ती समधिकमाकर्षन्ती दोष्णोः बाह्वोः आन्दोलनेन चालनेन लोलयोः चलयोः कङ्कणयोः पाणिभूषणविशेषयोः रणत्कारः झणझणायमानता तदुत्तरम् तेन सह सर्पति, इयं मम मिथ्यादृष्टिर्नाम प्रिया समायाति या नितम्बभारवशान्मन्दगमना धम्मिल्लस्रंसमानपुष्पदामसमीकरणच्छद्मना कुचास्थितनखाङ्कं दर्शयन्ती, श्यामलदृष्टिच्छटया बलादिव मनो हरन्ती, बाह्वोरान्दोलनेन झणत्कुर्वत्कङ्कणा चेति भावः । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ३४ ॥

अविनय करती हैं । इसके अलावा पुरुषोंसे क्या भय जब देखने से ही पुरुषोंको प्रसन्न कर लिया जा सकता है ।

महामोह—(देखकर) मेरी प्रिया मिथ्यादृष्टि आ रही है । यह—

श्रोणीभारसे अलस तथा गिरती हुई मालाकी उपवृत्तिके छलसे बाहु उठाकर स्तनस्थित नखाङ्क दिखाकर श्याम कमल समान दीर्घ नयनोंसे हृदय हरती हुई बाहु हिलानेसे कङ्कण खनखनाती हुई आ रही है ॥ ३४ ॥

विभ्रमावती—एष महाराजः। उपसर्पतु प्रियसखी। (एसो महाराओ। उवसप्पदु पिअसही)

मिथ्यादृष्टिः—(उपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः। (जअदु जअदु महाराओ)

महामोहः—प्रिये,

दलितकुचनखाङ्कमङ्कपालीं रचय ममाङ्कमुपेत्य पीवरोरु।
अनुहर हरिणाक्षि शंकराङ्कस्थितहिमशैलसुताविलासलक्ष्मीम् ॥३५॥

(मिथ्यादृष्टिः सस्मितं तथा करोति)

महामोहः—(आलिङ्गनसुखमभिनीय) अहो, प्रियायाः परिष्वङ्गात्परावृत्तं नवयौवनम्। तथाहि—

उपसर्पतु–समीपं गच्छतु।

दलितेति० दलिताः दृढाश्लेषवशान्मृष्टाः कुचनखाङ्काः स्तनस्थितानि नखक्षतानि यत्र तथेति क्रियाविशेषणम्–दलितकुचनखाङ्कम् इति तथा अङ्कपालीम् आलिङ्गनं रचय विधेहि, पीवरोरु मांसलोरुदेशे हरिणाक्षि मृगनेत्रे, द्वयम् इदं मिथ्यादृष्टिरूपनायिकासम्बोधनम्, मम मोहस्य अङ्कम् क्रोडम् उपेत्य प्राप्य शङ्कराङ्के शिवक्रोडे स्थिता या हिमशैलसुता पर्वतराजपुत्री तस्या विलासः स्वपत्या सह स्वच्छन्दं निधुवनविलसितम् तस्य लक्ष्मीम् शोभाम् अनुहर अनुकुरु। मदङ्के स्थिता पार्वत्या हरक्रोडस्थितायाः सादृश्यमानप्नुहि, अनेनोपमालङ्कारेणावयोरविघ्नं विलसितं प्रवर्त्तामिति व्यञ्जितम्॥ पुष्पिताग्रा वृत्तम्, लक्षणं पूर्वमुक्तम्॥ ३५॥

तथाकरोति–मोहमालिङ्गति।

परिष्वङ्गात्–आलिङ्गनात्। परावृत्तम्–गत्वा निवृत्तम्। गतयौवनोऽप्यहमधुना

विभ्रमावती—ये महाराज हैं, तुम चलो।

मिथ्यादृष्टि—(समीप जाकर) जय हो महाराजकी।

महामोह—प्रिये,

ओ पीवरोरु, मेरी गोदमें बैठकर कुचगत नखाङ्कको दलित कर आलिङ्गन प्रदान करो और ओरी मृगनयनी, महादेवकी गोदमें बैठी पार्वतीकी शोभाको प्राप्त कर लो॥ ३५॥

(मिथ्यादृष्टि हंसकर वैसा करती है)

महामोह—(आलिङ्गन सुख पाकर) अहा! प्रियतमाके आलिङ्गनसे हमारी जवानी लौट आई है। क्योंकि—

यः प्रागासीदभिनववयोविभ्रमावाप्तजन्मा
चित्तोन्माथी विविधविषयोपप्लवानन्दसान्द्रः ।
वृत्तीरन्तस्तिरयति तवाश्लेषजन्मा स कोऽपि
प्रौढः प्रेमा नव इव पुनर्मान्मथो मे विकारः ॥ ३६ ॥

मिथ्यादृष्टिः—महाराज, अहमपि सांप्रतं नवयौवना संवृत्ता । न खलु भावानुबन्धः प्रेमा कालेनापि विघटते। आज्ञापयतु महाराजः किंनिमित्तं भट्टारकेण स्मृतास्मि । (महाराअ, अहंवि संपदं नवजोवणा संवुत्ता । ण खु भावाणुबन्धो प्पेमा कालेणावि विघडिअदि । आणवेदु महाराओ किंणिमित्तं भट्टिणा सुमरिदम्हि)

महामोहः—प्रिये,
स्मर्यते सा हि वामोरु या भवेद्धृदयाद्बहिः ।

प्रिययाऽऽलिङ्गितः सन् युवेव प्रतीये तन्मन्ये मम यौवनं गत्वा पुनः परावृत्तमिवेति भावः ।

यः प्रागिति० अभिनववयो विभ्रमावाप्तजन्मा नवीनावस्थोचितविलासप्राप्तजनुः चित्तोन्माथी हृदयोन्मादकः विविधविषयोपप्लवानन्दसान्द्रः नानाविधभोग्यपदार्थसम्बन्धसमुद्भूतहर्षपूर्णः यः मान्मथो विकारः कामवेगः मे मम मोहस्य प्राक् यौवनावस्थायाम् आसीत् सः नव इव प्रौढः प्रेमा अनुपभुक्त इव प्रगाढस्तवाश्लेषजन्मा त्वदङ्गसङ्गसमुद्भवः स्नेहः अन्तः हृदयदेशावच्छेदेन वृत्तीः तत्तद्बाह्यवस्तुविषयकज्ञानानि तिरयति आवृणोति। मम यौवनदशायां यादृशो मन्मथो विकार आसीत्स एव संप्रति त्वदालिङ्गनेन प्रादुर्भूय ममान्तर्वृत्तीरावृणोतीति मन्ये मदीयं यौवनमेव परावृत्तमिति भावः । शालिनीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ॥ ३६ ॥

साम्प्रतम्—भवता सङ्गमस्यात्र काले। नवयौवना—नववयाः। संवृत्ता—जाता। भावानुबन्धः—हृदयगतः। प्रेमा—स्नेहः। विघटते—न्यूनीभवति। भट्टारकेण—राज्ञा भवता।

स्मर्यत इति० हे वामोरु सुन्दरजङ्घे, सा स्मर्यते ध्यायते या हृदयात् बहिः अन्यत्र

नई जवानीकी मस्तीसे उत्पन्न होने वाला तथा हृदयको मथकर नाना प्रकारका वैषयिक सुख उपस्थित करने वाला जो कामविकार पहले था, वह फिरसे तुम्हारे आलिङ्गनसे उद्भूत होकर सभी वृत्तियोंको तिरोहित कर रहा है ॥ ३६ ॥

मिथ्यादृष्टि—महाराज मैं भी इस समय नई नवेली सी हो रही हूँ, भावानुबन्धी प्रेम पर समयकी आंच नहीं लगती है। कृपया आप बतावें क्यों याद की गई हूँ।

महामोह—प्रिये, जो हृदयसे दूर हो उसे याद किया जाता है, तुम तो हमारे

मच्चित्तभित्तौ भवती शालभञ्जीव राजते ॥ ३७ ॥

मिथ्यादृष्टिः—महान्प्रसादः । (महाप्पसादो)

महामोहः—यथैव प्रकाशितैरङ्गैः सर्वत्र विचरसि तथैव प्रवर्तितव्यम् । अन्यच्च दास्याः पुत्री श्रद्धा विवेकेन सहोपनिषदं संयोजयितुं कुट्टिनीभावं प्रतिपन्ना । अतः—

प्रतिकूलामकुलजां पापां पापानुवर्तिनीम् ।
केशेष्वाकृष्य तां रण्डां पाषण्डेषु निवेशय ॥ ३८ ॥

मिथ्यादृष्टिः—एतावन्मात्रेऽपि विषये अलं भर्तुरभिनिवेशेन । वचनमात्रेणैव भर्तुर्दासी श्रद्धा सर्वामाज्ञां करिष्यति । सा खलु मया मिथ्या धर्मो, मिथ्या मोक्षो, मिथ्या वेदमार्गो, मिथ्या सुखविघ्नकराणि शास्त्र-

---

भवेत्, (स्मरणात्मकज्ञानस्यासन्निहितविषयकत्वनियमात्तस्या एव स्मरणं क्रियते हृदयेन या न तत्र स्थिता) भवती त्वम् मच्चित्तभित्तौ मद्हृदयरूपकुड्ये शालभञ्जी चित्रविन्यस्तपुत्तलिका इव राजते । अतश्च तव नित्यहृदयस्थतया स्मरणस्य प्रश्न एव नास्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

प्रकाशितैः–अनावृतैः । दास्याः पुत्रीति निन्दार्थे । कुट्टिनीभावम्–दौत्यम् । प्रतिपन्ना–गता ।

प्रतिकूलामिति० प्रतिकूलाम् अस्मदननुकूलकार्यपरायणाम् अकुलजाम् दुष्कुलसम्भवाम् पापाम् स्वकुलक्षयप्रवृत्ततयाऽसदाचाराम् पापानुवर्त्तिनीम् पापानां शमादीनामनुगामिनीम् ताम् रण्डाम् नियामकरहितत्वेन रण्डासादृश्यात्तथोक्तिः । श्रद्धाम् पाखण्डेषु सद्धर्मशून्येषु केशेष्वाकृष्य बलाद् गृहीत्वा निवेशय प्रवर्त्तय । श्रद्धा हि त्रिविधा सात्त्विकी, राजसी, तामसी च, तत्र सात्त्विकी श्रद्धा निष्ठावतामेव, अपरे पाखण्डानाम्, अतः श्रद्धासामान्येन नास्माकं भयं किन्त्वाद्ययैव, तेन श्रद्धां पाखण्डेषु निवेश्य नोभयमपासयेति भावः ॥ ३८ ॥

एतावन्मात्रे–लघुनीह कार्ये । अभिनिवेशेन–मनोव्यापारेण । वचनमात्रेण–मदा-

---

हृदयमें क्रीडा पुत्तलिका की तरह अवस्थित हो ॥ ३७ ॥

मिथ्या०—बड़ी कृपा है ।

महामोह—जिस तरह खुले वदन सब जगह जाती हो वैसे ही घूमा करना, और अभागी श्रद्धा विवेकके साथ उपनिषद्को मिलानेमें कुट्टिनी बनी हुई है, अतः—

हमारी विरोध करने वाली पापा, पापाचारा तथा वरजात उस रांड श्रद्धाको चोटी पकड़ कर पाखण्डोंमें आसक्त कर दो ॥ ३८ ॥

मिथ्या०—इतनी सी बातके लिये आप चिन्ता न करें, कहनेसे ही आपकी दासी श्रद्धा आज्ञा पालन करने लगेगी । उसे जब मैं—'धर्म मिथ्या है, मोक्ष मिथ्या है, वेदमार्ग

प्रलपितानि, मिथ्या स्वर्गफलमिति श्रवयमाना वेदमार्गमेव परिहरिष्यति, किं पुनरुपनिषदम्। अपि च। विषयानन्दविमुक्ते मोक्षे दोषान्दर्शयन्त्योपनिषदोऽपि विरक्ता करिष्यतेऽचिरं मया श्रद्धा। (एद्दहमेत्तके वि विसए अलं भट्टिणो अहिणिवेसेण। वअणमत्तकेण जेव्व भट्टिणो दासी सद्धा सव्वं अण्णां करिस्सदि। एा खु मए मिच्छा धम्मो, मिच्छा मोक्खो, मिच्छा वेअमग्गो, मिच्छा सुहविग्घअराइं, सत्थपलविदाइं, मिच्छा सग्गफलं त्ति सुणिअन्ती वेअमग्गं जेव्व परिहरिस्सदि, किं उण उवणिसहम्। अवि अ। विसआणन्दविमुक्के मोक्खे दोसाणं दंसअन्तीए उवणिसदोवि विरत्ता करिस्सदि अचिरं मए सद्धा)।

महाराजः—यद्येवं सुष्ठु मे प्रियं संपादितं प्रियया। (पुनरालिङ्ग्य चुम्बति)

मिथ्यादृष्टिः—भट्टारकस्य प्रकाशे एवं प्रवृत्तेन लज्जे। (भट्टिणोप्पआसे एव्वं प्पउत्तेण लज्जेमि)

महामोहः—तद्भवतु। स्वागारमेव प्रविशामः। (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके द्वितीयोऽङ्कः॥ २ ॥

श्रया केवलया। वेदमार्गपरिहारे तदवयवरूपोपनिषत्परिहारो न्यायसिद्ध इत्याह—वेदमार्गमिति० विषयानन्दविमुक्ते-सांसारिकसुखशून्ये। मोक्षे-जडताऽऽपत्तिरूपे कैवल्ये।

भट्टारकस्य-सूर्यस्य। तथा च स्मर्यते-'तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्' इति हितोपदेशे। एवंप्रवृत्तेन-भवतश्चुम्बनव्यापारेण।

स्वागारम्—निजावासगृहम्। अनेन चुम्बनाद्यभिलापपूर्त्तेर्दुर्वारता ध्वनिता।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते प्रबोधचन्द्रोदय'प्रकाशे'
द्वितीयाङ्क'प्रकाशः'

मिथ्या है, सुखविघ्नकर शास्त्र व्यर्थ है, स्वर्गफल व्यर्थ है', यह बता दूंगी तो वह वेदमार्ग ही छोड़ देगी, फिर उपनिषद्की क्या बात? और—विषयानन्दशून्य मोक्षके दोषों को दिखाकर उसे उपनिषद्से भी शीघ्र ही विरक्त कर दूंगी।

महाराज—यदि ऐसी बात है तब तो तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। (फिर गले लगाकर चूमता है)

मिथ्यादृष्टि—दिनदहाड़े आपकी इस प्रवृत्तिसे लज्जा लगती है।

महामोह—अच्छी बात है, घरमें ही चलें। (सब जाते हैं)

द्वितीय अङ्क समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शान्तिः करुणा च)

शान्तिः—(सास्रम्) मातः मातः, क्वासि । देहि मे प्रियदर्शनम् । ततः—

मुक्तातङ्ककुरङ्गकाननभुवः शैलाः स्खलद्वारयः
पुण्यान्यायतनानि संततपोनिष्ठाश्च वैखानसाः ।
यस्याः प्रीतिरमीषु सात्रभवती चण्डालवेश्मोदरं
प्राप्ता गौः कपिलेव जीवति कथं पापण्डहस्तं गता ॥ १ ॥

अथवालं जीवितसंभावनया । यतः—

सास्रम्–सरुदितम् । प्रियम्–इष्टम् ।

मुक्तातङ्केति० मुक्तः त्यक्तः आतङ्कः भयम् यैस्ते मुक्तातङ्काः निर्भयाः कुरङ्गाः मृगाः येषु तादृशानि यानि काननानि वनानि तेषां भुवः पृथिव्यः निर्भयचरन्मृग-काननधरण्यः, स्खलद्वारयः जलप्रपातयुक्ताः शैलाः पर्वताः, पुण्यानि पवित्राणि आयतनानि देवमन्दिराणि, सन्ततपोनिष्ठाः सदा तपस्यापरायणाः वैखानसाः ऋषयः च, अमीषु अनन्तरमुक्तेषु पदार्थेषु यस्याः भवत्याः श्रद्धायाः प्रीतिः अनुरागः, सा अत्रभवती पूजनीया मम माता श्रद्धा पापण्डहस्तं वेदवाह्यजनाधिकारम् गता चाण्डालवेश्मोदरम् चण्डालगृहमध्यम् प्राप्ता कपिला गौः इव कथं केन प्रकारेण जीवति ? याऽत्रभवती निर्भयसञ्चरन्मृगभूमिषु जलप्रपातशीतलितशिखरभूधरेषु पवित्रदेवतामन्दिरेषु ऋषिसाहचर्ये च प्रीतिं बिभर्त्ति, पापण्डहस्तंगता सा चाण्डाल-भवनमुपेतो कपिला गौरिव कथं जीवनं यापयति ? अतिकष्टं भवत्या जीवनमित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

अलं जीवितसंभावनया–सम्प्रति यावद्भवती जीवनं धारयन्ती भविष्यतीति कल्पना व्यर्थेत्यर्थः ।

(शान्ति तथा करुणाका प्रवेश)

शान्ति—(रोकर) मां कहां हो ? मुझे दर्शन दो ।

निर्भय मृगयुक्त वनभूमि, झरनेवाले पर्वत, पुण्य आश्रम, तपोनिष्ठ मुनिजनसे जो स्नेह करती है, वह श्रद्धा पाखण्डोंके हाथ पड़कर चाण्डालके घरमें पड़ी गायकी तरह कैसे जीती होगी ? ॥ १ ॥

अथवा—जीते रहनेकी संभावना करना व्यर्थ है, क्योंकि—

मामनालोक्य न स्नाति न भुङ्क्ते न पिबत्यपः।
न मया रहिता श्रद्धा मुहूर्तमपि जीवति ॥ २ ॥

तद्विना श्रद्धया मुहूर्तमपि शान्तेर्जीवितं विडम्बनमेव। तत्सखि करुणे, मदर्थं चितामारचय। यावदचिरमेव हुताशनप्रवेशेन तस्याः सहचरी भवामि।

करुणा—(सास्रम्) सखि, एवं विषमज्वलनज्वालोल्कादुःसहान्यक्षराणि जल्पन्ती सर्वथा विलुप्तजीवितां मां करोषि। तस्मात्प्रसीदतु मुहूर्तं जीवितं धारयतु प्रियसखी। यावदितस्ततः पुण्येष्वाश्रमेषु मुनिजनसमाकुलेषु भागीरथीतीरेषु निपुणं निरूपयामि कदाचिन्महामोहभीत्या कथ-

मामिति० माम् स्वदुहितरम् अनालोक्य अदृष्ट्वा न स्नाति न भुङ्क्ते भोजनं करोति, न अपः जलानि पिबति, (तदेवम्) मया शान्त्या रहिता वियुक्ता श्रद्धा मुहूर्त्तम् एकमपि क्षणं न जीवति प्राणान् धारयति। मद्दर्शननियतप्राणायास्तस्या मया वियोगे जीवनमशक्यसंभावनमिति भावः ॥ २ ॥

तत्–तस्मात्, (यतो मद्वियोगे मम स्नेहेन मदीया माता श्रद्धा न जीवति तदुचितं तद्वियुक्ताया ममापि प्राणविसर्जनमिति) विडम्बनम्–आडम्बरः। चिताम्–दाहौपयिकमग्निस्थानम्। आरचय–कुरुष्व। अचिरम्–शीघ्रम्। हुताशनप्रवेशेन–पावकप्रवेशेन। तस्याः–स्वमातुः श्रद्धायाः। सहचरी–समीपं गता।

विषमेति० विषमा अतिदुःसहा, ज्वलनज्वाला वह्निदाहः, तस्याः उल्का तथा दुःसहानि सोढुमशक्यानि नितान्तकठोरतया मर्मव्यथकानि। अक्षराणि–वाक्यानि। जल्पन्ती–अभिदधाना। विलुप्तजीविताम्–मृताम्। त्वदीयानि स्वप्राणविसर्जनतत्परताद्योतकतया मर्मच्छिन्दिवचनानि श्रुत्वा मदीयं जीवनं गतमिव जायते इति विलुप्तजीवितामित्युक्तेराशयः। प्रसीदतु–अनुग्रहं करोतु। इतस्ततः–यत्रतत्र। मुनिजनसमाकुलेषु–ऋषिकुलाक्रान्तेषु। भागरथीतीरेषु–गङ्गातटेषु। निपुणं निरूपयामि–

जो श्रद्धा विना मुझे देखे न नहाती है, न खाती है, न पानी ही पीती है, वह मुझसे बिछुड़ कर क्षणभर भी नहीं जी सकती है ॥ २ ॥

इसलिये श्रद्धाके विना क्षणभरके लिये भी शान्तिका ज़ीना विडम्बना है। सखि करुणे, मेरी चिता रच दे। मैं शीघ्र ही प्राण त्यागकर उसकी सहचरी हो जाऊं।

करुणा—(रोकर) सखि, इस प्रकार अतितीव्र उल्का समान अक्षरों का उच्चारण करके तुम हमारी जान ले रही हो। कृपाकर थोड़ी देर जीवन धारण करो, जब तक

मपि प्रच्छन्ना निवसति । (सहि, एव्वं विसमज्जलणज्जालाउल्लकादुःसहाइं अक्खराइं जप्पन्ती सव्वघा विलुत्तजीविदं मं करेसि । ता प्पसीददु मुहूत्तं जीविदं धारेदु पिअसही । जाव इदो तदो पुण्णेसु अस्समेसु मुणिअणसमाउलेसु भाईरहीतीरेसु णिउणं निरुवेम्हि कआवि महामोहभीदिआ कहमवि पच्छण्णा णिवसदि)

शान्तिः—सखि, किमन्विष्यते । अन्वेषितैव—

नीवाराङ्कितसैकतानि सरितां कूलानि वैखानसै-
राक्रान्तानि समिच्चषालचमसव्याप्ता गृहा यज्वनाम् ।
प्रत्येकं च निरूपिताः प्रतिपदं चत्वार एवाश्रमाः
श्रद्धायाः क्वचिदप्यहो खलु मया वार्तापि नाकर्णिता ॥ ३ ॥

साधु गवेषयामि । प्रच्छन्ना–गुप्ता । तावद्भवती मयि कृपां कृत्वा जीवनं धारयतु यावदहमिह पूतेषु मुन्याश्रमेषु गङ्गापरिसरेषु च श्रद्धां साधु गवेषयामि, सम्भाव्यते–कदाचिन्मोहद्भीता सा क्वचिदत्र प्रच्छाद्यात्मानं स्थिता स्यादिति तात्पर्यम् ।

किम् अन्विष्यते–वृथान्वेषणम्, नास्ति तदाप्तेः सम्भावनेति भावः । 'अन्वेषितैव' इत्यत्र मयेति शेषः, मया कृतेऽन्वेषणे पुनस्त्वत्कर्तृकमन्वेषणं पिष्टपेषणकल्पमित्यर्थः ।

नीवारेति० नीवारैः मुन्यन्नैः अङ्कितानि युक्तानि सैकतानि पुलिनानि येषान्तादृशानि वैखानसैः आक्रान्तानि अध्युषितानि सरिताम् नदीनाम् कूलानि तटप्रदेशाः, समिधः काष्ठानि, चषालः यूपकटकः, चमसाः यज्ञपात्राणि तैर्व्याप्ताः आकीर्णाः यज्वनाम् यज्ञकृतामध्वर्यूणाम् गृहाः आश्रमाः, प्रतिपदम् अखिलेषु स्थानेषु प्रत्येकम् एकैकशश्च चत्वार एव चत्वारोऽपि आश्रमाः ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थसन्न्यासनामानः निरूपिताः सूक्ष्मेक्षिकया दृष्टाः, अहो आश्चर्यम्, क्वचिदपि एषु कुत्रापि मया श्रद्धायाः विश्वासापराभिधानाया मानसिकनिष्ठायाः वार्त्ता कथा अपि न आकर्णिता श्रुता । नीवाङ्कितपुलिनेषु सरित्तटेषु मुन्यधिष्ठितस्थानेषु याज्ञिकजनगृहेषु चतुर्ष्वपि चाश्रमेषु

इधर उधर पुण्याश्रम तथा मुनिजननिषेवित गङ्गातटमें अच्छी तरह ढूंढ़ती हूं । कदाचित् महामोहके भयसे कहीं छिपी हुई हो ।

शान्ति—सखि, क्या अन्वेषण करोगी, खोजा तो—

नीवारयुक्त तट वाले मुनिसेवित नदीकूल, समिध्, चपाल तथा चमससे पूर्ण याज्ञिकोंके घर, सर्वत्र खोज की गई, चारो आश्रमों में अन्वेषण किया, किन्तु श्रद्धा की चर्चा कहीं नहीं सुनी ॥ ३ ॥

करुणा—सखि, एवं भणामि। यदि सैव सात्त्विकी श्रद्धा तदा तस्या नेदृशीं दुर्गतिं संभावयामि। न खलु तादृश्यः पुण्यमय्यः सत्य एतादृशी-मसंभावनीयां विपत्तिमनुभवन्ति। (सहि, एव्वं भणामि। जइ सा जेव्व सत्तई सद्धा तदो ताए ण एरिसीं दुग्गदिं संभावेमि। ण खु तारिसीओ पुण्णमयी सदीओ एतारिसीं असंभावणिज्जं विपत्तिं अणुहवन्दि)

शान्तिः—सखि, किन्तु प्रतिकूले विधातरि न संभाव्यते। तथाहि—

श्रीदेवी जनकात्मजा दशमुखस्यासीद्गृहे रक्षसो
नीता चैव रसातलं भगवती वेदत्रयी दानवैः।

मया प्रतिपदं तिलशोऽन्वेषणं कृतमथापि मया श्रद्धाया वार्त्ताऽपि नाकर्णिता, एवं-स्थितावपि भवती तदन्वेषणे प्रवर्त्तते, तत्र साफल्यस्याशा न कार्येति भावः। एव-कारोऽत्राप्यर्थकः, शङ्खः पाण्डुरेवेत्यत्र यथा। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम्॥ ३॥

सात्त्विकी—सत्त्वगुणाधारा। श्रद्धायास्त्रैविध्यमुक्तं भगवता गीतायाम्—'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतभूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः'॥ नेदृशीम्—न एतादृशीम्। दुर्गतिम्—पीडाम्। सात्त्विक्याः श्रद्धायाः सकलकल्याणकरत्वेन नेदृशी कष्टमयी दशासम्भावनामारोहति 'न हि कल्याणकृत्तात दुर्गतिं जातु गच्छति' इति स्मरणात्।

तादृश्यः=श्रद्धासमाः। पुण्यमय्यः—पवित्राः। सत्यः—अदूषितचारित्राः। अस-म्भावनीयाम्—अनाशङ्कनीयाम्। विपत्तिम्—कष्टपरम्पराम्।

प्रतिकूले—पराङ्मुखे। विधातरि—ब्रह्मणि। विधौ विमुखे सर्वं सम्भाव्यतेऽतः श्रद्धाया अप्येतादृग् विपदुपनिपातो नात्यन्तासम्भाव्य इति भावः।

श्रीदेवीति० श्रीदेवी लक्ष्मीस्वरूपादेवतारूपा च जनकात्मजा सीता रक्षसः राक्षसस्य दशमुखस्य रावणस्य गृहे लङ्कायाम् नीता अपहृता आसीत्, भगवती विश्ववन्द्या वेदत्रयी ऋग्यजुःसामलक्षणा वेदत्रितयी चैव रसातलं पातालम् दानवैः दैत्यैःनीताऽऽ-

---

करुणा—सखि, मेरा यह कहना है—जो सात्त्विकी श्रद्धा है उसकी ऐसी दुर्गति की संभावना मैं नहीं करती हूं। वैसी पुण्यमयी इस तरहकी विपत्तिका अनुभव नहीं कर सकती हैं।

शान्ति—भाग्य विपरीत होनेपर क्या नहीं हो सकता है? देखो—

देवी श्रीजनकात्मजाको राक्षसोंके घर रहना पड़ा था, वेदत्रयीको दानवोंने पाताल

गन्धर्वस्य मदालसां च तनयां पातालकेतुश्छला-
दैत्येन्द्रोऽपजहार हन्त विषमा वामा विधेर्वृत्तयः ॥ ४ ॥

एवं विधिविलसितमेतदिति संप्रधारय । तद्भवतु । पाषण्डालयेष्वेव तावदनुसरावः ।

करुणा—सखि, एवं भवतु । (सहि, एवं भोदु) (इति परिक्रामतः)

(अग्रतो विलोक्य)

करुणा—(सत्रासम्) सखि, राक्षसो राक्षसः । (सहि, रक्खसो रक्खसो)

शान्तिः—कोऽसौ राक्षसः ?

करुणा—सखि, पश्य पश्य । य एष गलन्मलपिच्छिलबीभत्सदुःप्रे-

सीत् । गन्धर्वस्य देवयोनिभेदस्य मदालसां नाम तनयाम् पुत्रीम् दैत्येन्द्रः दानवमुख्यः पातालकेतुः तदाख्यः अपजहार हृत्वा स्वं लोकं नीतवान् । तदेतत्सर्वं सामान्यतोऽर्थान्तरन्यासेन समर्थयति—हन्त खेदे, विधेः ब्रह्मणः वृत्तयः व्यापाराः विषमाः कुटिलाः, कारणान्वेषणविधुरा इत्यर्थः । साक्षाल्लक्ष्मीस्वरूपायाः सीताया दशमुखकर्त्तृकापहरणे वेदत्रय्याश्च दैत्यैः पातालप्रापणे एवं मदालसानामिकाया गन्धर्वसुतायाः पातालकेतुद्वाराऽपहरणे विधेर्वामत्वादतिरिक्तं किमपि कारणमनुसन्धानदुरापं तदेवं श्रद्धाया अपि विपदुपनिपातो विधिवैपरीत्यप्रभव एवेति बोध्यम् ॥ ४ ॥

विधिविलसितम्–भाग्यकृत्यम् । एतत्–श्रद्धायाः कष्टम् । सम्प्रधारय–निश्चयेन विद्धि । पाषण्डालयेषु–वेदबाह्यजनगृहेषु राजसतामसश्रद्धयोभाजनानां भवनेष्विति हृदयम् ।

य इति० गलता बहिर्भवता मलेन नासाक्षिकर्णादिकायच्छिद्रद्वारनिर्गतधात्वादिमलेन पिच्छिला आर्द्रा अत एव च बीभत्सा घृणाव्यञ्जिका दुष्प्रेक्ष्या द्रष्टुमयोग्या

पहुँचा दिया, गन्धर्वकन्या मदालसाको दैत्येन्द्र पातालकेतुने छलसे हर लिया। विधाता की वृत्तियाँ बड़ी टेढ़ी हुआ करती हैं ॥ ४ ॥

ऐसा भाग्यका विधान है इसे समझो । अच्छी बात । पाखण्डालयमें खोजें ।

करुणा—सखि, ऐसा ही हो । (चलती हैं)

(आगेकी ओर देखकर)

करुणा—(डरकर) सखि, राक्षस है राक्षस ।

शान्ति—कहाँ राक्षस है ?

करुणा—सखि, इधर देखो, देखो, मलके गिरते रहनेसे इसकी देह पिच्छिल हो

द्यदेहच्छविः उल्लुञ्चितचिकुरमुक्तवसनदुर्दर्शनः शिखिशिखण्डपिच्छिकाहस्त इत एवाभिवर्तते। (सहि, पेक्ख पेक्ख। जो एसो गलन्तमलपिच्छिलवीहत्सदुप्पेक्खदेहच्छवी उल्लुंचिअचिउरमुक्कवसणदुद्दंसणो सिहिसिहण्डपिच्छिआहत्थो इदो जेव्व अहिवट्टदि)

शान्तिः—सखि, नायं राक्षसः। नीर्वीर्यः खल्वयम्।

करुणा—तर्हि क एष भविष्यति। (ता को एसो भविस्सदि)

शान्तिः—सखि, पिशाच इति शङ्के।

करुणा—सखि, प्रस्फुरन्महामयूखमालोद्भासितभुवनान्तरे ज्वलति प्रचण्डमार्तण्डमण्डले कथं पिशाचानामवकाशः? (सहि, पप्फुरन्तमहामऊहमालोब्भासिअभुअणन्तरे जलदि प्पचण्डमात्तण्डमण्डले कहं पिसाआणं अवआसो?)

देहच्छविः कायकान्तिर्यस्य तादृशः। उल्लुञ्चितचिकुरः लुञ्चितकेशः, मुक्तवसनः नग्नश्च अत एव दुर्दर्शनः दर्शनायोग्यः। शिखिनो मयूरस्य शिखण्डिका पिच्छः हस्ते यस्य तादृशः। इत एवाभिवर्त्तते–इमामेव दिशमागच्छति। एतद्वर्णनं जैनसाधोः–तेषां मते स्नानं निषिद्धं तथाकरणे जीवविनाशसंभवात्, कचोल्लुञ्चनं विवसनत्वं चाचारपरिप्राप्तम्, शिखिपिच्छञ्चते मार्गावस्थितसूक्ष्मजन्तूनामपासनाय बिभ्रतीति तत्परिचायकेऽत्र वाक्ये सर्वमुपात्तम्।

निर्वीर्यः=पौरुषबलरहितः।

पिशाचः–प्रेतः। शङ्के–उत्प्रेक्षे। मलदिग्धत्वविवसनत्वादिमूलेयमुत्प्रेक्षा।

प्रस्फुरदिति० प्रस्फुरतः प्रकटस्य महामयूखस्य किरणस्य मालया समूहेन उद्भासितं भुवनान्तरं धरित्र्या अन्तरालं येन तादृशे। ज्वलति–दीप्यमाने। प्रचण्डमार्त्तण्डमण्डले–प्रखरसूर्यमण्डले। कथं पिशाचानामवकाशः–केन प्रकारेण प्रेतानां प्रचारस्यावसरः, ते हि तमसि सर्पन्ति ज्वलति चाधुना मध्यन्दिनतरणिः प्रखरैः स्वैः करैस्तदयं पिशाचो न संभवतीति भावः।

रही है, बाल नोंच दिये गये हैं, कपड़ा नहीं है, हाथ में मयूरपिच्छिका है।

शान्ति—सखि, यह राक्षस नहीं है, यह निवीर्य है।

करुणा—तो फिर यह कौन है?

शान्ति—सखि, पिशाच मालूम पड़ता है।

करुणा—सखि, किरणों से भुवनको उद्भासित करनेवाले प्रचण्ड सूर्यमण्डलके सामने पिशाच कैसे होंगे?

शान्तिः—तर्हि अनन्तरमेव नरकविवरादुत्तीर्णः कोऽपि नारकी भविष्यति। (विलोक्य विचिन्त्य च) आः, ज्ञातम्। महामोहप्रवर्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः। तत्सर्वथा दूरे परिहरणीयमस्य दर्शनम्। (इति पराङ्मुखी भवति)

करुणा—सखि, मुहूर्तकं तिष्ठ। यावदत्र श्रद्धामन्वेषयामि। (सहि, मुहूत्तकं चिट्ठ। जाव एत्थ ! सद्धां अण्णेसामि)

(उभे तथा स्थिते)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो दिगम्बरसिद्धान्तः)

दिगम्बरः—ॐ नमोऽर्हद्भ्यः। नवद्वारपुरीमध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति। एष जिनवरभाषितः परमार्थोऽयं मोक्षसुखदः। (इति परिक्रामति)

अनन्तरम्–इदानीम्। नरकविवरात्–रौरवादिनामकनरकविलात्। उत्तीर्णः–बहिर्गतः। कोऽपि नारकी कश्चन नरकवासी। महामोहप्रवर्त्तितः–मोहेन प्रचारितः। दिगम्बरसिद्धान्तः–जैनमतप्रभेदः। परिहरणीयम्–त्याज्यम्, अर्हद्भ्यः–जैनमत ईश्वरस्य नाम अर्हन् इति तथा चोक्तम्—'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः' इति। नवद्वारपुरी–नवेन्द्रिययुता तनुः। दीप इव ज्वलति–प्रदीपवत् प्रकाशते। अयं हि दिगम्बरसिद्धान्तः–अङ्गुष्ठपरिमाण एवात्मा हृत्पुण्डरीककोशमध्ये दीपवज्ज्वलति, गृहाभ्यन्तरवर्त्तिदीपप्रभावदङ्गुष्ठमात्रस्यैव जीवस्य सर्वदेहव्याप्तेः सुखदुःखादयो भवन्तीति। तस्मात्परिच्छिन्नपरिमाण आत्मा, स एवानादिवासनाभिः सुखदुःखभोगार्थं शरीरे निःक्षिप्य बध्यते, तन्निवृत्तिश्च भगवताऽर्हतादर्शितैर्धर्मैः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलाऽऽरोहणादिभिर्जायते, तथा च दिगम्बरश्रुतिः—'पञ्जरस्थः शुको यद्वद्विमुक्तो बन्धनाद् व्रजेत्'। त्वरितं तद्वदेवात्मा विमुक्तश्चोर्ध्वगो भवेत्। इति परमार्थः–सारभूतोऽर्थः। मोक्षसुखदः–मोक्षरूपपरमानन्दप्रदः। श्रावकाः–गृहस्था जनाः, ते हि श्रवणाधिकृतत्वात् श्रावका उच्यन्ते।

शान्ति—तो फिर अभी अभी नरकसे निकला हुआ कोई नारकी होगा। (देख तथा सोचकर) अहा, समझ गया। यह तो महामोह प्रवर्त्तित दिगम्बर मत है। इसके दर्शनसे बचना चाहिये। (मुंह फेर लेती है)

करुणा—सखि, क्षणभर रुकजा, जबतक यहाँ श्रद्धाको खोज लूं।

(दोनों खोजती हुई ठहरती हैं)

(यथा वर्णित दिगम्बर मतका प्रवेश)

दिगम्बर—अर्हन् को नमस्कार है। नवद्वारपुरी मध्यमें आत्मा दीपकी तरह जल

(आकाशे) अरेरे श्रावकाः, शृणुध्वम्—

(ॐ णमो अलिहन्ताणम् । णवदुवालशन्तलमज्झे अप्पा दीवेव्व जलदि । एसो जिणवलभासिदो पलमत्थो जं मोक्खसुखदो अलेले सावका, सुणाध ।)

मलमयपुद्गलपिण्डे सकलजलैरपि कीदृशी शुद्धिः ।
आत्मा विमलस्वभावः ऋषिपरिचरणैर्ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥

(मलमअपुग्गलपिण्डे सअलजलेहिं वि केलिसी सुद्धी ।
अप्पा विमलसहाओ लिसिपलिचलणेहिं जाणव्वो ॥)

किं भणथ कीदृशमृषिपरिचरणमिति । तच्छृणुध्वम्—

(किं भणत्थ केलिसं लिसिपरिचलणं ति । ता सुणुध)—

दूरे चरणप्रणामः कृतसत्कारं च भोजनं मिष्टम् ।
ईर्ष्यामलं न कार्यं ऋषीणां दारान् रममाणानाम् ॥ ६ ॥

(दूले चलणपणामो, किदसक्कालं च भोअणं मिट्ठम् ।
इस्सामलं ण कज्जं, लिसिणं दालाणँ लमन्ताणम् ॥)

मलमयेति० मलमये श्लेष्ममूत्रादिमलैः पूर्णे पुद्गलानां परमाणूनां पुञ्जरूपे पिण्डे देहे 'पुद्गलपिण्डे' देहे इति वा 'पुद्गलं वपुरात्मनः' इति धरणी । सकलजलैः समस्तैरपि वारिभिः कीदृशी किमाराशुद्धिः, सर्वस्मिन्नपि जले उपयुक्ते स्वाभाविकरूपेण मलवतोऽस्य देहस्य शुद्धिर्न संभवतीत्यर्थः । (न चानेन कायिकमलेनात्मा लिप्यते) आत्माविमलस्वभावः सहजनिर्मलः, स चात्मा ऋषिपरिचरणैः साधुसेवाभिर्ज्ञातव्यः । आत्मस्वरूपं प्रागुक्तम् ॥ ५ ॥

ऋषिपरिचरणैरात्माज्ञातव्य इत्युक्तं तत्र का ऋषिपरिचरणप्रक्रियेति वक्तुमाह—कीदृशमिति ।

दूरे इति० दूरे दूरदेशतः चरणप्रणामः पादवन्दनम्, शरीरस्पर्शस्तु न कार्य इति भावः । कृतसत्कारं योग्यादरपूर्वकम् मिष्टं मधुरं भोजनम्, नैतावदेव, किन्तु

रही है । यही जिनवर भापित परमार्थ सिद्धान्त मोक्षसुखदाता है । अरे ओ श्रावको, सुनो—

मलमय पुद्गलपिण्डरूप देहकी कैसी शुद्धि? यह आत्मा विमल स्वभाव का है यह बात ऋषि परचर्यासे जानी जाती है ॥ ५ ॥

क्या कहा? ऋषि परिचर्या कैसे की जाती है? तो सुन लो—

दूरसे चरणोंमें प्रणाम करो, सत्कारपूर्वक मधुर भोजन दो, यदि ऋषि तुम्हारी स्त्रियों के साथ विहार करें तो मनमें ईर्ष्या मत करो ॥ ६ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

श्रद्धे, इतस्तावत्। (सद्धे, इदो दाव) (उभे सभयमालोकयतः)

(ततः प्रविशति तदनुरूपवेषा श्रद्धा)

श्रद्धा—किमाज्ञापयति राजकुलम्। (किं आणवेदि लाउलम्) (शान्तिर्मूर्च्छिता पतति)

दिगम्बरसिद्धान्तः—श्रावकाणां कुटुम्बं मुहूर्तमात्रमपि मा परिहरिष्यति भवती। (सावकाणं कुलं मुहुत्तमेकं वि मा पलिहलिस्सदि भवदी)

श्रद्धा—यदाज्ञापयति राजकुलम्। (जं आणवेदि लाउलम्) (इति निष्क्रान्ता)

करुणा—समाश्वसितु प्रियसखी। न खलु नाममात्रेण प्रियसख्या भेतव्यम्। यतः श्रुतं मया हिंसासकाशाद्यदस्ति पाषण्डानामपि तमसः सुता श्रद्धेति। तेनैषा तामसी श्रद्धा भविष्यति। (समस्ससदु पिअसही। णं खु णाममेत्तकेण पियसहीए भेदव्वं। जदो सुदं मए हिंसासआसादो जं अत्थि

ऋषीणाम् साधूनाम् दारान् श्रावकजनवनिताः रममाणानाम् भुञ्जानाम् ईर्ष्यामलम् कथमिमेऽन्येषां दारान् रमयन्तीत्येवं बुद्धिरीर्ष्यामलं तन्न कार्यम्, तेषां वीतबन्धनत्वाद्यथेच्छाचारस्याविगीतत्वात्तदुपदेशवशादेव च धर्मस्य व्यवस्थाप्यत्वात् ॥ ६ ॥

मूर्च्छिता—विगतचेतना, शान्तिः स्वमातरं श्रद्धां नितान्तभ्रष्टानां दिगम्बरसिद्धान्तानामालयेषु दृष्ट्वा स्वमातुर्दशापरिवर्त्तनेन पातित्यं सम्भाव्य मूर्च्छिता जातेति बोध्यम्।

परिहरिष्यति-त्यक्ष्यति, यथामी श्रावका अस्मासु श्रद्धां कथमपि कदापि न जह्युस्तथा यतनीयं भवत्येति।

नाममात्रेण-श्रद्धेति नामसादृश्येन नेयं भवत्या माता श्रद्धा, सा हि सात्त्विकी,

---

(नेपथ्यकी ओर देखकर)

श्रद्धे, जरा इधर आना। (दोनों सभय देखती हैं)

(तदनुरूप वेशधारिणी श्रद्धाका प्रवेश)

श्रद्धा—राजकुलका क्या आदेश है? (शान्ति मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है)

दिगम्बरसिद्धान्त—श्रावक परिवारको क्षणभरके लिये भी मत छोड़ना।

श्रद्धा—राजकुलकी जैसी आज्ञा। (जाती है)

करुणा—धीरज धरो प्रियसखि, नाममात्रसे तुमको नहीं डरना चाहिये। मैंने सुना

पासण्डाणं वि तमसः मुदा सद्धेति। तेण एसा तामसी सद्धा भविस्संदि)

शान्तिः—(समाश्वस्य) सखि, एवमेवैतत्। तथाहि—

दुराचारा सदाचारां दुर्दशा प्रियदर्शनाम्।
अम्बामनुसरत्येषा दुराशा न कथंचन ॥ ७ ॥

तद्भवतु तावत्। सौगतालयेष्वप्यसावन्विष्यताम्।

(शान्तिकरुणे परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति भिक्षुरूपः पुस्तकहस्तो बुद्धागमः)

भिक्षुः—(विचिन्त्य) भो भो उपासकाः,

सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च
यत्रार्पिता बहिरिव प्रतिभान्ति भावाः।

अन्या चेयं श्रद्धा तामसी, तन्नामसाम्येन स्वमातुः पातमुत्प्रेक्षयालं भयेनेति तात्पर्यम्।

एवमेवैतत्—नामसाम्यमेवेदम्, इयमत्र दृश्यमाना तामसी श्रद्धैव, न मम मातेति बोध्यम्।

दुराचार्येति० दुराचारा। अशोभनाचारा दुर्दशा भीषणाकृतिः दुराशा नीचा इयम् तामसी श्रद्धा एषा सदाचाराम् चारित्रशुद्धाम् प्रियदर्शनाम् रमणीयाकृतिमनोहराम् अम्बाम् मम मातरं सात्त्विकीं श्रद्धाम् कथञ्चन केनापि प्रकारेण नैवानुसरति नानुकरोति। केवलं नामैव समानं नान्यत् किमप्यतो न मम मातेयमिति भावः ॥ ७ ॥

सौगतालयेषु—बौद्धगृहेषु असौ—सात्त्विकी श्रद्धा।

पुस्तकहस्तः—हस्तधृतपुस्तकः। बौद्धा बुद्धोपदेशं सङ्कलितं धर्मग्रन्थं सदा हस्ते धारयन्तीति रूढयेत्थमुक्तम्। उपासकाः—बौद्धागमविचारतत्पराः।

सर्वे इति० सर्वे भावाः पदार्थाः क्षणक्षयिणः क्षणभङ्गुराः निरात्मकाः असन्तश्च,

---

है कि हिंसाके मुंहसे पाखण्डियोंके पास भी तामसी श्रद्धा रहती है। यह वही तामसी श्रद्धा होगी।

शान्ति—(धीरज धर कर) सखि, यही बात है, क्योंकि—

अभागी यह दुराचारा तथा दुर्दर्शना हमारी सदाचारा तथा प्रियदर्शना अम्बाका अनुसरण किसी तरह भी नहीं कर रही है ॥ ७ ॥

अच्छा, तो तबतक सौगतालयमें उसकी खोज की जाय। (शान्ति और करुणा चलती है)

(भिक्षुरूप पुस्तकहस्त बुद्धागमका प्रवेश)

भिक्षु—(सोचकर) अरे ओ उपासको,

जिस धीसन्ततिमें अर्पित होनेसे सभी क्षणक्षयी तथा शून्यात्मकभाव बहिःस्थितकी

सैवाधुना विगलिताखिलवासनत्वा-
द्धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा ॥ ८ ॥

(परिक्रम्य पुनः सश्लाघम्) (अहो, साधुरयं सौगतधर्मो यत्र सौख्यं मोक्षश्च । तथाहि—

आवासो लयनं मनोहरमभिप्रायानुरूपा वणिङ्-
नार्यो वाञ्छितकालमिष्टमशनं शय्या मृदुप्रस्तराः ।
श्रद्धापूर्वमुपासिता युवतिभिः क्लृप्ताङ्गदानोत्सव-

'यत्सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी' इति प्रामाणिकोक्तेः । अमी क्षणभङ्गुरा निरात्मकाश्च भावाः यत्र यस्यां धीसन्ततो विज्ञानधारायाम् अर्पिताः प्रतिफलिताः बहिरिव बाह्या इव प्रतिभान्ति भासन्ते, एतन्मते सर्वेऽपि पदार्था ज्ञानाकारा एवेति । सैव धीसन्ततिः अधुना सम्प्रति विगलिताखिलवासनत्वात् सकलसंस्कारोच्छेदात् निर्विषयोपरागा विषयोरक्तिरहिता स्फुरति प्रकाशते एतन्मते सांसारिकवासनाभिर्धीसन्ततौ प्रतिफलान्ति भावास्ते च क्षणभङ्गुराः सत्ताशून्याश्चापि सन्तो प्रतिभासमानशरीरा यावत् तिष्ठन्ति तावद्बन्धः, सांसारिकवासनाच्छेदे तु विषयोपरागराहित्येन शुद्धा धीसन्ततिः स्फुरति सैव दशा निर्वाणस्येति सिद्धान्तः । एतेन मुक्तोऽहमिति कथितम् । धीसन्ततिस्वरूपमाह धर्मकीर्त्तिः—'स्वाभाविकमेव संविदः स्वप्रकाशत्वं, विषयास्तत्र विष्वक्प्रकाशन्ते' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥८॥

साधुः—प्रशस्यः । सुगतो बुद्धः, तस्यायं सौगतो धर्मः । सौख्यं कामनापूर्त्तिः । मोक्षः परमपदप्राप्तिः ।

आवास इति० मनोहरम् रमणीयम् लयनम् कुट्टिमगृहम् आवासः निवासस्थानम्, अभिप्रायानुरूपाः इच्छालभ्याः वणिङ्नार्यः श्रेष्ठिजनललनाः रूपाजीवा वेश्या वा, वाञ्छितकालम् इष्टे समये इष्टम् अभिलाषानुरूपम् अशनम्, मृदुप्रस्तराः कोमलास्तरणाः शय्याः । श्रद्धापूर्वम् एषां भिक्षूणां सेवां शरीरार्पणादिकर्मणाऽऽराधनम् बुद्ध-

---

तरह प्रतीत होते हैं, समस्त वासनाके विगलित हो जानेके कारण विषयोपरागशून्य वह धीसन्तति प्रकाशित हो रही है ॥ ८ ॥

(चलकर, प्रशंसासे) अहा, धन्य है यह सौगतधर्म जिसमें सुख तथा मोक्ष दोनों हैं । क्योंकि—

रहनेके लिये कोठा, इच्छानुवर्त्तिनी सेठोंकी स्त्रियाँ, उचित समय पर मधुर तथा यथेष्ट भोजन, कोमल शय्या, श्रद्धासे युवतियाँ अङ्गदानपूर्वक उपासना करती हैं । इस

क्रीडानन्दभरैर्व्रजन्ति विलसज्ज्योत्स्नोज्ज्वला रात्रयः ॥ ९ ॥

करुणा—सखि, क एष तरुणतालतरुप्रलम्बो लम्बमानकषायपिशङ्ग-चीवरो मुण्डितसचूडमुण्डपिण्ड इत एवागच्छति । (सहि, को एसो तरुण-तालतरुप्पलम्बो लम्बन्तकसाअपिसङ्गचिउरो मुण्डिदसचूडमुण्डपिण्डो इदो जेव्व आअच्छदि)

शान्तिः—सखि, बुद्धागम एषः ।

भिक्षुः—(आकाशे) भो भो उपासकाः भिक्षवश्च, श्रूयतां भगवतः सुगतस्य वाक्यामृतम् । (पुस्तकं वाचयति) पश्याम्यहं दिव्येन चक्षुषा

शीतिकृते इति विश्वासपूर्वकम् वक्षशाङ्गदानोत्सवक्रीडानन्दभरैः सिद्धशरीरसमर्पणजन्य-सुरतानन्दसमूहैः युवतिभिरारूढयौवनाभिरन्यनारीभिः उपासिताः विलसज्ज्योत्स्नो-ज्ज्वलाः स्फुटचन्द्रधवलाः रात्रयः व्रजन्ति । अस्माकं भिक्षूणां सौभाग्यमिदं यत्सुन्दर-मावासस्थानं लभामहे, यथेच्छं वारनारीरालिङ्गामः, उचिते समयेऽभिमतं भोजनं प्राप्नुमः, कोमलप्रच्छदपटं शयनीयमुपयुञ्ज्महे, युवतिभिः परस्त्रीभिः साधूनां सेवया भगवान् प्रसीदतीति विश्वासमन्तराधाय स्वयमागत्य रतियाचनायां क्रियमाणायां चन्द्रधवलासु निशासु ताभिः सह रमामहे इति । बौधमते बौद्धपरिव्राजकलिङ्गपूजां स्त्रियो निजपत्यनुमत्यैव कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः । एतेनास्माकं भिक्षूणां भोगेन सहैव मोक्षोऽप्युपपद्यत इति परमं सौभाग्यमस्माकमन्येषान्तु न तथेति स्वमते व्यतिरेक उक्तः । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ९ ॥

तरुणतालतरुप्रलम्बः–प्रौढतालवृक्षदीर्घः । लम्बमानम् आस्तीर्यमाणम् कषाय-पिशङ्गरक्तं कषायपिशङ्गवर्णं चीवरं बृहदाकृतिपरिधानं यस्य तादृशः । मुण्डितसचूड-मुड़पिण्डः–कारितसशिखशिरोवपनः ।

उपासकाः–बौद्धमते श्रद्धालवो गृहस्थाः । वाक्यामृतम्–वचनसुधाम् , वचनानां सर्वविधसन्तापहरत्वेन सुधात्वमुपचरितम् । सुगतिम्–सत्कर्म । दुर्गतिम्–दुष्कर्म ।

तरह चन्द्रिकाधवल रात्रियाँ आनन्दमें कटती हैं ॥ ९ ॥

करुणा—यह कौन है जो ताड़की तरह लम्बा, लटकता हुआ केसरिया चोगा पहने शिखा समेत सिर घुटवाये इधर ही आरहा है ।

शान्ति—सखि, यह बुद्धागम है ।

भिक्षु—(आकाशकी ओर) अरे ओ उपासको और भिक्षुओं, भगवान् सुगतके वचनामृत सुनलो । (पुस्तक बांचता है) मैं दिव्य दृष्टिसे लोगोंकी सुगति तथा दुर्गति देखा

लोकानां सुगतिं दुर्गतिं च। क्षणिकाः सर्वे संस्काराः। नास्त्यात्मा स्थायी। तस्माद्भिक्षुषु दारानाक्रमत्सु नेर्षितव्यम्। चित्तमलं हि तद्यदीर्ष्यानाम। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) श्रद्धे, इतस्तावत्।

(प्रविश्य श्रद्धा)

श्रद्धा—आज्ञापयतु राजकुलम्। (आणवेदु लाउलम्)

भिक्षुः—उपासकान्भिक्षूंश्च चिरमालिङ्ग्य स्थीयताम्।

श्रद्धा—यदाज्ञापयति राजकुलम्। (जं आणवेदि लाउलम्) (इति निष्क्रान्ता)

शान्तिः—सखि, इयमपि तामसी श्रद्धा।

करुणा—एवमेतत्। (एवं णेदम्)।

क्षपणकः—(भिक्षुमालोक्योच्चैःशब्दम्)। अरेरे भिक्षुक, इतस्तावत्। किमपि पृच्छामि। (अलेले भिक्खुअ, इदो दाव। किंपि पुच्छिस्सम्)

नास्त्यात्मा स्थायी–सर्वेषां भावानां क्षणिकत्वेनात्मनोऽप्यस्थायित्वं निवेदितमेव, दारान्–स्त्रियः, उपासकानाम् इति शेषः। आत्मनोऽस्थायित्वे येनात्मना परपुरुषोपसर्पणं कृतं स तु गतं एवेति वृथा कोपं श्रीणां भिक्षुरतौ मा कारीति भावः। चित्तमलम्–मनोमालिन्यकरम्, तच्च ज्ञानपरिपन्थीति तन्न कार्यमिति भावः। उपासकान्–श्रद्धायुक्तान्गृहिणः, चिरम्–बहुकालपर्यन्तम्। तामसश्रद्धावत्त्व एव गृहस्था भिक्षुभ्यो निजदारानुपहरिष्यन्तीति तदुपायमेवान्येन वाक्येन कृतवानयं भिक्षुरिति तात्पर्यम्।

क्षपणकः—जैनागममतावलम्बी दिगम्बरः।

करता हूं। सभी संस्कार क्षणिक हैं। स्थायी आत्मा नहीं है। अतः भिक्षु यदि स्त्रियों पर आक्रमण करे तो ईर्ष्या मत करना। ईर्ष्या चित्तका मल है। (नेपथ्य की ओर देखकर) श्रद्धे, जरा इधर आना।

(श्रद्धाका प्रवेश)

श्रद्धा—राजकुलका क्या आदेश है ?

भिक्षु—उपासकों तथा भिक्षुओंसे सदा लिपटी रहो।

श्रद्धा—राजकुलकी जैसी आज्ञा। (जाती है)

शान्ति—सखि, यह भी तामसी श्रद्धा है।

करुणा—यही बात है।

क्षपणक—(भिक्षुको देखकर, जोरसे) अरे ओ भिक्षुक, इधर आना। कुछ तुम्हें पूछूंगा।

भिक्षुः—(सक्रोधम्) आः पाप पिशाचाकृते, किमेवं प्रलपसि ।

क्षपणकः—अरे, मुञ्च क्रोधम् । शास्त्रगतं पृच्छामि । (अले, मुञ्च कोहम् । साच्छगदं पुच्छामि)

भिक्षुः—अरे क्षपणक, शास्त्रकथामपि वेत्सि । भवतु । प्रतीक्षामस्तावत् । (उपसृत्य) किं पृच्छसि ।

क्षपणकः—भण तावत्क्षणविनाशिना त्वया कस्य कृते इदं व्रतं धार्यते । (भण दाव क्खणविणासिणा तुए कस्स किदे एदं व्वदं धालीअदि)

भिक्षुः—अरे श्रूयताम् । अस्मत्संततिपतितः कश्चिद्विज्ञानलक्षणः समुच्छिन्नवासनो मोक्ष्यते ।

क्षपणकः—अरे मूर्ख, कस्मिन्नपि मन्वन्तरे कोऽपि मुक्तो भविष्यति ।

पिशाचाकृते–पिशाचवन्नग्नाकृतिशालिन् ।

क्षणविनाशिना–क्षणविनाशिसर्वमिति मन्यमानेन । अयमाशयः–यस्य मते सर्वं क्षणिकं तस्यात्माऽपि क्षणिकः, तर्हि किमर्थं व्रतादिकष्टं क्रियेत, येन व्रतं क्रियते तस्य तत्फलभोगायास्थायित्वादिति ।

अस्मत्सन्तीति० भावानां क्षणिकत्वं ज्ञानाकारत्वं चातिष्ठमाना बौद्धा धीसन्ततिमनुवर्त्तमानामभिप्रयन्ति तेनैव शरीरपातप्रसङ्गमापाद्यमानं वारयन्ते, तदभिप्रायेणैवेदमुत्तरम्, अस्मात् सन्ततिपतितः–अहं व्रतकर्त्ता यद्धीसन्ततौ तद्धी सन्ततौ भावी कोऽपि मोक्ष्यते, तेन व्रतानुष्ठायिमोक्ष्यमाणयोरेकसन्ततिगतत्वेन व्रतमोक्षयोर्न वैयधिकरण्यमिति न त्वदुक्तवृथात्वशङ्का । समुच्छिन्नवासनः–नष्टवासनः, वासनानाशो मोक्षहेतुः स च व्रतादिकायक्लेशसाध्य इति बौद्धप्रसिद्धिमनुरुध्योक्तम् ।

मन्वन्तरे–कतिपययुगानन्तरे ।

भिक्षु—(क्रोधसे) आः पाप पिशाचाकृते, क्या बक–बक कर रहा है ।

क्षपणक—अरे, क्रोध छोड़ो, शास्त्रगत बात पूछनी है ।

भिक्षु—अरे क्षपणक, तू शास्त्रकी बातें भी जानता है । अच्छी बात है । मैं इन्तजार करूंगा । (समीप जाकर) क्या पूछता है ।

क्षपणक—तू क्षण विनाशी है तो फिर किसके लिये यह व्रत करता है ।

भिक्षु—अरे, सुनो, हमारी सन्ततिमें पतित कोई विज्ञानलक्षण निवृत्तवासन होगा । उसे मोक्ष होगा ।

क्षपणक—अरे मूर्ख, किसी मन्वन्तरमें कोई मुक्त होगा, तुम जो इस समय कष्ट उठा

ततस्ते सांप्रतं नष्टस्य कीदृशमुपकारं करिष्यति। अन्यच्च पृच्छामि। केन ते ईदृशो धर्म उपदिष्टः? (अले मुलुक्ख, कस्सिंवि मण्णन्तले कोवि मुक्को भविस्सदि। तदो दे संपदं णट्ठस्स कीरिसं उवआलं कलिस्सदि। अण्णं च पुच्छामि। केण दे ईरिसो धम्मो उवदिट्ठो?)

भिक्षुः—नूनं सर्वज्ञेन भगवता बुद्धेनोक्तोऽयमेव धर्मः।

क्षपणकः—अरे, सर्वज्ञो बुद्ध इति कथं त्वया ज्ञातम्। (अले, सव्वण्णो बुद्धोत्थि त्ति कधं तुए णादम्)

भिक्षुः—ननु रे, तदागमैरेव प्रसिद्धो बुद्धः सर्वज्ञ इति।

क्षपणकः—अरे उज्झितबुद्धिक, यदि तस्य भाषितेन सर्वज्ञत्वं प्रतिपन्नोऽस्मि तदहमपि सर्वं जानामि। त्वमपि पितृपितामहैः सह सप्तपुरुषमस्माकं दास इति। (अले, उज्झिअबुद्धिअ, जयि तस्स भासिदेण सव्वण्णत्तं पडिवज्जेसि ता अहं वि सव्वं जाणामि। तुमंपि पिदुपिदामहेहिं सद्धं सत्तपुलिसं अम्हाणं दासो त्ति)

भिक्षुः—(सक्रोधम्) आः पाप, पिशाच मलपङ्कधर, कस्तवाहं दासः?

नष्टस्य–मृतस्य। तदागमैः–बुद्धागमैः।

उज्झितबुद्धिक निर्बुद्धे तस्य–बुद्धस्य। प्रतिपन्नः–ज्ञातवान्। 'अहमपि सर्वं जानामि' इति मदुक्त्या ममापि सर्वत्वं प्रतिपद्यस्व, बुद्धस्य सर्वज्ञतां यथा तदुक्तौ विश्वस्य प्रतिपन्नोऽसि तथैव मदुक्तौ विश्वस्य ममापि सर्वज्ञतां प्रति विश्वासं कुर्विस्याशयः।

पाप–पापाचार। पिशाच–राक्षसवदभव्यदर्शन। मलपङ्कधर–मलिनतनो।

रहे हो वह तुम्हारा क्या उपकार करेगा। और मैं पूछता हूं किसने तुम्हें इस तरहका धर्मोपदेश किया?

भिक्षु—सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने यह उपदेश किया है, यही धर्म है।

क्षपणक—अरे, बुद्ध सर्वज्ञ हैं यह तुमको किसने बताया?

भिक्षु—उनके शास्त्रमें बुद्धकी सर्वज्ञता प्रसिद्ध है।

क्षपणक—अरे निर्बुद्धि, यदि उसीके कहनेसे उसे सर्वज्ञ मानता है तो मैं भी सर्वज्ञ हूं, बाप दादों के सहित तुम भी हमारे दास हो।

भिक्षु—(क्रोधसे) अरे पाप, मलपङ्कधर, मैं तुम्हारा कैसा दास हूँ?

क्षपणकः—अरे विहारदासीभुजङ्ग दुष्टपरिव्राजक, दृष्टान्त एष मया दर्शितः। तत् प्रियं ते विस्रब्धं भणामि। बुद्धानुशासनं परिहृत्यार्हतानुशासनमेवानुसृत्य दिगम्बरमतमेव धारयतु भवान्। (अले विहालदासीभुअङ्ग दुट्ठपलिवज्जिअ, दिट्ठंदो एसो मए दंसिदो। ता पिअं दे विस्सद्धं भणामि। बुद्धाणुसासणं पलिहलिअ अलिहन्ताणुसासणं जेव्व अनुसलिअ दिअवलमदं जेव्व धालेदु भवम्)

भिक्षुः—आः पाप, स्वयं नष्टः परानपि नाशयितुमिच्छसि।

स्वाराज्यं प्राज्यमुत्सृज्य लोके निन्द्यामनिन्दितः।
अभिवाञ्छति को नाम भवानिव पिशाचताम्॥ १०॥

अपि च, आर्हतमपि धर्मवेदनं कः श्रद्दधाति?

विहारदासीभुजङ्ग-वेश्याभर्त्तः। दृष्टान्तः-निदर्शनम्। यथा बुद्धोक्तौ विश्वस्य तदीयां सर्वज्ञतां प्रतिपन्नोऽसि तथा मदीयोक्तौ विश्वस्य स्वस्य मम दासत्वमपि त्वया स्वीकर्त्तव्यमिति दृष्टान्तो मया दर्शितो न तु वास्तविके तव दासत्वे मम तात्पर्यमिति।

विस्रब्धम्-विश्वस्तम्। बुद्धानुशासनम्-बौद्धमतम्। परिहृत्य-त्यक्त्वा। आर्हतानुशासनम्-जैनमतम्। दिगम्बरमतम्-जैनमतैकदेशम्।

नष्टः—पतितः। नाशयितुम्-पातयितुम्, जैनमतं धारयित्वा भ्रंशयितुमित्यर्थः।

स्वाराज्यमिति० प्राज्यं प्रकृष्टम् स्वराज्यम् उत्सृज्य त्यक्त्वा भवानिव भवद्वत् लोकनिन्द्याम् शास्त्रगर्हिताम् पिशाचताम् क्षपणकत्वम् को नाम अभिवाञ्छति। यथाभवानिह मते विश्वस्य पिशाचतांगतः तथा कोऽन्यो बौद्धो नित्यस्वातन्त्र्यं परित्यज्य पिशाचभावं भजतामित्यर्थः॥ १०॥

धर्मवेदनम्-धर्मज्ञानम्।

क्षपणक—अरे विहारदासीभुजङ्ग, दुष्ट परिव्राजक, मैंने यह दृष्टान्त दिखलाया है। विश्वसनीय हित तुम्हें कह रहा हूं कि बुद्धमत छोड़कर जैनमतमें दिगम्बर जैन सिद्धान्तको अपना लो।

भिक्षु—अरे पापी, तू खुद पतित है, अब दूसरोंको गिराना चाहता है।

प्रचुर स्वाराज्य छोड़कर कौन अनिन्दित जन तुम जैसे इस निन्द्य पिशाचताको ग्रहण करना चाहेगा॥ १०॥

और—आर्हत मत पर श्रद्धा ही किसे है?

क्षपणकः—ग्रहनक्षत्रचारचन्द्रसूर्योपरागलुप्तलाभपरमार्थज्ञानसंधानदर्शनेन निरूपितं सर्वज्ञत्वं भगवतोऽर्हतः। (ग्गहणक्खत्तचालचन्दसूज्जोपलाअलुप्पलाहपलमत्थाण्णाणसंघाणदंसणेण णिलुविदं सव्वण्णंतणं भअवदो अलिहन्तस्स)

भिक्षुः—अरे, अनादिप्रवृत्तज्योतिषातीन्द्रियज्ञानेन प्रतारितेन भगवतेदमतिकष्टं व्रतमाश्रितम्। तथाहि—

ज्ञातुं वपुः परमितः क्षमते त्रिलोकीं
जीवः कथं कथय संगतिमन्तरेण।
शक्नोति कुम्भनिहितः सुशिखोऽपि दीपो
भावान्प्रकाशयितुमभ्युदरे गृहस्य ॥ ११ ॥

ग्रहाः-सूर्यचन्द्रादयः नक्षत्राणि-अश्विन्यादयः। तेषाञ्चारः-नियतमार्गं नियतकालं च सञ्चरणम्। चन्द्रसूर्योपरागः-सूर्यग्रहणं चन्द्रग्रहणञ्च। लुप्तलाभः-पृथिव्यादौ निखाय स्थापितस्य धनस्य लुप्तस्य लाभः। अथवा सद्य एवादर्शनं गमितस्य पदार्थस्य लाभः। परमार्थज्ञानम् तत्त्वज्ञानम्। यदस्माकमर्हन् ग्रहनक्षत्रचारचन्द्रग्रहणलुप्तलाभादिकं साधारणजनदुर्बोधमाहातोऽसौ सर्वज्ञ इति प्रतीत इति भावः।

अनादिप्रवृत्तज्योतिषातीन्द्रियज्ञानेन—चिरकालप्रचलितगणितद्वारेण पूर्वोक्तज्ञानं जायते तेन।

ज्ञातुमिति॰ वपुःपरिमितः शरीरपरिमाणः जीवः विज्ञानरूपः सन् सङ्गतिमन्तरेण सन्निकर्षं विना त्रिलोकीम् भुवनत्रयम् सर्वमित्यर्थः कथं केन प्रकारेण ज्ञातुं क्षमते शक्नोति इति कथय ब्रूहि। शरीरपरिमाणो जीवः सकलस्य त्रिभुवनस्य सङ्गतिमन्तरेण तज्ज्ञाने कथं शक्नोति, यदसौ सर्वज्ञः स्वीक्रियतामित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः-कुम्भनिहितः घटान्तरवस्थापितः सुशिखः समिद्धशिखायुक्तोऽपि दीपः (किम्) गृहस्य उदरे भावान् पदार्थान् प्रकाशयितुं भासयितुं शक्नोति ? यथा घटान्तरवस्थापितः सुशिखोऽपि दीपः स्वां भासं बहिर्नेतुमसमर्थतया गृहान्तर्गतपदार्थानां प्रकाशने न

क्षपणक—ग्रहनक्षत्रकी गति, चन्द्रसूर्यग्रहण, गुप्तवस्तुकी प्राप्ति, परमार्थज्ञान आदिसे अर्हन्‌की सर्वज्ञता सिद्ध हो चुकी है।

भिक्षु—अरे, अनादि प्रवृत्त ज्यौतिषसे होनेवाले अतीन्द्रिय विषयक ज्ञानसे वञ्चित हो अर्हन्‌ने इस महाकष्टको स्वीकार किया है। क्योंकि—

शरीरपरिमाण जीव विना सन्निकर्षके त्रिलोकीको कैसे जान सकेगा ? क्या कुम्भनिहित दीप प्रकाशशील होने पर भी घरके तमको दूर कर सकता है ॥ ११ ॥

तस्माल्लोकद्वयविरुद्धादार्हतमताद्वरं सुगतमतमेव साक्षात्सुखावहमतिरमणीयं पश्यामः।

शान्तिः—सखि, अन्यतो गच्छावः।

करुणा—एवं भवतु। (एवं भोदु)। (इति परिक्रामतः)

शान्तिः—(पुरो विलोक्य) एष पुरस्तात्सोमसिद्धान्तः। भवतु। अत्रापि तावदनुसरावः।

(ततः प्रविशति कापालिकरूपधारी सोमसिद्धान्तः)

सोमसिद्धान्तः—(परिक्रम्य)

नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः
स्मशानवासी नृकपालभोजनः।

क्षमते तथैव जीवोऽपि शरीरपरिणामतया दूरस्थवस्तुभिः सहसन्निकर्षमनासादयन्न तेषां ज्ञाने कथमपि शक्तः स्यादिति परमार्थः॥ ११॥

लोकद्वयविरुद्धात्—लोकद्वयम् आगमिकानागमिकरूपसमुदायद्वितयम्। ततो विरुद्धात्। यद्वा लोकद्वयम् इह लोकपरलोकौ जनानां नास्ति तावदिहलोकः पिशाचरूपताऽऽस्थानात्, न वा परलोकोऽप्यस्ति, सततोऽर्ध्वगमनरुपक्लेशस्य भोक्तव्यत्वात्। सुगतम्-बुद्धमतम्। साक्षात्सुखावहम्-सद्य आनन्दकरम्। सोमसिद्धान्तः-कापालिकमतम्।

नरास्थिमालेति० नाराणाम् मनुष्याणाम् अस्थ्नाम् मालया स्रजा कृतं विहितं भूषणं यस्य तादृशः मनुष्यास्थिमालाभूषितः श्मशानवासी पितृवसति निवासशीलः नृकपालभोजनः नरमुण्डे भोजनरसिकः (एवंविधः कापालिकदीक्षितोऽहम्) योगाञ्जनदिव्यचक्षुषा समाधिरूपाञ्जनप्रयोगवशलब्धालौकिकशक्तिशालिना नयनेन मिथोभिन्नम् परस्परविरुद्धम् जगत् सांसारिकं पदार्थजातम् ईश्वरादभिन्नम् अव्यतिरेकि

इसलिये इहलोक तथा परलोकसे विरुद्ध आर्हत मतकी अपेक्षा साक्षात्सुखप्रद बौद्ध मत ही अच्छा दीख पड़ता है॥

शान्ति—सखि, दूसरी ओर चलें।

करुणा—अच्छी बात है। (चलती हैं)

शान्ति—(आगे देखकर) यह आगे वाला सोमसिद्धान्त है, अच्छा, यहां भी चलें।

(कापालिक रूपधारी सोमसिद्धान्तका प्रवेश)

सोमसिद्धान्त—(चलकर)

नरास्थिमालाका भूषण पहने, नृकपालभक्षी तथा श्मशानवासी मैं योगाञ्जन सिद्ध दृष्टिसे

पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा
जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ॥ १२ ॥

क्षपणकः—क एव कापालिकं व्रतं पुरुषो धारयति । तदेनमपि पृच्छामि । (उपसृत्य) अरेरे कापालिक, नरास्थिमुण्डमालाधारक, कीदृशस्तव धर्मः कीदृशस्तव मोक्षः ? (को एसो कावालिअव्वदं पुलिसो धालेदि । ता णं वि पुच्छिस्सम् । अलेले कावालिअ, णलात्थिमुण्डमालाधारिअ, कीलिसो तुम्ह धम्मो, कीलिसो तुम्ह मोक्खो ?)

कापालिकः—अरे क्षपणक, धर्मं तावदस्माकमवधारय ।

मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा ।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥ १३ ॥

पश्यामि । उच्चावचोऽयं प्रपञ्चः स्वयं परस्परभिद्यमानोऽपि न परमेश्वराद्भिद्यते यथा मुद्रिकाकङ्कणादेरन्योन्यभेदेऽपि सुवर्णादभिन्नता तद्वद् इति पश्यामीति भावः ॥१२॥

कापालिकम्–कपाली शिवस्तद्देवताकम् । अवधारय–जानीहि ।

मस्तिष्कान्तेति० मस्तिष्कम् कपालान्तर्गतं स्निग्धं द्रव्यम् , अन्त्राणि सिराः, वसा मज्जा, ताभिः अभिपूरितैः आधारितैः महामांसैः नरमांसैः वह्नौ आहुतीर्जुह्वताम् होमं कुर्वताम् नः अस्माकम् ब्रह्मकपाले ब्राह्मणजातिनरमुण्डे कल्पितायाः उपनीतायाः सुरायाः मदिरायाः पानेन पारणा व्रतसमाप्तिः भवतीति शेषः, नराणां मांसानि तत् कपालगतस्निग्धद्रव्यतदन्त्रतन्मज्जभिराधार्य वह्नौ जुह्वतो वयं ब्राह्मणजातिनृमुण्डे स्थापितया सुरया पीतया व्रतं समापयाम इत्यर्थः । (किञ्च) सद्यः कृत्तेभ्य तत्क्षणखण्डितेभ्यः कठोरकण्ठेभ्यः सबलजनदृढगलेभ्यः विगलताम् क्षरताम्

जगतको ईश्वरसे भिन्न तथा अभिन्न देखता हूं ॥ १२ ॥

क्षपणक—यह कौन पुरुष कापालिक व्रत धारण किये हुए है ? इससे भी पूछूं । (समीप जाकर) अरे कापालिक, नरास्थिमुण्डमालाधारी, कैसा तुम्हारा धर्म तथा कैसा तुम्हारा मोक्ष है ?

कापालिक—अरे क्षपणक, हमारा धर्म सुनलें—

मस्तिष्क, आंत, मज्जा, आदिसे युक्त नरमांसकी वह्निमें आहुति कर ब्रह्मकपालस्थित सुरापानसे पारणा होती है । सद्यः खण्डित कण्ठसे निकलते हुए शोणितकी धार वाली नरबलिसे हम महाभैरवकी आर्चा करते हैं ॥ १३ ॥

भिक्षुः—(कर्णौ पिधाय) बुद्ध बुद्ध, अहो दारुणा धर्मचर्या ।

क्षपणकः—अर्हन् अर्हन् , अहो घोरपापकारिणा केनापि विप्रलब्धो वराकः । (अलिहन्त अलिहन्त, अहो घोलपावकालिणा केणावि विप्पलद्धो वलाओ)

कापालिकः—(सक्रोधम्) आः पाप पाखण्डापसद, मुण्डितमुण्डचूडाकेश, केशलुञ्चक, अरे, विप्रलम्भकः किल चतुर्दशभुवनोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रवर्तको वेदान्तप्रसिद्धसिद्धान्तविभवो भगवान्भवानीपतिः । दर्शयामस्तर्हि धर्मस्यास्य महिमानम् ?

कीलालानां रक्तानाम् धाराभिः उज्ज्वलैः प्रकाशितैः पुरुषोपहारबलिभिः नरबलिभिः देवः महाभैरवः कालभैरवः नः अस्माकम् अर्च्यः पूज्यः । महाभैरवस्य पूजायां गलस्रवद्रक्तनरबलिमुपहारीकुर्म इत्युत्तरार्द्धार्थः । अत्र क्षपणकेन पृष्टस्य कीदृशस्तव धर्मो मोक्षश्च तव कीदृश इति प्रश्नद्वयस्य क्रमशो दत्तमुत्तरमिति बोध्यम् । तत्राद्य पादद्वयेन प्रथमः प्रश्नः समाहितः, सद्यःकृत्तेत्यादिना च भैरवोपासनावशापातकैलासवास एव मोक्ष इति च प्रतिपादितं द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमिति विवेकः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

बुद्ध बुद्धेति स्वेष्टदेवस्मरणं घृणातिशयव्यञ्जनाय, आस्तिकानां बीभत्सदृश्यदर्शने यथा राम रामेति प्रयोगः, दारुणा—कठोरा, नरबलिदानेन दारुणत्वम् ।

अर्हन्नर्हन्नित्यपि पूर्ववदेव घृणाव्यक्तये । घोरपापकारिणा—अतिपापाचारिणा । विप्रलब्धः—वञ्चितः । वराकः—दयनीयोऽयम् ।

पाखण्डापसद—नीचपाखण्ड । मुण्डितमुण्डचूडाकेश—कर्त्तितसशिखकचराशे, इदं बौद्धमुद्दिश्य संबोधनम् । केशलुञ्चक—लुञ्चितकच, इदं जैनसंबोधनम् । अरे इति क्रोधे संबोधनम् । चतुर्दशभुवनोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रवर्त्तकः—सकलजगदुत्पादनसत्ताभङ्गप्रयोजकः । वेदान्तप्रसिद्धसिद्धान्तविभवः—उपनिषदभिमतमतः । भगवान्—सर्वविधसामर्थ्यशाली । भवानीपतिः—शङ्करः । अस्य धर्मस्य—कापालिकाचारस्य । महिमानम्—प्रभावम् ।

भिक्षु—बुद्ध, बुद्ध, अरे बड़ी भयङ्कर धर्मचर्या है ।

क्षपणक—अर्हन् , अर्हन् , अहा किसी घोर पापीने इस वेचारे को ठग लिया है ।

कापालिक—(सक्रोध) आः पापी पाखण्ड, मुण्डितमस्तक, केशलुञ्चक, अरे वञ्चक, चतुर्दश भुवनके उत्पत्तिस्थितिप्रलयके प्रवर्त्तक वेदान्तप्रसिद्धसिद्धान्त भगवान् शिव धूर्त हैं ? दिखाएँ हम इस धर्म की महत्ता ?

हरिहरसुरज्येष्ठश्रेष्ठान्सुरानहमाहरे
वियति वहतां नक्षत्राणां रुणध्मि गतीरपि ।
सनगनगरीमम्भःपूर्णां विधाय महीमिमां
कलय सकलं भूयस्तोयं क्षणेन पिबामि तत् ॥ १४ ॥

क्षपणकः—अरे कापालिक, अत एव भणामि केनापीन्द्रजालिना मायां दर्शयित्वा विप्रलब्धोऽसीति । (अले कावालिअ, अदो जेव्व भणामि केणावि इन्दजालिणा माआं दंसीअ विप्पलद्धोऽसि त्ति)

कापालिकः—आः पाप, पुनरपि परमेश्वरमैन्द्रजालिकमित्याक्षिपसि । तन्न मर्षणीयमस्य दौरात्म्यम् । (खड्गमाकृष्य) तदलमस्य ।

हरिहरेति० अहम् हरिहरौ विष्णुशिवौ सुराः देवा इन्द्रादयः तेषाम् ज्येष्ठान् वयसाऽधिकान् श्रेष्ठान् प्रभावेणाधिकाँश्च सुरान् देवान् आहरे आकृष्य नयामि ? अपि वा वियति आकाशे वहताम् चलताम् नक्षत्राणाम् ताराणाम् गतीः गमनानि रुणध्मि वारयामि । सनगनगरीम् पर्वतैः पूरैश्चोपेताम् इमाम् महीम् पृथ्वीम् अम्भःपूर्णाम् विधाय जलप्लावितां कृत्वा = कलय जानीहि—तत् सकलं तोयम् भूयः पुनः क्षणेन पिबामि । देवानां सकचग्रहमाहरणे व्योमचारितारागणगतिरोधे जगतो नगनगरगणयुतस्याम्भसा स्थगने तत्पयसः क्षणेन पुनःपाने च प्रभोर्मम प्रभवतः प्रभावं भावयेति भावः । हरिणीवृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'नसमरसला गः षड्वेदहँयै-र्हरिणी मता' इति ॥ १४ ॥

अत एव—तवेदृशप्रभावदर्शनक्षमत्वादेव । इन्द्रजालिना—मायादर्शननिपुणेनैन्द्रजालिकेन । मायाम्—इन्द्रजालम् । विप्रलब्धः—वञ्चितः । न मर्षणीयम्—न क्षन्तव्यम् । दौरात्म्यम्—दुष्टता ।

हरिहर प्रभृति देवश्रेष्ठोंको मैं बुला सकता हूँ, आकाशचारी नक्षत्रोंकी गति रोक दे सकता हूँ । पर्वत तथा गांवों से पूर्ण इस नगरीको जलपूर्ण बनाकर उस सारे पानीको देखो, में तुरत पी जाता हूँ ॥ १४ ॥

क्षपणक—अरे कापालिक, इसीसे तो कहता हूँ कि किसी ऐन्द्रजालिकने माया दिखाकर ठग लिया है ।

कापालिक—पाप, फिर भी तू परमेश्वरको ऐन्द्रजालिक बताकर उनके ऊपर आक्षेप करता है । अब तुम्हारी दुष्टता नहीं सही जाती है । (तलवार खींचकर) अब इसका—

एतत्करालकरवालनिकृत्तकण्ठ-
नालोच्चलद्बहुलफेनिलबुद्बुदौघैः ।
सार्धं डमड्डमरुडाङ्कृतिहूतभूत-
वर्गेण भर्गगृहिणीं रुधिरैर्धिनोमि ॥ १५ ॥

(इति खड्गमुद्यच्छति)

क्षपणकः—(सभयम्) महाभाग, अहिंसा परमो धर्मोऽस्ति । (महाभाअ, अहिंसापलमो धम्मो त्थि) (भिक्षोरङ्कं प्रविशति)

भिक्षुः—(कापालिकं वारयन्) भो भो महाभाग, कौतुकप्रयुक्तवाक्कलहेनायुक्तमेतस्मिंस्तपस्विनि प्रहर्तुम् ।

एतदिति०—एतदिति हस्तगतखड्गनिर्देशः, एतेन मम हस्तस्थितेन करालेन भीषणेन करवालेन खड्गेन निकृत्तम् खण्डितं यत्कण्ठनालम् गलधमनी ततः उच्चलद्भिः ऊर्ध्वप्रवाहिभिः बहुलैः भूरिभिः फेनिलबुद्बुदौघैः वेगप्रवृत्ततया फेनयुक्तबुद्बुदसमुदयैः रुधिरैः (करणभूतैः) डमड्डमरुडाङ्कृतिभिः शब्दायमानडमरुशब्दैः आहूतः आकारितः यः भूतानाम् प्रेतानाम् वर्गः गणः तेन सार्धम् सह भर्गगृहिणीम् शिवाम् धिनोमि तर्पयामि । अनेन भीषणेन कृपाणेन तव शिरसि मया छिद्यमाने त्वत्कण्ठनालात् प्रवृत्तानि यानि सबुद्बुदफेनिलरुधिराणि तैः डमरुनादाहूतभूतसहचरीं शिवां तर्पयामीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

उद्यच्छति-प्रहर्तुमुत्थापयति ।

अहिंसापरमो धर्मोऽस्ति, तेन मा मां हिंसीरिति निवेदनं फलितम् ।

भिक्षोः-बौद्धतपस्विनः ।

कापालिकं वारयन्-खड्गनिपातनादवरुन्धन् । कौतुकप्रयुक्तवाक्कलहेन-कुतूहलप्रवर्त्तितकथोपकथनेन । एतस्मिन्-जैनसाधौ । प्रहर्त्तुम्-प्रहारं कर्त्तुम् ।

इस तलवारसे कण्ठ काटकर कण्ठनालसे निकलते हुए फेनिल बुलबुलोंके समुदायसे डमरुशब्दाहूत भूतगणके साथ शिवभामिनीको तर्पित करता हूँ ॥ १५ ॥

(तलवार उठाता है)

क्षपणक—(भयपूर्वक) महाभाग, अहिंसा परम धर्म है । (भिक्षुकी गोदमें पैठ जाता है)

भिक्षु—(कापालिकको रोकता हुआ) अजी महाशय, कौतुकप्रयुक्त बातचीतके कारण इस तपस्विजनपर प्रहार करना अनुचित है ।

कापालिकः—(खड्गं प्रतिसंहरति)

क्षपणकः—(समाश्वस्य) महाभागो यदि संहृतघोररोषावेशः संवृत्तस्ततोऽहं किमपि प्रष्टुमिच्छामि। (महाभाओ जदि संहलिदघोललोसावेसो संवुत्तो तदो अहं किंवि पुच्छिदुमिच्छेमि)

कापालिकः—पृच्छ।

क्षपणकः—श्रुतो युष्माकं परमो धर्मः। अथ कीदृशः सौख्यमोक्षः। (सुदो तुम्हाणं पलमो घम्मो। अध केलिसो सोक्खमोक्खो)

कापालिकः—शृणु—

दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता
जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्था कथं प्रार्थ्यते।

प्रतिसंहरति—नियच्छति।

संहृतघोररोषावेशः—नियन्त्रितभयानककोपावेगः।

सौख्यमोक्षः—आनन्दस्वरूपा मुक्तिः।

दृष्टं क्वापीति० क्वापि कुत्रापि विषयैः स्रक्चन्दनवनितादिभिः विना अन्तरेण सुखम् आनन्दः न दृष्टम् कारणस्यासत्त्वे कार्याभावस्य स्वाभाविकतयाऽऽनन्दकारणत्वेनाभिमतानां स्रक्चन्दनादीनामभावे सुखमशक्यसम्भविभावमिति भावः। ननु मोक्षो नानन्दरूपः किन्तु दुःखाभावरूप एव मोक्षः समाम्नतो नैयायिकैस्तत्राह—उपलावस्था प्रस्तरभावेनावस्थानं जीवस्य स्थितिरेव (मोक्षः) सा कथं प्रार्थ्यते केन प्रकारेण पुमर्थो भवति, चेतनस्याचेतनत्वापत्तिर्हानिरेव न लाभ इति तादृश्या मुक्तेरप्रार्थनीयत्वमिति भावः। उपहसितोऽयं मोक्षो नैषधीये श्रीहर्षेण—'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्। गोतमं तमवेक्ष्यैव यथावित्थ तथैव सः' इति।

कापालिक—(तलवारको समेटता है)

क्षपणक—(आश्वस्त होकर) यदि आप रोषके वेगको रोक चुके हों तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

कापालिक—पूछो।

क्षपणक—आपके परम धर्मके विषयमें तो सुन लिया, सौख्यमोक्ष आपका कैसा है?

कापालिक—सुनो—

विषयोंके विना आनन्द नहीं प्राप्त होता है और शिलभावरूप मोक्ष जीव क्यों

पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे मृडानीपतिः ॥ १६ ॥

भिक्षुः—महाभाग, अश्रद्धेयमेतदवीतरागस्य मुक्तिरिति ।

क्षपणकः—अरे कापालिक, यदि न कुप्यसि तर्हि भणामि । शरीरी सरागी मुक्त इति विरुद्धम् । (अले कावालिअ, जइ ण कुप्पसि तदो भणामि । सलीली सलागी मुक्केति विलुद्धम्)

कापालिकः—(स्वगतम्) अये, अश्रद्धाक्षिप्तमनयोरन्तःकरणम् । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम्) श्रद्धे, इतस्तावत् ।

(ततः प्रविशति कापालिकीरूपधारिणी श्रद्धा)

तन्वेवं कीदृशो मोक्षस्तवाभिमत इति चेत्तत्राह—पार्वत्याः हरभार्याया गौर्याः प्रतिरूपया मूर्त्या पार्वतीभावं प्राप्तया दयितया स्वभार्यया सानन्दम् मद्यादिसेवनोत्तेजनया सहर्षम् आलिङ्गितः आश्लिष्टतनुः मुक्तः पाशापगमेन बन्धरहितः चन्द्रचूडवपुः शिवाभिन्नः साधकः क्रीडति विहरति इति मृडानीपतिः शिव ऊचे उक्तवान् । शैवागमानुसारं साधकः शिवरूपस्तद्भार्या पार्वतीरूपा, तयाऽऽलिङ्गितस्य त्रिभुवनविहारजन्माऽऽनन्दधुरेव मोक्ष इति शिवोक्तिरिति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ १६ ॥

अवीतरागस्य रागयुक्तस्य । रागापगमे एव मुक्तिर्जायते, यदि जायारागः स्थित एव तदा न मुक्तिसम्भव इति । शरीरी सरागी–देहसम्बन्धवान्, रागयुक्तश्च ।

अश्रद्धाऽऽक्षिप्तम्–अविश्वासोपहतम् । एतेऽविश्वासोपहता अत एव चेमे मोक्षतत्त्वबोद्धुमशक्ता इति भावः । भवत्वेवं तावत्-यथाऽमीषां श्रद्धा स्यात्तथा यत्नः क्रियतामित्यर्थः ।

चाहेगा ? अतः पार्वतीके प्रतिरूपमें अवस्थित अपनी प्रियतमासे आलिङ्गित होकर शिवस्वरूप जीव मुक्त हो क्रीडा करता है यह शिवने कहा है ॥ १६ ॥

भिक्षु—इस बात पर श्रद्धा नहीं हो रही है कि विना विरागके ही मुक्ति होती है ।

क्षपणक—अरे कपालिक, यदि क्रोध न करो तो पूछता हूं कि शरीरी और रागवान् मुक्त होता है यह विरुद्ध है ।

कापालिक—(स्वगत) अरे, इन दोनोंका हृदय अश्रद्धासे भरा है । अच्छा रहे । (प्रकाश) श्रद्धे, इधर तो आओ ।

(कापालिकीरूपमें श्रद्धाका प्रवेश)

करुणा—सखि, पश्य पश्य रजसः सुता श्रद्धा । या एषा—

विस्पष्टनीलोत्पललोललोचना
नरास्थिमालाकृतचारुभूषणा ।
नितम्बपीनस्तनभारमन्थरा
विभाति पूर्णेन्दुमुखी विलासिनी ॥ १७ ॥

(सहि, पेक्ख पेक्ख रजसस्सुदा सद्धा । जा एसा—

विप्पट्टणीलुप्पललोललोअणा
नरत्थिमालाकिदचालुभूसणा ।
णिअम्बपीणत्थणभालमन्थला
विहादि पुण्णेन्दुमुही विलासिणी ॥ १७ ॥)

श्रद्धा—(परिक्रम्य) एषास्मि । आज्ञापयतु स्वामी । (एसम्हि । आणवेदु सामी)

कापालिकः—प्रिये, एनं दुरभिमानिनं भिक्षुं तावद्गृहाण । (श्रद्धा भिक्षुमालिङ्गति)

रजसः सुता–राजसी ।

विस्पष्टेति० विस्पष्टे विकसिते ये नीलोत्पले नीलकमले ते इव लोले चपले लोचने यस्याः सा तादृशी विकसितारविन्दस्पर्द्धिचलनयना नरास्थिमालाकृतचारुभूषणा नरास्थिमालाऽलङ्कृता नितम्बयोः श्रोण्योः पीनस्तनयोः स्थूलकुचयोश्च भारेण मन्थरा मन्दगमना पूर्णेन्दुमुखी समग्रशशधरवदना विलासिनी वनिता विभाति शोभते । कापालिक्या नयनशोभाऽलङ्कारसज्जामन्दगतयो नितान्तहृदयङ्गमा अतश्चेयं विलासिनी, तेन च मदन्तराकर्षिकेति ध्वनितम् । क्वचित्पुस्तके 'विस्पष्टे'त्यस्य स्थाने 'विनिद्रे'ति पाठः । स्पष्टमन्यत् ॥ १७ ॥

दुरभिमानिनम्-मिथ्याभिमानशालिनम् बौद्धसन्न्यासिनम् । गृहाण–आश्रय ।

करुणा—सखि, देखो, यह राजसी श्रद्धा है, जो यह—

विकसित नीलकमल सदृश आँखो वाली तथा नरास्थिमालाभूषिता, नितम्ब तथा पीनस्तनके भारसे मन्दगामिनी पूर्ण चन्द्रानना विलासिनी दीख रही है ॥ १७ ॥

श्रद्धा—(चलकर) यहीं तो हूँ , आप आज्ञा दें ।

कापालिका—प्रिये, इस दुरभिमानी भिक्षुको आलिङ्गित करो । (श्रद्धा भिक्षुको आलिङ्गन पाशमें बांधती है)

भिक्षुः—(सानन्दं परिष्वज्य रोमाञ्चमभिनीय जनान्तिकं) अहो, सुखस्पर्शा कापालिकी। तथाहि—

रण्डाः पीनपयोधराः कति मया चण्डानुरागाद्भुज-
द्वन्द्वापीडितपीवरस्तनभरं नो गाढमालिङ्गिताः।
बुद्धेभ्यः शतशः शपे यदि पुनः कुत्रापि कापालिकी
पीनोत्तुङ्गकुचावगूहनभवः प्राप्तः प्रमोदोदयः॥ १८॥

श्रद्धया गृहीते भिक्षौ तस्य हृदये कापालिकोक्तिषु विश्वासः समुत्पत्स्यते, ततश्च तस्याप्याचारः परिवर्तनं यास्यति, तदर्थमेव श्रद्धायै भिक्षोरालिङ्गनायाज्ञाप्रदानम्, सा चेयं राजसी श्रद्धा, सात्त्विकी श्रद्धा त्वेषां पार्श्वे नैवोपसर्पतीति बोध्यम्।

सुखस्पर्शा—आनन्दप्रदालिङ्गना।

रण्डा इति० मया भिक्षुणा चण्डानुरागात् उत्कटकामावेशवशात् पीनपयोधराः मांसलकुचाः कति रण्डाः चिरमृतपतिकाः स्त्रियः भुजद्वन्द्वेन बाहुभ्याम् आपीडितः यावद्बलं मर्दितः पीवरयोः स्थूलयोः स्तनयोर्भरः भारः यस्यां क्रियायां तत्तथा गाढम् सर्वांशेनालम्ब्य नो आलिङ्गिताः। अनेकशो मयोत्कटभावेनोद्रिक्तकामविक्रियेण बहवो रण्डाः पीनपायोधरनिर्दयोपमर्दनपूर्वकं यथाविध्याश्लिष्टा इत्यर्थः। बुद्धेभ्यः स्वपरमगुरुभ्यः शतशः शपे शपथं करोमि, यदि पुनः कुत्रापि कस्मिंश्चिदपि रण्डालिङ्गने कापालिक्या अस्याः कापालिकदास्याः पीनयोः स्थूलयोः उत्तुङ्गयोः अपतितयोः कुचयोः अवगूहनम् आश्लेषः तद्भवः तदुदितः प्रमोदोदयः आनन्दोद्गमः प्राप्तः प्रत्यक्षीकृतः। बहवो रण्डा मयाऽऽश्लिष्टाः परमस्याः कापालिक्या आलिङ्गने यः प्रचुरानन्दः स नान्यत्र कुत्रापि दृष्ट इति बुद्धाय शपमानोऽहं ब्रुवे तन्नात्र मिथ्यात्वमाशङ्कनीयमित्यर्थः। अत्र स्त्रीसामान्यं विहाय रण्डापदोपादानेन तासां चिरानुपयुक्तत्वं तेन तदङ्गानां सुरते समधिकानन्ददायित्वम्, चण्डानुरागादिति पुंस उद्रिक्तभावेन रतिप्रवृत्तौ रतेः सुखमयत्वम्, गाढमिति सर्वाङ्गसङ्गजन्मा वैयात्यकृतं प्रकृष्टत्वम्, बुद्धेभ्यः शपे इत्यस्यार्थस्य नितान्तविश्वास्यत्वानुरोधः, कुत्रापीति सर्वरण्डातिशायिसुरतवत्तयाऽस्या वास्तविकं प्रशस्तसुरतत्वमित्याद्यर्था व्यज्यन्तेऽत्र। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १८॥

भिक्षु—(सानन्द आलिङ्गन करके रोमाञ्चित हो प्रकट हो कर) अहा, कापालिकीका स्पर्श कितना सुखप्रद है! क्योंकि—

प्रचण्ड अनुरागवश दोनों हाथोंसे दोनों पीनस्तनोंको मसलकर कितनी पीनस्तनी राँडोंको गले लगाया है,—सौ बुद्धोंकी शपथ खाता हूँ—कहीं भी इस कापालिकीके पीन तथा उन्नत कुचोंके आलिङ्गनके समान आनन्द नहीं मिला॥ १८॥

अहो पुण्यं कापालिकचरितमहो श्लाघ्यः सोमसिद्धान्तः। आश्चर्योऽयं धर्मः। भो महाभाग, सर्वथा बुद्धानुशासनमस्माभिरुत्सृष्टम्। प्रविष्टाः स्मः पारमेश्वरं सिद्धान्तम्। तदाचार्यस्त्वं शिष्योऽहम्। प्रवेशय मां पारमेश्वरीं दीक्षाम्।

क्षपणकः—अरे भिक्षो, कापालिकीस्पर्शदूषितस्त्वम्। तद्दूरमपसर। (अले भिक्खुअ, कावालिणीपलसदूसिदं तुमम्। ता दूलं अपसल)

भिक्षुः—आः पाप, वञ्चितोऽसि रे कापालिक्या परिरम्भमहोत्सवेन।

कापालिकः—प्रिये, क्षपणकं गृहाण। (कापालिकी क्षपणकमालिङ्गति)

क्षपणकः—(सरोमाञ्चम्) अहो अर्हन्! अहो अर्हन्! कापालिक्याः स्पर्शसुखम्। सुन्दरि, देहि देहि पुनरप्यङ्कपालीम्। (स्वगतम्) अरे, महान् खल्विन्द्रियविकार उपस्थितः। तद्यस्ति कोऽप्युपायः। किमत्र युक्तम्। भवतु पिच्छिकया छादयिष्यामि।

पुण्यम्–पवित्रम्, श्लाघ्यः–प्रशंसनीयः, सद्य एवासाधारणानन्दप्रदतया श्लाघ्यत्वं बोध्यम्। उत्सृष्टम्–त्यक्तम्। पारमेश्वरम्–शैवागमोक्तम् कापालिकसिद्धान्तम्। दीक्षाम्–उपासनाप्रक्रियार्हतासम्पादयाय गुरुमन्त्रोपदेशम्।

कापालिकीस्पर्शदूषितः–कापालिक्या सह गात्रसम्पर्केण पतितः। अपसर–गच्छ, मा मां स्प्राक्षीरित्यर्थः।

परिरम्भमहोत्सवेन–आलिङ्गनजनितेन प्रमोदेन।

अङ्कपालीम्–ऊरावुपविश्यालिङ्गनम्। इन्द्रियविकारः—ध्वजोत्थानादिरूपः।

अहा! धन्य है कापालिकचरित, प्रशंसनीय है सोमसिद्धान्त। महाशय, मैंने सर्वथा बौद्धमत छोड़ दिया। पारमेश्वर मतको मानता हूँ। तुम आचार्य हुए, मैं शिष्य रहा। मुझे परमेश्वर मतकी दीक्षा दो।

क्षपणक—अरे भिक्षु, तू कापालिकी स्पर्शसे दूषित हो चुका है, दूर हट।

भिक्षु—आः पाप, तू अभागा है कि कापालिकीके आलिङ्गनसे वञ्चित है।

कापालिक—प्रिये, क्षपणकसे लिपट जा। (कापालिकी क्षपणकसे लिपटती है)

क्षपणक—(रोमाञ्चपूर्वक) अहो अर्हन्, अहो अर्हन्, कापालिकीके स्पर्शमें कितना सुख है। सुन्दरि, दो दो फिरसे आलिङ्गन। (स्वगत) अरे, महान् इन्द्रियविकार उपस्थित हैं। क्या इसका कोई उपाय है। क्या किया जाय? अच्छा, पिच्छिकासे आच्छादित कर लेता हूं।

अयि पीनघनस्तनशोभने परित्रस्तकुरङ्गविलोचने ।
यदि रमसे कापालिकीभावैः श्रावकाः किं करिष्यन्तीति ॥ १९ ॥

अहो कापालिकदर्शनमेवैकं सौख्यमोक्षसाधनम् । भो कापालिक, अहं तव सांप्रतं दासः संवृत्तः । मामपि महाभैरवानुशासने दीक्षय । (अहो अरिहन्त, अहो अरिहन्त, कापालिनीए पलसखुहं । सुन्दलि, देहि देहि पुणोवि अङ्कपालीम् । अरे, महन्तो क्खु इन्दिअविआलो उवत्थिदो । ता अत्थि कोवि उवाओ । किं एत्थ जुत्तम् । भोदु । पिच्छिआए ढंकिस्सम् ।

अयि पीणघणत्थणसोहणि पलितत्थकुलङ्गविलोअणि ।
जइ लमसि कावालिणीभावेहिं सावका किं कलिस्संदि ॥

अहो कावालिअदंसणं जेव्व इक्कं सौक्खमोक्खसाहणम् । भो कावालिअ, हग्गे तुहके सम्पदं दासो संवुत्तो । मंपि महाभैरवानुशासणे दिक्खय)

कापालिकः—उपविश्यताम् ।

पिच्छिकया—मयूरपुच्छकृतया मार्गमार्जनसाधनतया जैनैरुपयुक्तया 'पिच्छिका' इति प्रसिद्धया । छादयामि—पुंव्यञ्जनमिति शेषः ।

अयीति० अयि पीनघनस्तनशोभने पीनौ स्थूलौ घनौ परस्परमिलितौ यौ स्तनौ ताभ्यां शोभने हृद्ये, परित्रस्तकुरङ्गविलोचने भीतहरिणनयने, यदि (त्वम्) कापालिकीभावैः शृङ्गारचेष्टाभिः रमसे मया सह विहरसि, श्रावकाः जैनमतावलम्बिनो गृहस्थाः किङ्करिष्यन्ति न किमपीत्यर्थः । कुत्रापि यान्तु श्रावकाः, यत्तेभ्यो रोचेत कुर्वन्तु तत्ते, दत्तो मया जलाञ्जलिस्तेभ्यो यदि त्वं मया सह शृङ्गारचेष्टाभी रमसे तदेत्यर्थः ॥ १९ ॥

सौख्यमोक्षसाधनम्—सौख्यमिश्रितस्यापवर्गस्य । रतेरेव मोक्षतया सौख्ययुत एषां मोक्ष इत्याशयः । महाभैरवानुशासने—शैवागमे । दीक्षय—दीक्षितं कुरु, मन्त्रप्रदानेन प्रवेशयेत्यर्थः ।

ओ पीन और स्थूल कुचवाली, भयभीतहरिणलोचने कापालिकी, यदि तुम इसी तरह मुझे आलिङ्गन देती रहो तो मुझे श्रावकोंसे क्या लेना देना है ॥ १९ ॥

कापालिकका साक्षात्कार ही सौख्य तथा मोक्षका साधन है । अजो कापालिक, मैं अबसे तुम्हारा दास हूं । मुझे भी महाभैरवानुशासनमें दीक्षित कर लो ।

कापालिक—बैठो । (दोनों बैठते हैं)

(उभौ तथा कुरुतः)

(कापालिको भाजनं समादाय ध्यानं नाटयति)

श्रद्धा—भगवन्, सुरया पूरितं भाजनम्। (भअवं, सुलाए पूलितं भाअणम्)

कापालिकः—(पीत्वा शेषं भिक्षुक्षपणकयोरर्पयति)

इदं पवित्रममृतं पीयतां भवभेषजम्।
पशुपाशसमुच्छेदकारणं भैरवोदितम्॥ २०॥

(उभौ विमृशतः)

क्षपणकः—अस्माकमार्हतानुशासने सुरापानं नास्ति। (अम्हाणं अलिहन्ताणुसासणे सुलापाणं णत्थि)

भिक्षुः—कथं कापालिकोच्छिष्टां सुरां पास्यामि ?

तथा कुरुतः—उपविशत इत्यर्थः।

भाजनम्–पानपात्रम्।

सुरया–मद्येन। पूरितम्–भृतम्। ध्यानमात्रया सुरया स्वयमागत्य पूरितं तव पात्रमित्यर्थः।

इदमिति० पवित्रम् स्वभावपूतम् अमृतम् सुधोपमम् (सर्वविधसन्तापहरत्वेन सुधासाम्यम्) भवभेषजम् संसारस्यागमनादिप्रवाहस्य जन्मजरामरणादिरूपक्लेशपरम्पराया इत्यर्थः, भेषजम् औषधरूपं निवर्त्तकम्, भैरवोदितम् सर्वज्ञमहाभैरवोपदिष्टम् पशुपाशसमुच्छेदकारणम् पशुर्बद्धो जीवस्तस्य पाशो बन्धस्तस्य समुच्छेदे आत्यन्तिकविनाशे कारणम् इदम् सुरारूपम् पीयताम् आस्वाद्यताम्। इयमामन्त्रणोक्तिः सुरापायिनां पानभाजनग्रहणादनन्तरं कर्त्तव्यतया प्रथते॥ २०॥

आर्हतानुशासने–जैनागमे। कापालिकोच्छिष्टाम्–कापालिकपीतावशेषाम्।

(कापालिक पानपात्र लेकर ध्यानका अभिनय करता है)

श्रद्धा—भगवन्, प्यालेमें शराब भर दी गई।

कापालिक—(पीकर शेष भिक्षु और क्षपणकको देता है)

यह पवित्र अमृत तथा भवभेषज पीलो, जिसे भैरवने पशुपाशसमुच्छेदका कारण कहा है॥ २०॥

(दोनों सोचने लगते हैं)

क्षपणक—हमारे जैन मतमें सुरापान नहीं है।

भिक्षु—कापालिककी उच्छिष्ट सुरा कैसे पिऊंगा ?

कापालिकः—(विमृश्य जनान्तिकम्) किं विमृशसि श्रद्धे, पशुत्वमनयोर्नाद्याप्यपनीयते । तेनास्मद्वदनसंसर्गदोषादपवित्रां सुरामेतौ मन्येते । तद्भवती स्ववक्त्रासवपूतां कृत्वाऽनयोरुपनयतु । यतस्तैर्थिका अपि वदन्ति 'स्त्रीमुखं तु सदा शुचि' इति ।

श्रद्धा—यद्भगवानाज्ञापयति । (जं भअवं आणवेदि) (पानपात्रं गृहीत्वा पीतशेषमुपनयति)

भिक्षुः—महाप्रसादः (इति चषकं गृहीत्वा पिबति) अहो सुरायाः सौन्दर्यम् ।

निपीता वेश्याभिः सह न कतिवारान्सुवदना-
मुखोच्छिष्टास्माभिर्विकचवकुलामोदमधुरा ।
कपालिन्या वक्त्रासवसुरभिसेतां तु मदिरा-

विमृशसि-विचारयसि । अद्यापि-भवत्या कृतालिङ्गनतया कृतार्थने जातेऽपि । पशुत्वम्-मूर्खत्वम् अज्ञानम् । अपनीयते-दूरीक्रियते । अस्मद्वदनसंसर्गदोषात्-मदुच्छिष्टताकलङ्कात् । एतौ भिक्षुक्षपणकौ । स्ववक्त्रासवपूताम्-स्ववक्त्रे कापालिकीमुखे य आसवः मद्यम् तेन पूतां पवित्राम् । उपनयतु-ददातु । स्ववदने निधाय पावयित्वोपहरत्वित्यर्थः । तैर्थिकाः-स्मार्त्ताः ।

महाप्रसादः-सुमहाननुग्रहः । सौन्दर्यम् अत्र स्वादप्रकर्षपर्यवसायि ।

निपीता इति० अस्माभिः बौद्धभिक्षुतां बिभ्रद्भिः वेश्याभिः वाराङ्गनाभिः सह कति वारान् अनेकधा सुवदना मुखोच्छिष्टा सुन्दरी पीतशेषा विकचवकुलामोदमधुरा विकसितबकुलकुसुमामोदिनी सुरा न पीता आस्वादिता, बहुधा सुरा पीतेति काकु ध्वनितम् । कपालिन्याः कापालिक्या अस्याः वक्त्रासवसुरभिम् मुखमदिरासुगन्ध-

---

कापालिक—(सोचकर, प्रकाशरूपमें) क्या सोचती हो? श्रद्धे, आज भी इनका पशुत्व दूर नहीं हुआ है। इसीलिये ये हमारी उच्छिष्ट सुराको अपवित्र मानते हैं। इसलिये तुम इसे अपने मुंह लगाकर पवित्र कर दो और इन्हें पिलाओ। क्योंकि शास्त्रकारोंके कथनानुसार स्त्रीमुख सदा पूत है।

श्रद्धा—आपकी जो आज्ञा। (पानपात्र लेकर जूठा करके देती है)

भिक्षु—महाप्रसाद है। (प्याला लेकर पीता है) अहा कितनी अच्छी मदिरा है।

वेश्याओंके साथ स्त्रीमुखोच्छिष्ट बकुलसुगन्धित मदिरा कई बार पी थीं, किन्तु कापालिकीके मुखारविन्दसे सुगन्धित इस सुराको नहीं पानेके कारण ही देवोंने अमृतकी

मलब्ध्वा जानीमः स्पृहयति सुधायै सुरगणः ॥ २१ ॥

क्षपणकः—अरे भिक्षो, मा सर्वं पिब। कापालिकीवदनोच्छिष्टां मदिरां मदर्थमपि धारय। (अले भिक्खुअ, मा सव्वं पिव। कावालिणीवअणोच्छिट्टं मइलं मदत्थंवि धालेसु)

(भिक्षुः क्षपणकाय चषकमुपनयति)

क्षपणकः—(पीत्वा) अहो सुराया मधुरत्वम्, अहो स्वादः, अहो सुरभित्वम्। चिरं खलु अर्हदनुशासने निपतितः प्रतिवञ्चितोऽस्मीदृशेन सुरारसेन। अरे भिक्षो, घूर्णन्ति ममाङ्गानि। तर्हि स्वप्स्यामि। (अहो, सुराए महुलत्तणम्, अहा सादो, अहो गन्धो, अहो सुलहित्तणम्। चिलं खु अलिहन्ताणुसासणे णिवडिदे पडिवञ्चिदोम्हि ईदिसेण सुलालसेण। अले भिक्खुअ, घोलयन्ति मं अङ्गाइं। ता सुविस्सम्)

भिक्षुः—एवं कुर्वः। (तथा कुरुतः)

युताम् तु एताम् मदिराम् अलब्ध्वा सुरगणः देववर्गः सुधायै अमृताय स्पृहयतीति जानीमः। एतत्कपालिनीवदनार्पितामनुपमेयरसां मदिरां यदि मे देवानास्वादयन्नत एवासीपामस्मृतस्पृहा, यदीमे तां मदिरामास्वादितवन्तोऽभविष्यन् कदापि ततो न्यूनतमरसेऽमृते वद्धादरा नाभविष्यन्निति भावः। शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ २१ ॥

सर्वम्—निरवशेषम्। कपालिनीवदनोच्छिष्टाम्—एतत्कापालिकीपीतशेषाम्। मदिराम्—सुराम्। धारय—शेषयित्वा रक्ष।

मधुरत्वम्—स्वादयुक्तत्वम्। सुरभित्वम्—सुगन्धः। अर्हदनुशासने—जैनमते। प्रतिवञ्चितः—विमुखीकृतः। सुरारसेन—मदिरास्वादेन। घूर्णन्ति—भ्राम्यन्ति।

स्पृहा की होगी यह मैं मानता हूं ॥ २१ ॥

क्षपणक—अरे क्षपणक, सब मत पी जा। कापालिकी पीतशेष सुरा मेरे लिये भी रहने दो।

(भिक्षु क्षपणकको प्याला देता है)

क्षपणक—(पीकर) अहा सुरा कितनी मीठी है। क्या स्वाद है, क्या गन्ध है, क्या सौरभ है। जैनमतमें पड़कर बहुत दिनों तक इस सुरारस से वञ्चित रहा। अरे भिक्षु, हमारे अङ्ग घूम रहे हैं, सोऊंगा।

भिक्षु—ऐसा ही करेंगे। (दोनों सोते हैं)

कापालिकः—प्रिये, अमूल्यक्रीतं दासद्वयं लब्धम्। तन्नृत्यावस्तावत्। (उभौ नृत्यतः)

क्षपणकः—अरे भिक्षुक, एष कापालिकोऽथवाचार्यः कापालिक्या सार्धं शोभनं नृत्यति। तस्मादेताभ्यां सार्धमावामपि नृत्यावः। (अले भिक्खुअ, एसो कावालिओ अहवा आचालिओ कावालिनीए सद्धं सोहणं णच्चेदि। ता एदाए सद्धं अम्हेवि णच्चावः)

भिक्षुः—आचार्य, महाश्चर्यमेतद्दर्शनम्। यत्राक्लेशमभिमतार्थसिद्धयः संपद्यन्ते।

(मदस्खलितं नृत्यतः)

क्षपणकः—(अयि 'पीणत्थणि' इत्यादि पूर्वमेवोक्त्वा)

कापालिकः—कियदेतदाश्चर्यं पश्यसि।

अत्रानुज्झितचक्षुरादिविषयासङ्गेऽपि सिध्यन्त्यमू-
रत्यासन्नमहोदयाः प्रणयिनाष्टौ महासिद्धयः।

आवाम्–भिक्षुक्षपणकौ। महदाश्चर्यम्–अत्याश्चर्यकरम्। अक्लेशम्–विनैव कायखेदम्। अभिमतार्थसिद्धयः–ईप्सितपदार्थसिद्धयः। कियदेतत्–अत्यल्पमिदम्।

अत्रानुज्झितेति० अत्र कापालिकमते प्रणयिना समासक्तेन साधकेन अनुज्झितचक्षुरादिविषयासङ्गेऽपि रूपादिलिप्साऽपरित्यागेऽपि अमूः तास्ताः अष्टौ महासिद्धयः अणिमाद्याः अत्यासन्नमहोदयाः समीपतरवर्त्तिमहाफलाः सत्यः सिद्धन्ति सिद्धा जा-

---

कापालिक—विना दामके दो दास मिल गये हैं, चलो, हम दोनों नाचें। (दोनों नाचते हैं)

क्षपणक—अरे भिक्षु, यह कापालिक अथवा आचार्य कापालिनीके साथ बड़ी अच्छी तरह नाच रहा है, इन दोनोंके साथ हम दोनों भी नाचें।

भिक्षु—आचार्य, यह तो अद्भुतदर्शन है जिसमें विना कष्टके अभिमत सिद्धि हो जाती है।

(मस्तीमें गिरते पड़ते नाचते हैं)

क्षपणक—('अयि पीनस्तनि' इत्यादि पूर्वोक्त कहकर)

कापालिक—इतने ही में क्या आश्चर्य देखते हो।

इस मतमें विषयके साथ सम्बन्ध कायम रखने पर भी महोदययुत सभी सिद्धियाँ

वश्याकर्षविमोहनप्रशमनप्रक्षोभणोच्चाटन-
प्रायाः प्राकृतसिद्धयस्तु विदुषां योगान्तरायाः परम् ॥२२॥

क्षपणकः—अरे कापालिक, (विमृश्य) अथवा आचार्य, आचार्यराज, कुलाचार्य। (अले कापालिअ, अहवा आचालिअ, आचालिअलाअ, कुलाचालिअ)

भिक्षुः—(विहस्य) अयमनभ्यासातिशयपीतया मदिरया दूरमुन्मनीकृतस्तपस्वी। तत्क्रियतामस्य मदापनयनम्।

यन्ते। वश्यम् वशीकरणम्, आकर्षः—आकर्षणम्, मोहनं भ्रान्त्युत्पादनम्, प्रशमनम् सकलप्राक्तनज्ञानभ्रंशः, प्रक्षोभणम्—मनसश्चलीकरणम्, उच्चाटनम् स्थानभ्रंशः, तत्प्रायाः तत्प्रभृतयः प्राकृतसिद्धयः साधारणाः सिद्धयस्तु विदुषाम् विवेकिनाम् परम् अत्यर्थम् योगान्तरायाः योगविघ्नभूताः भवन्तीति शेषः। अत्र कापालिकमते सम्यग् वर्त्तमानेन वैषयिकसुखसमुदयापरित्यागेऽपि तास्ता अणिमादयोऽष्टौ सिद्धयः प्राप्यन्ते यासां महान्ति फलानि समीपतरवर्त्तीनि भवन्ति, प्राकृतसिद्धिषु वशीकरणादिषु तु विदुषान्नास्था तासां योगप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः' इति सिद्धिनामानि, तत्र येनैश्वर्येणाणुर्भवति सोऽणिमा, येन महान् भवति स महिमा, येन पार्वतादिवद्गुरुर्भवति स गरिमा, येनातिलघु भवति स लघिमा, येनाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रं स्पृशति स प्राकाम्यनामा, येनैश्वर्येण भूतभौतिकादीनां नियन्ता भवति तदीशित्वम्, येन चेन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति तद्वशित्वम् ॥ २२ ॥

आचार्य—गुरो, आचार्यराज—गुरुवर। 'कुलाचार्य' इदं तान्त्रिकाणां स्वाचार्यसम्बोधनम्।

अनभ्यासातिशयपीतया—सातिशयपीतया अनभ्यासपीतया च। दूरम्—अत्यर्थम्। उन्मनीकृतः—अचेतनतां गमितः। मदापनयनम्—मददूरीक्रिया।

आहरणसिद्धिः—आनयनक्षमता। 'स्त्रीषु' इति यथा भवान्मन्त्रोच्चारणमात्रेण सुरामाहृतवान् तथैव किं भवान् स्त्रियः पुरुषाँश्चापि समाहर्त्तुं क्षमत इति प्रश्नार्थः।

मिलती हैं, वे सिद्धियाँ हैं—वशीकरण, आकर्षण, मोहन, प्रशमन, क्षोभण, उच्चाटन। साधारण सिद्धियाँ तो विद्वानोंके योगमें विघ्न कर ही होती हैं ॥ २२ ॥

क्षपणक—अरे कापालिक, (सोचकर) अथवा आचार्य, आचार्यराज, कुलाचार्य।

भिक्षु—(हंसकर) विना आदतके इसने अधिक मदिरा पी ली है अतः पागल हो रहा है, इसकी नशा दूर कीजिये।

कापालिकः—एवं भवतु। (इति स्वमुखोच्छिष्टं ताम्बूलं क्षपणकाय ददाति)

क्षपणकः—(स्वस्थीभूय) आचार्य, इदं पृच्छामि। यादृशी युष्माकं सुराया आहरणसिद्धिः किं तादृशी सिद्धिः स्त्रीषु पुरुषेष्वप्यस्ति। (आचालिअ, एव्वं पुच्छिस्सम्। जादिसी तुम्हाणं सुलाए आहलणसिद्धी किं तादिसी सिद्धी इत्थिआसु पुलिसेसु अवि अत्थि)

कापालिकः—किं विशेषेण पृच्छ्यते। पश्य—

विद्याधरीं वाथ सुराङ्गनां वा
नागाङ्गनां वाप्यथ यक्षकन्याम्।
यद्यन्ममेष्टं भुवनत्रयेऽपि
विद्यावलात्तदुपाहरामि ॥ २३ ॥

क्षपणकः—भो, इदं मया गणितेन ज्ञातम्। यत्सर्वेऽपि वयं महामोहस्य किङ्करा इति। (भो, एदं मए गणिदेण ण्णादं। जं सव्वेवि अम्हे महामोहस्स किंकले त्ति)

किं विशेषेण पृच्छ्यते—सामान्यतः सर्वाहरणे क्षमं प्रति विशेषाहरणक्षमत्वपर्यनुयोगो नोचित इति भावः।

विद्याधरीमिति॰ विद्याधरीम्—विद्याधरस्त्रियम्, अथवा सुराङ्गनाम् देवललनाम्, वा नागाङ्गनाम् नागपत्नीम्, अथवा यक्षकन्याम् अकृतविवाहाम् यक्षीम्—भुवनत्रितये त्रिभुवने यद्यन्मम इष्टम् अभिलषितम् तत्तत् विद्यावलात् आकर्षणप्रयोजकमन्त्रसिद्धिप्रभावात् उपाहरामि समीपे नयामि, स्पष्टमन्यत् ॥ २३ ॥

सर्वेऽपि वयम्—त्वं कापालिकः, अयं भिक्षुः, अहं क्षपणकश्चेति वयम्।

कापालिक—ऐसा करो (अपना जूठा पान क्षपणकको देता है)

क्षपणक—(स्वस्थ होकर) आचार्य, यह पूछता हूँ, जिस प्रकार आप सुराका आहरण कर सकते हैं उसी प्रकार क्या स्त्रियों और पुरुषोंका भी आहरण कर सकते हैं।

कापालिक—खास खास वस्तुके लिये क्या पूछते हो? देखो—

विद्याधरी, देवाङ्गना, नागाङ्गना अथवा यक्षकन्या कोई हो, संसारमें जिसे चाहूँ अपनी विद्याके बलसे आहृत कर सकता हूँ ॥ २३ ॥

क्षपणक—गणितके द्वारा मैं यह जानता हूँ कि सभी हम महामोहके किङ्कर हैं।

उभौ—यथा ज्ञातमायुष्मता । एवमेतत् ।

क्षपणकः—तर्हि राजकार्यं किमपि मन्त्रितव्यम् । (ता लाअकज्जं किंवि मन्तिदव्वम्)

कापालिकः—किं तत् ।

क्षपणकः—सत्त्वस्य सुता श्रद्धा महाराजस्याज्ञयाह्वियतामिति । (सत्तस्स सुदा सद्धा महालाअस्स अण्णाए आहलिअदु त्ति)

कापालिकः—कथय क्वासौ दास्याः पुत्री । एष तामचिरमेव विद्याबलादुपाहरामि ।

(क्षपणकः खटिकामादाय गणयति)

शान्तिः—सखि, अस्वागतमिव हताशानामालापं शृणोमि तदवधानेन तावदाकर्णयावः ।

करुणा—सखि, एवं कुर्मः ! (सहि एव्वं करेम्ह) (उभे तथा कुरुतः)

क्षपणकः—(गाथां गणयित्वा)

यथा ज्ञातम्–सत्यमवगतम् ।

राजकार्यम्–मोहस्येष्टसिद्धं कर्म । मन्त्रयितव्यम्–चिन्तनीयम् ।

सत्त्वस्य सुता–सात्त्विकी, श्रद्धेत्यस्य विशेषणम् । आह्वियताम्–आकृष्य समीपं प्राप्यताम् । दास्याः पुत्रीति निन्दायाम् ।

अस्वागतम्–मन्मातुः श्रद्धासम्बन्धे । हताशानाम्–नीचानाम् । आलापम्–वार्त्ताम् । अवधानेन–सावधानतया ।

दोनों—जैसा तुमने समझा है, ठीक है ।

क्षपणक—तो फिर कुछ राजकार्य सोचना चाहिये ।

कापालिक—वह क्या ?

क्षपणक—सत्त्वसुता श्रद्धा महाराजकी आज्ञासे आहृत की जाय ।

कापालिक—बताओ, वह अभागी कहाँ है ? मैं अभी उसे विद्याबलसे आहृत करता हूँ ।

(क्षपणक खल्लीसे गणना करता है)

शान्ति—सखि, अपनी मांके विषयकी इन अभागोंकी बातें सुन रही हूं, ध्यानसे सूनें ।

करुणा—सखि, वैसा ही करें (दोनों सुनती हैं)

क्षपणक—(गाथा गिनकर)

नास्ति जले नास्ति स्थले, नास्ति गिरिगह्वरेषु नास्ति पाताले।
सा विष्णुभक्त्या सहिता, वसति हृदये महात्मनाम्॥ २४॥
(णत्थि जले णत्थि थले, णत्थि गिलिगव्हलेसु णत्थि पाआले।
सा विण्णुभत्तिसहिदा, वसदि हिअए महम्माणम्॥)

करुणा—(सानन्दम्) सखि, दिष्ट्या वर्धसे विष्णुभक्त्या देव्याः पार्श्ववर्तिनी श्रद्धेति। (सहि दिट्ठिआ वड्ढसि विण्णुभत्तिए देवीए पास्सवरितणी सद्धेत्ति) (शान्तिः हर्षं नाटयति)

भिक्षुः—अथ धर्मस्य कामादपक्रान्तस्य कुत्र प्रवृत्तिः?

क्षपणकः—(पुनर्गणयित्वा)

नास्ति जले नास्ति वने, नास्ति गिरिह्वरेषु नास्ति पाताले।
विष्णुभक्त्या सहितो, वसति हृदये महात्मनाम्॥ २५॥
(णत्थि जले णत्थि वणे, णत्थि गिलिगव्हलेसु णत्थि पाआले।
विण्णुभत्तीए सहिदो, वसदि हिअए, महम्माणम्॥)

कापालिकः—(सविषादम्) अहो महत्कष्टमापतितं महाराजस्य। तथाहि—

नास्तीति० गिरिगह्वरेषु—पर्वतकन्दरासु। विष्णुभक्तिसहिता—विष्णुभक्तिसहचरी सात्त्विकी श्रद्धा। महात्मनां तपस्विनां भक्तानां हृदये वसतीत्यर्थः॥ २४॥

पार्श्ववर्त्तिनी—समीपस्था।

कामादपक्रान्तस्य—निष्कामभावेन कृतस्य। प्रवृत्तिः—उपलम्भः।

नास्तीति० पूर्ववत्। महात्मान एव निष्कामधर्मचारिणोऽतो निष्कामो धर्मस्तेषामेव हृदये स्थातुमर्हतीति भावः॥ २५॥

महत्कष्टम्—अतिदुःखम्।

न जलमें है, न स्थलमें है, न काननकन्दरामें है, न पातालमें है। वह विष्णुभक्तिके साथ महात्माओंके हृदयमें वास करती है॥ २४॥

करुणा—(आनन्दसे) सखि, तुम बड़ी भाग्यवती हो, श्रद्धा विष्णुभक्तिकी पार्श्ववर्त्तिनी है। (शान्ति हर्ष प्रकट करती है)

भिक्षु—और धर्मसे अपक्रान्त कामकी क्या खबर है?

क्षपणक—(फिर गिनकर)

न स्थलमें है, न जलमें है न काननकन्दरामें है, न पातालमें है, विष्णुभक्तिके साथ महात्माओंके हृदयमें है॥ २५॥

कापालिक—(विषादके साथ) महाराजको महान् कष्ट उपस्थित है, क्योंकि—

मूलं देवी सिद्धये विष्णुभक्ति-
स्तां च श्रद्धानुव्रता सत्त्वकन्या ।
कामान्मुक्तस्तत्र धर्मोऽप्यभूच्चे-
त्सिद्धं मन्ये तद्विवेकस्य कृत्यम् ॥ २६ ॥

तथापि तावदसुव्ययेनापि स्वामिनः प्रयोजनमनुष्ठेयम् । तन्महाभैरवीं विद्यां धर्मश्रद्धयोराहरणाय प्रस्थापयामः । (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

शान्तिः—आवामप्येवं हताशानां व्यवसायं देव्यै विष्णुभक्त्यै निवेदयावः ।

(इति निष्क्रान्ते)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥



मूलमिति० सिद्धये बोधोदयरूपकार्यनिष्पत्तये मूलम् आदिकारणम् देवी विष्णुभक्तिः, ताम् विष्णुभक्तिञ्च सत्त्वकन्या सात्त्विकी श्रद्धा अनुव्रता अनुगता । चेत् यदि कामान्मुक्तः निष्कामः धर्मोऽपि तत्र विष्णुभक्तिश्रद्धयोः स्थाने तत् तदा विवेकस्य कृत्यम् सिद्धं जातम् मन्ये उत्प्रेक्षे । निष्कामकर्मानुतिष्ठतां सात्त्विकश्रद्धाशालिनाम् विष्णुभक्त्याऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा विद्योदयो जायत इति तात्पर्यम् ॥ २६ ॥

असुव्ययेन–प्राणपणेन । स्वामिनः–मोहस्य । प्रयोजनम्–सात्त्विकश्रद्धाविष्णुभक्त्योर्विघटनम् । अनुष्ठेयम्–कर्त्तव्यम् । आहरणाय–आनयनाय, बलादाकृष्यानानयनायेति भावः ।

एवम्–ईदृशम् , धर्मश्रद्धयोराहरणप्रवृत्तिरूपम् । व्यवसायम्–प्रवृत्तिम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते प्रबोधचन्द्रोदय'प्रकाशे' तृतीयाङ्क'प्रकाशः' ॥



सिद्धिका मूल है विष्णु भक्ति, उसके साथ सात्त्विकी श्रद्धा है, कामसे मुक्त होकर धर्म भी अगर वहाँ पहुँच जाय तो समझना चाहिये कि विवेकका कार्य सिद्ध हो गया ॥ २६ ॥

तथापि प्राणव्यय करके भी स्वामीका कार्य करना ही है । अतः धर्म और श्रद्धाको आहृत करने के लिये महाभैरवी विद्याको भेजता हूँ । (सबका प्रस्थान)

शान्ति—हम दोनों भी इन अभागोंकी गतिविधिको देवी विष्णुभक्तिसे निवेदित करें ।

(दोनों जाती हैं)

तृतीय अङ्क समाप्त



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मैत्री)

मैत्री—श्रुतं मया मुदितायाः सकाशाद्यथा महाभैरवीसङ्ग्रसनसंभ्रमाद्भगवत्या विष्णुभक्त्या परित्राता प्रियसखी श्रद्धेति। तदुत्कण्ठितेन हृदयेन प्रियसखीं श्रद्धां कदा प्रेक्षिष्ये। (सुदं मए मुदिताए सआसादो जधा महाभैरवीसङ्गसणसम्भमादो भअवदीए विण्णुभत्तीए परित्तादा पिअसही सद्धेति। ता उक्कण्ठिदेण हिअएण पिअसहीं सद्धां कदा पेक्खिसम्) (परिक्रामति)

(ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धा—(सभयोत्कम्पम्)

घोरां नारकपालकुण्डलवतीं विद्युच्छटां दृष्टिभि-
र्मुञ्चन्तीं विकरालमूर्तिमनलज्वालापिशङ्गैः कचैः।

मैत्री-मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा नाम चतस्रो वृत्तयो मताः, तास्वेकतया मैत्री। महाभैरवीसङ्ग्रसनसम्भ्रमात्-महाभैरवी कापालिकप्रेषिता पिशाची श्रद्धामाहर्त्तुमायाता तया सङ्ग्रसनं पीडनमाहरणार्थं बलाद्ग्रहणम्, ततः संभ्रमः भयम्, तस्मात्। उत्कण्ठितेन-उत्कलिकाऽऽकुलेन। कस्या अपि सख्या महतोऽनर्थकराद्व्यसनात्त्राणे जाते श्रुततदीयवृत्तान्तायास्तदीयायाः सख्यास्तद्दर्शनोत्कण्ठास्वभावसिद्धा समाजोचिता चेति प्रसिद्धयनुरोधेनायं ग्रन्थः।

सभयोत्कम्पम्-भयकृतेन कम्पेन सह। भयनिवृत्तावपि भयकृतः कम्पश्चिरमनुवर्त्तत इति श्रद्धायाः कम्पो वर्ण्यते।

घोरमिति० घोराम् भीषणाकृतिम्, नारकपालकुण्डलवतीम् नृमुण्डकृतकुण्डलभूषणाम्, दृष्टिभिः उग्रदृष्टिपातैः विद्युच्छटाम् शम्पासम्पातम् मुञ्चन्तीम् बहिर्भावयन्तीम्, अनलज्वालापिशङ्गैः वह्निशिखाकपिलैः कचैः केशैः विकारालमूर्त्तिम् भय-

---

(मैत्रीका प्रवेश)

मैत्री—मैंने मुदिताके मुंहसे सुना है कि महाभैरवी द्वारा ग्रस्त होनेसे श्रद्धाको भगवती विष्णुभक्तिने बचा लिया है। अतः उत्कण्ठित हृदयसे प्रियसखी श्रद्धाको कब देखूंगी। (चलती है)

(श्रद्धाका प्रवेश)

श्रद्धा—(भयसे कम्पित होकर) भयानक नरकपालका कुण्डल धारण करने वाली, दृष्टिसे विद्युच्छटा प्रकट करने वाली, विकराल मूर्त्ति, आगकी लपट सदृश केशधारिणी,

दंष्ट्राचन्द्रकलाङ्कुरान्तरलल्जिह्वां महाभैरवीं
पश्यन्त्या इव मे मनः कदलिकेवाद्याप्यहो वेपते ॥ १ ॥

मैत्री—(स्वगतम्) अये, एषा मे प्रियसखी श्रद्धा भयसमुद्भ्रान्तहृदयाकलितकम्पतरलैरङ्गैः किमपि मन्त्रयन्ती संमुखागतामपि मां न लक्षयति । तस्मादालपिष्यामि तावत् । (प्रकाशम्) प्रियसखि श्रद्धे, किमिति त्वमुत्कलितहृदया मामपि न विलोकयसि । (अए, एसा मे पिअसही सद्धा भअसमुम्भान्तहिअआकलिदकम्पतरलेहिं अङ्गेहिं किंवि मन्तअन्ती संमुहागदंवि मं ण लक्खेदि । ता आलविस्सं दाव । पिअसहि सद्धे, किंति तुमं उक्कलिदहिअआ मंपि ण विलोएदि)

क्रूरविग्रहाम्, दंष्ट्राचन्द्रकलाङ्कुरान्तरललजिह्वाम् दंष्ट्राः दन्ताः एव चन्द्रकलाङ्कुराः बालचन्द्रमसः प्ररोहाः तासाम् अन्तरे मध्ये ललन्ती चला जिह्वा रक्ताभरसना यस्याः सा ताम्, महाभैरवीम् कपालिकप्रेरिताम् मदाहरणायागताम् भैरवीं नाम विद्याप्रभेदम् पश्यन्त्याः सद्यो विलोकयन्त्या इव मे मम श्रद्धाया मनः कदलिकावत् रम्भातरुपत्रवत् अद्यापि चिरस्य भयकारणे निवृत्तेऽपि वेपते कम्पते । अयमाशयः—कापालिकेन मदाहरणाय प्रहितां घोरदर्शनां नृकपालकुण्डलभूषणां कपिशवर्णैः कचैर्विकरालं वपुर्दधतीं चन्द्रकलाङ्कुरोपमदशनमध्यचलल्लोललोहितरसनां तां महाभैरवीं दृष्ट्वा तथाऽहमभैषं यथाऽधुनाऽपि भयकारणीभूताया भैरव्या विष्णुभक्त्या कृतेऽपि मम पश्यन्त्याः पुरत एव विनिपाते सातिशयभीतिकृतो मम मनःकम्पो न निवर्तत इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

भयेति० भयेन भीत्या समुद्भ्रान्तम् अनवस्थितम् यद् हृदयम् चित्तम् तेन आकलितः प्राप्तः यः कम्पः चलत्वम् तेन तरलैः चलैः । भयसकोपहृदयवशाच्चलद्भिरित्यर्थः । मन्त्रयन्ती—मन्दमभिदधाना । सम्मुखागताम्—पुरोवर्तिनीम् । न लक्षयति—न विभावयति, अन्यमनस्कतया मदागमनं न चेतयत इत्यर्थः । आलपिष्यामि—सम्बोध्य किमपि व्याहरिष्यामि, (येन मदभिमुखीभूतायास्तस्या जायेत मदुपस्थितिबोधः) उत्कलितहृदया—अनवस्थितहृदया । मामपीत्यपिनाऽतिसख्यकृतं

दन्तरूप चन्द्रकलाके बीच रक्ताभ जिह्वाधारिणी, महाभैरवीको जैसे मैं अब भी देखती होऊं उसी प्रकार कदलीकी तरह हमारा मन कांप रहा है ॥ १ ॥

मैत्री—(स्वगत) अरे, भयातुर हृदया यह हमारी सखी श्रद्धा भयतरल अङ्गोंसे कुछ कह रही है और समीपमें सम्मुख आजाने पर भी मुझे नहीं देख रही है । मैं इसे टोकूंगी । (प्रकाश) प्रियसखि श्रद्धे, क्यों तुम इतनी विकल हृदया हो रही हो कि मुझे भी नहीं देख रही हो ।

श्रद्धा—(विलोक्य सोच्छ्वासम्) अये, मे प्रियसखी मैत्री ।

कालरात्रिकरालास्यदन्तान्तर्गतया मया ।
दृष्टासि सखि सैव त्वं पुनरत्रैव जन्मनि ॥ २ ॥

तदेहि गाढं परिष्वजस्व माम् ।

मैत्री—(तथा कृत्वा) सखि, तदा विष्णुभक्तिनिर्भर्त्सितप्रभावाया महाभैरव्याः कस्मात्तेऽद्यापि वेपन्तेऽङ्गानि । (सहि, तदा विण्हुभत्तिणिब्भत्थिदप्पभावाए महाभैरवीए कहं दे अज्जवि वेवन्दि अङ्गाइं)

(श्रद्धा घोरामित्यादि पठति)

विलोकनस्यात्यन्तौचित्यं समर्थ्यते ।

सोच्छ्वासम्—उच्छ्वासश्चात्र प्रियजनदर्शनजन्मा, तत्रापि विशिष्य सद्य एव महाऽऽपदुपनिपातस्य जातस्यानुध्यातत्वेन दुःखस्मरणकृतमनःखेदप्रभवो वोध्यः, तथा चोक्तं-'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' इति ।

'अत्र किमपि सन्त्रयन्ती' इत्यादिना वितर्कप्रतीतेरूपाख्यं तृतीयमङ्गम्, 'रूपं वाक्यं वितर्कवत्' इति तल्लक्षणात् ।

कालरात्रीति० कालरात्रेरिव करालम् भयावहमास्यं मुखं तत्र ये दन्ताः तदन्तः तन्मध्ये गतया प्रवेशं गतया मया सैव त्वम् पुनः अत्रैव जन्मनि दृष्टाऽसि । इदं मम सौभाग्यं यन्मृत्योरिव तस्या मुखान्निरपायं निर्याय प्रियसखीं त्वामत्रैव जन्मनि दृशा पिवामीति भावः ॥ २ ॥

तत्–मृत्युसदृशविपदुत्तीर्णाया मम प्रमोदार्थम् । एहि–आगच्छ । परिष्वजस्व–आलिङ्ग ।

तथा कृत्वा–आलिङ्गय । विष्णुभक्तिनिर्भर्त्सितप्रभावायाः–देव्या विष्णुभक्त्या दृष्टिपातेन पातयित्वा नाशितायाः, वेपन्ते–कम्पन्ते ।

श्रद्धा—(देखकर आश्वस्त होकर) अरे, मेरी सखी मैत्री है !

महाभैरवीके कालरात्रिकी तरह भयङ्कर मुंह तथा दांतके भीतर जाकर भी पुनः इसी जन्ममें मैंने तुम्हें देखा ॥ २ ॥

अतः आओ, जोरसे तुम्हें गले लगालूं ।

मैत्री—(वैसा करके) सखि, जब कि विष्णुभक्तिने महाभैरवीके प्रभावको उस तरह दूर कर दिया तब फिर क्यों तुम्हारे अङ्ग अब भी कांप रहे हैं ।

(श्रद्धा 'घोराम्' इत्यादि दुहराती है)

मैत्री—(सत्रासम्) अहो, हताशा घोरदर्शना। अथ तयागतया किं कृतम्। (अहो, हदासा घोलदंसणा। अघ ताए आगदाए किं किदम्)

श्रद्धा—

श्येनावपातमवपत्य पदद्वये मा-
मादाय धर्ममपरेण करेण घोरा।
वेगेन सा गगनमुत्पतिता नखाग्र-
कोटिस्फुरत्पिशितपिण्डयुगेव गृध्री ॥ ३ ॥

मैत्री—हा धिक् हा धिक्। (हद्धी हद्धी) (इति मूर्च्छति)

श्रद्धा—सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

मैत्री—(आश्वस्य) ततस्ततः। (तदो तदो)

श्रद्धा—ततः परमस्मदीयार्तनादोपजातदयार्द्रचित्तया देव्या—

हताशा-अधमा। घोरदर्शना-भीषणाकृतिः। तया-महाभैरव्या।

श्येनावपातमिति० घोरा सा श्येन इव अवपत्य श्येनावपातम् अवपत्य निपत्य पदद्वये चरणद्वये चरणद्वयावच्छेदेन माम् आदाय गृहीत्वा अपरेण मद्ग्रहणोपलब्ध-करातिरिक्तेन करेण हस्तेन धर्मम् आदाय गृहीत्वा नखाग्रकोटयोः नखाग्रभागयोः स्फुरत्पिशितपिण्डयुगा धृतमांसखण्डद्वया गृध्री इव गगनमुत्पतिता आकाशे उद्-डीयत। यथा गृध्री हठाद्भूमौ निपत्य नखाग्रभागेन पिशितखण्डयुगमादाय पुन-र्व्योम गाहते, तथैवासौ भैरवी श्येनवदुपनिपत्यैकेन करेण मम पादौ परेण च धर्ममादाय नभ उदपतत् इति भावः। 'श्येनावपातम्' इत्यत्र-'कर्त्तर्युपमाने' इति णमुल् ॥ ३ ॥

अस्मदीयार्त्तनादोपजातदयार्द्रचित्तया—मम धर्मस्य च करुणक्रन्दनेन करुणापर-

---

मैत्री—(डरसे) वह अभागी बड़ी डरावनी है। उसने आकर क्या किया ?

श्रद्धा—बाजकी तरह झपट कर आई, हमारे दोनों चरणोंको एक हाथसे और दूसरे हाथसे धर्मको पकड़ वह दुष्टा वेगसे आकाशकी ओर उड़ी, उस समय वह ऐसी लगती थी मानो किसी गृध्रीके नखाग्रमें मांसखण्ड हो और वह उड़ रही हो ॥ ३ ॥

मैत्री—हाधिक् हाधिक्! (मूर्च्छित होती है)

श्रद्धा—सखि, धीरज धरो, धीरज धरो।

मैत्री—(आश्वस्त होकर) तब क्या हुआ ?

श्रद्धा—उसके बाद हमारे आर्त्तनाद सुनकर देवीको दया हो आई और—

भ्रूभङ्गभीमपरिपाटलदृष्टिपात-
मुद्गाढकोपकुटिलं च तथा व्यलोकि ।
सा वज्रपातहतशैलशिलेव भूमौ
व्याभुग्नजर्जरशिरोऽस्थि यथा पपात ॥ ४ ॥

मैत्री—दिष्ट्या मया दृष्टा क्रुद्धशार्दूलमुखाद्विभ्रष्टा मृगीव क्षेमेण संजीविता प्रियसखी । (दिट्ठिआ मए दिट्ठा कुद्धसाद्दूलमुहादो विब्भट्ठा मिईव क्खेमेण संजीविदा पिअसही)

श्रद्धा—ततो देव्या समुपजाताभिनिवेशमुक्तमेवमस्य दुरात्मनो महामोहहतकस्य सामप्यवज्ञाय प्रवर्तमानस्य समूलमुन्मूलनं करिष्यामीति ।

वशहृदयया । देव्या—विष्णुभक्त्या ।

भ्रूभङ्गेति० (विष्णुभक्त्या देव्या सा भैरवी) भ्रुवोः भङ्गः कौटिल्यम् तेन भीमः भयङ्करः, परिपाटलः श्वेतरक्तश्च दृष्टिपातो यत्र कर्मणि तत्तथा, उद्गाढकोपकुटिलम् समधिकक्रोधवक्रं च तथा तेन प्रकारेण व्यलोकि दृष्टा, यथा सा भैरवी वज्रपातहतशैलशिला अशनिपतनाहतपर्वतशिखर इव व्याभुग्नजर्जरशिरोऽस्थि व्याभुग्नं कुटिलीभूतं जर्जरं चूर्णितञ्च शिरोऽस्थि यत्र तथा भूमौ पपात । कुटिलभ्रूयुतरक्तदृष्ट्या देव्या विलोकनप्रभावेण दिवः पतन्त्यास्तस्या भैरव्याः शिरोऽस्थिचूर्णं वज्राहतशिलेव च सा भूमावपतत् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

'ततः परम्' इत्यारभ्य 'पपात' इत्यन्तेन विष्णुभक्तेरुत्कर्षप्रतिपादनात् उदाहरणाख्यं चतुर्थमङ्गमुपन्यस्तं वेद्यं तथा च तल्लक्षणम्—'उत्कर्षेणान्वितं वाक्यमुदाहरणमिष्यते' इति । क्रुद्धशार्दूलमुखात्—कुपितव्याघ्रवदनात्, विभ्रष्टा—च्युता, क्षेमेण—कुशलपूर्वकम् । यथा कुपितेन व्याघ्रेण धृता मृगी कदाचिदेव भाग्यवशात्ततो भ्रष्टा जीवति तथैवाकस्मादेव भवत्या जीवितमिति धन्यं तव सौभाग्यमिति भावः ।

समुपजाताभिनिवेशम्—सक्रोधम् । एवम्—दृष्टेन प्रकारेण । महामोहहतकस्य—

भौहें टेढी करके रक्त नेत्रोंसे कोपकुटिल रूपमें देवीने इस प्रकार देखा कि वह वज्राहत शिलाखण्डकी तरह गिरी, उसका सिर जर्जर हो गया और उसकी हड्डी चूर चूर हो गई ॥४॥

मैत्री—भाग्यवश मैं कुपित शार्दूलमुखपतित मृगीके समान सकुशल जीती हुई सखीको देख सकी ।

श्रद्धा—इसके बाद आवेशमें आकर देवीने कहा कि यह दुष्ट महामोह मुझे भी अपमानित करके प्रवृत्त हो रहा है इसलिये उसका समूल उन्मूलन कर दूंगी । देवीने मुझे

आदिष्टा चाहं देव्या। यथा गच्छ श्रद्धे, ब्रूहि विवेकम्। कामक्रोधादीनां निर्जयायोद्योगः क्रियताम्। ततो वैराग्यं प्रादुर्भविष्यति। अहं च यथासमयं प्राणायामाद्यनुप्राणनेन युष्मत्सैन्यमनुग्रहीष्यामि। ऋतंभराद्यश्च देव्यः शान्त्यादिकौशलेनोपनिषद्देव्या संगतस्य भगवतः प्रबोधोदयमनुविधास्यन्तीति। तदहमिदानीं विवेकसंनिधिं प्रस्थिता। त्वं पुनः किमाचरन्ती दिवसानतिवाहयसि।

मैत्री—वयमपि विष्णुभक्तेराज्ञया चतस्रो भगिन्यो विवेकसिद्धिकारणेन महात्मनां हृदयेऽभिवर्तामहे। (अम्हेवि विण्हुभत्तीए अण्णाए चतस्सो बहिणीओ विवेअसिद्धिकालणेण महाप्पणं हिअए अहिवट्टम्हो) (संस्कृतमाश्रित्य) तथाहि—

नीचस्य मोहस्य अवज्ञाय—अगणयित्वा। प्रवर्तमानस्य—विजृम्भमाणस्य। समापि समीपे स्थितयोर्धर्मश्रद्धयोः सरभसमाहरणाय मोहेन महाभैरवी प्रेषिता तत्तस्य मां प्रति तिरस्कारप्रदर्शनं महानपराध इति प्रसङ्गः। समूलमुन्मूलनम्—सान्वयविनाशम्। आदिष्टा—आज्ञप्ता। निर्जयाय—विजेतुम्। यथासमयम्—योग्ये काले। प्राणायामाद्यनुप्राणनेन—प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणादीनामुज्जीवनेन। युष्मत्सैन्यम्—तव परिकरम्। ऋतम्भराद्याः ऋतम्भराप्रभृतयः, ऋतम्भरा नाम प्रज्ञा निर्बीजसमाधौ जायते यस्यां जातायां शुद्धं ज्ञानमाविरस्ति, तदुक्तं योगदर्शने—'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' 'श्रुतानुमानं प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्'। शान्त्यादिकौशलेन—शान्तिप्रभृत्युपायेन, मानिन्यो हि शान्त्याद्युपायैः पुरुषाभिमुख्यः क्रियन्त इति प्रथितमेव। (उपनिषद्—जननी, विवेकः पिता, प्रबोधो भावी पुत्रः, उपनिषदा विवेकं योजयितुमपेक्ष्यमाणाः शान्त्यादयः) अनुविधास्यन्ति—सम्पादयिष्यन्ति। विवेकसन्निधिं प्रस्थिता—विवेकपार्श्वं चलिता। अतिवाहयसि—यापयसि।

आज्ञा दी है कि–श्रद्धे, जा, विवेकसे कहदे, वह काम-क्रोध आदिको जीतनेकी तैयारी करे। इससे वैराग्यकी उत्पत्ति होगी। मैं यथा समय प्राणायाम आदिसे तुम्हारे सैन्यकी सहायता किया करूंगी। ऋतंभरा आदि देवियाँ शान्ति आदिके कौशलसे विवेकके साथ देवी उपनिषद्की सङ्गति कराकर प्रबोधोदय करेंगे। अतः मैं इस समय विवेकके पास चली हूँ। तुम क्या करती हुई दिन बिताती हो?

मैत्री—हम भी विष्णुभक्तिकी आज्ञासे चारों बहनें विवेककी सफलताके लिये महात्माओंके हृदयमें रहा करती हैं। (संस्कृत द्वारा) देखिये—

ध्यायन्निमां सुखिनि दुःखिनि चानुकम्पां
पुण्यक्रियेषु मुदितां कुमतावुपेक्षाम् ।
एवं प्रसादमुपयाति हि रागलोभ-
द्वेषादिदोषकलुषोऽप्ययमन्तरात्मा ॥ ५ ॥

तदेवं चतस्रोऽपि भगिन्यो वयं तदभ्युदयकारणेनैव वासरान्नयामः। कुत्रेदानीं प्रियसखी महाराजमालोकयति।

श्रद्धा—देव्या एतदेवमुक्तम्। अस्ति राढाभिधानो जनपदः। तत्र

चतस्रो भगिन्यः—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः। विवेकसिद्धिकारणेन—विवेकस्याभिमतं साधयितुम्।

ध्यायन्निमामिति॰ अन्तरात्मा जीवः सुखिनि सुखयुक्ते जीवे इमाम् मत्रीम्, दुःखिनि खिन्ने च जीवे अनुकम्पाम् कृपाम् करुणावृत्तिम्, पुण्या क्रिया येषां ते पुण्यक्रियाः सुकृतिनस्तेषु मुदिताम् सन्तोषरूपाम्, कुमतौ कुकार्यकरे उपेक्षाम् उदासीनतारूपाम् ध्यायन् चिन्तयन् एवम् अनेन प्रकारेण रागलोभद्वेषादिदोषकलुषः तैस्तैर्दोषैर्मलिनीकृतोऽपि प्रसादम् निर्मलत्वलक्षणां शुद्धिं निर्दोषताम् उपयाति। अयमर्थः—अन्तरात्मा रागादिदोषदूषितोऽपि चतसृभिराभिर्वृत्तिभिरुपेतः कतकरजोऽभिश्रितजलवदपेतमलः स्वाभाविकीं निर्मलतां प्राप्नोति, उपेक्षया कुमतिसंसर्गनिरासाद्रागादयः परास्ताः, पुण्यक्रियेषु मुदिताऽऽलम्बनात् संगतिमाहात्म्यान्मोहनिरासः, दुःखिषु करुणया क्रोधादिविनाशः, सुखिनि मैत्र्या द्वेषप्रशमः, तदेवं मैत्र्यादिभिश्चित्ते निर्मलतामापादिते निर्मलत्वमात्मनो भासत इति। उक्तश्चायमर्थः सूत्ररूपेण योगदर्शने—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इति। वसन्ततिलकं वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ५ ॥

वयम्—मैत्र्यादयः। तदभ्युदयकारणेन—विवेकसमुन्नतये। प्रियसखी—भवती मैत्री। महाराजमालोकयति—महाराजस्य विवेकस्य दर्शनं प्राप्नोति, महाराजोऽधुना कुत्रास्तीति भावः।

देव्या—विवेकपत्न्या मत्या। एतत्—महाराजस्य स्थानम्। जनपदः—देशः।

सुखियोंके ऊपर मैत्री, दुःखियोंके ऊपर करुणा, धर्मात्माओंमें मुदिता और दुर्बुद्धियों पर उपेक्षा इसप्रकार वृत्ति रखनेसे रागद्वेषकलुष होकर भी यह अन्तरात्मा प्रसाद प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार हम चारों बहनें विवेकके अभ्युदयके लिये ही दिन बिता रही हैं। तुम इस समय महाराजसे कहाँ मिलोगी ?

श्रद्धा—देवीने इस विषयमें इस प्रकार कहा है। 'राढ़ा नामका एक देश है, वहाँ

भागीरथीपरिसरालंकारभूते चक्रतीर्थे मीमांसानुगतया मत्या कथंचिद्धार्यमाणप्राणो व्याकुलेनान्तरात्मना विवेक उपनिषद्देव्याः संगमार्थं तपस्तपस्यतीति ।

मैत्री—तद्गच्छतु प्रियसखी । अहमपि स्वकं नियोगमनुतिष्ठामि ।

(ता गच्छदु पिअसही । अहंवि स्सकं णिओअं अणुचिट्ठामि)

श्रद्धा—एवं भवतु । (इति निष्क्रान्ते)

(विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च)

राजा—आः पाप महामोहहतक, सर्वथा हतस्त्वयायं महाजनः । तथाहि—

तत्र-राढाभिधे देशे । भागीरथीपरिसरालङ्कृते—भागीरथ्या गङ्गायाः परिसरः निकटतमा भूमिः तदलङ्कृते, गङ्गातीरसमीपवर्त्तिनि । चक्रतीर्थे-तदाह्वये तीर्थस्थाने । मीमांसानुगतया-मीमांसा भट्टमतं तत्सहितया । मत्या-स्वपत्न्या । कथञ्चिद्धार्यमाणः-कथङ्कथमपि आश्वासं लभ्यमानः । व्याकुलेन-व्यग्रेण । अन्तरात्मना-हृदयेन । तपस्तपस्यति-तपस्यामाचरति । इदमत्र बोध्यम्-बोधोदयाय व्याकुलस्य धार्मिकस्य मतिर्वाक्यविचारसाधनत्वेन मीमांसाशास्त्रं सेवते, मीमांसासहाया च मतिस्तं स्थिरीकृत्य ज्ञातकण्डे प्रवर्त्तयति, स एवायमर्थोऽत्र रूपके निहितः । विवेकस्य बोधोदयोऽपेक्षितः । स व्याकुलभावेन तपश्चरति, तं च दासीभूतया मीमांसया सहिता तत्पत्नी मतिः प्रबोधयतीति ।

नियोगम्-कर्त्तव्यम्, महात्मजनहृदयाध्यासनात्मकम् । पाप-पापाचारिन् । महामोहहतक-नीचमोह ।

गङ्गातट पर वर्तमान चक्रतीर्थमें मीमांसानुगता मति द्वारा किसी तरह अवलम्बितप्राण विवेक व्याकुल हृदयसे उपनिषद् देवीके साथ सङ्गमार्थ तपस्या कर रहे हैं' ।

मैत्री—तो तुम जाओ प्रियसखी, मैं भी अपना कर्त्तव्य करने जा रही हूं ।

श्रद्धा—ऐसा ही हो । (दोनों जाती हैं)

(विष्कम्भक)

(राजा तथा प्रतीहारीका प्रवेश)

राजा—आः पापी महामोह, तुमने इस महात्माको सब तरहसे मार ही दिया । क्योंकि—

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली-
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नोऽपि नाचामति ।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ॥ ६ ॥

अथवा संसारचक्रवाहकस्य महामोहस्याबोधो मूलम् । तस्य च तत्त्वावबोधादेव निवृत्तिः । यतः—

शान्त इति० मूढः अविवेकी जनः शान्ते अविद्याविक्षेपवर्जिते अनन्तमहिम्नि इयत्तापरिच्छेदरहिते महिमरूपे निर्मलचिदानन्दे आविद्यकदोषशून्यज्ञानानन्दरूपे तरङ्गावलीनिर्मुक्ते उच्चावचप्रपञ्चाहतविकाररहितेऽमृतसागरस्य निरपायसुधासमुद्रस्य ब्रह्मानन्दस्याम्भसि जले आध्यात्मिकज्ञाने मग्नः स्वाभेदेन ब्रुडितोऽपि नाचामति अंशतोऽपि तमानन्दं नास्वादयति । (किन्तु) निस्सारे पारमार्थिकताविरहितत्वेनातात्त्विके मृगतृष्णिकार्णवजले मृगमरीचिकातुल्ये सांसारिकसुखपयसि श्रान्तः तत्कृतानेकदुःखबाधितः अपि पिबति आचामति, अवगाहते स्नाति, अभिरमते प्रसीदति, मज्जति अथ उन्मज्जति यथासम्भवं सर्वविधमप्युपयोगं कुर्वाणो विहरति । मूढोऽयं सांसारिको जीवः स्वाभेदेन विभाव्यतया समीपवर्त्तिनि शान्ते सर्वविधबाह्योत्पातरहिते अनन्तमहिम्नि अनन्तविस्तारे निर्मले तरङ्गकृतबाधाया अभूमौ अमृतसागरे अनिमज्ज्य आत्मानन्दं परित्यज्य सांसारिकसुखरूपमरीचिकाजले सर्वविधमानन्दमनुभवतीत्यतिविचित्रमस्य मूढत्वमिति भावः । अयमात्मरूपोऽमृतसागरः शान्तो निरुपद्रवः, अनन्तश्च नित्यत्वात् , निर्मलो देहेन्द्रियादिविषयमलराहित्यात् , अन्यस्तु सागरो नक्रमकरादिकृतोपद्रवसहितः सीमितो मलवांश्च भवतीति व्यतिरेकः । अयमस्याशयः—सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकं स्वस्वरूपमजानञ्जीवः संसारदशामापन्नोऽविद्यावशादन्तःकरणधर्मान्दुःखदुरितादीन् प्राणधर्मान् क्षुत्पिपासादीन् देहधर्माञ्जरामरणादीन् ममाहमित्यभिमानमूलकान्पुत्रमित्रकलत्रादिगतसाकल्यवैकल्यादीनात्मन्यध्यस्य कष्टमनुभवतीति ॥ ६ ॥

संसारचक्रवाहकस्य—जन्मनः परतोऽन्यज्जन्मेति संसारपरम्परावाहिनः। अबोधः

शान्त, अनन्तमहिमशाली, स्वच्छज्ञानस्वरूप, तरङ्गावलीशून्य, अमृतसमुद्रके जलमें डूब कर भी प्यास नहीं बुझाता है और निःसार मृगतृष्णाजलमें मूढ़ श्रान्त पामरजन पीता है, नहाता है, प्रसन्न होता है और डूबता-उतराता है ॥ ६ ॥

अथवा—संसारचक्रप्रवर्त्तक महामोहका अज्ञान ही मूल है, उसकी निवृत्ति तत्त्वावबोधसे ही होगी । क्योंकि—

अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय ।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ॥ ७ ॥

'प्रायः सुकृतिनामर्थे देवा यान्ति सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥'

इति तत्त्वविदो व्याहरन्ति । तथा तु देव्या विष्णुभक्त्या संदिष्टं 'उद्योगः कामादिविजयविषये क्रियताम्' इति । अहमपि भवदर्थे गृहीतपक्षेति । तत्र कामस्तावत्प्रथमो वीरो वस्तुविचारेणैव जीयते । तद्भवतु ।

अज्ञानम् । तत्त्वावबोधात्–स्वरूपज्ञानात् , आत्मबोधरूपब्रह्मसाक्षात्कारात् । निवृत्तिः–उपरमः ॥

अमुष्येति० अमुष्य अबोधमूलस्य अज्ञानप्ररूढस्य संसारतरोः भवबन्धनवृक्षस्य उन्मूलविनाशनाय समूलोत्पाटनाय विश्वेश्वरः परमात्मा तस्याराधनं सेवा मननादिः तदेव बीजमादिकारणं तस्माज्जातात् उत्पन्नात् तत्त्वावबोधात् आत्मज्ञानात् अपरः उपायः न अस्तीति शेषः । अनादिभावरूपाज्ञविजृम्भितमिमं संसारतरुमुत्पाटयितुं तत्त्वज्ञानमेव प्रभवति, अज्ञानस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात् , तच्च तत्त्वज्ञानं विश्वेश्वराराधनमन्तरा न संभवति, तदुक्तम्—'ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' इति कणादसूत्रे । वंशस्थं वृत्तम् , 'वदन्ति वंशस्थमिदं जतौ जरौ' इति लक्षणात् ॥ ७ ॥

प्राय इति० सुकृतिनाम् पुण्यकर्मणाम् अर्थे प्रयोजने करणीये देवाः सहायताम् सहायकभावम् यान्ति प्रतिपद्यन्ते, अपन्थानम् निन्दितं वर्त्म गच्छन्तं तु सोदरः अत्यात्मीयः अपि विमुञ्चति साहायकानाचरणरूपं त्यागं करोतीत्यर्थः । देवानां सहायताऽनुकूलपरिस्थित्युत्पादनादिना सामग्रीसमाहरणेन च प्रसिद्धैव रामायणादौ, सोदरैस्त्यागस्यापि तत्रैव रावणचरितनिदर्शनम् ॥

तत्त्वविदः–ज्ञानिनः । व्याहरन्ति–कथयन्ति, व्याहार उक्तिर्लपितं भाषणं वचनं वचः' इत्यमरः । तथा–तदनुसारम् । भवदर्थे–त्वया करणीये कामादिजये । प्रथमो

अज्ञानमूलक इस संसार वृक्षके समूल विनाशमें भगवदाराधनसे जाततत्त्वावबोधके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है ॥ ७ ॥

'प्रायः सुकृतियोंके कार्यमें देवता भी सहायता करते हैं और कुमार्ग पर चलने वालोंको सोदर भी छोड़ देते हैं ॥

ऐसा तत्त्वज्ञोंका कहना है । और देवी विष्णुभक्तिने कहा है कि कामादिकी विजयके लिये उद्योग किया जाय । मैं भी आपके पक्षमें रहूंगी । उसमें मुख्य वीर कामको तो वस्तु-

तमेव तावद्विजयार्थमादिशामि । वेदवति, आहूयतां वस्तुविचारः ।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि) (इति निष्क्रम्य वस्तुविचारेण सह प्रविशति)

वस्तुविचारः—अहो निर्विचारसौन्दर्याभिमानवर्धिष्णुना कामहतकेन वञ्चितं जगत् । अथवा दुरात्मना महामोहेनैव । तथाहि—

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणिभरेत्युन्नम-
त्पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।

वीरः-मुख्यो योधः । वस्तुविचारेण-वस्तुस्वरूपविचारनामकेन । कामो वस्तुस्वरूपविचारे क्रियमाणे नावतिष्ठते, आपातरमणीयता हि विषयाणामाकृष्य कामं समेधयति, विचारेण तु तेषामापातरमणीयता विपरिवर्त्तते वास्तविकरूपे, ततो निवर्त्तते काम इति वस्तुविचारेण कामजय उक्तः । तमेव-वस्तुविचारमेव । विजयार्थम्-कामं जेतुम् । आदिशामि-आज्ञापयामि । वेदवतीति प्रतीहार्या नाम ।

निर्विचारसौन्दर्याभिमानवर्धिष्णुना—विचारान्निर्गतं निर्विचारम्, तादृशो यस्सौन्दर्याभिमानः कमनीयता गर्वस्तेन वर्धिष्णुना वृद्धिशीलेन । विचारणायां कृतायां नार्याः सौन्दर्यमहृद्यतायां पर्यवस्यतीति तत्सौन्दर्यं निर्विचारसौन्दर्यं तन्नाभिमानेन वर्द्धते काम इति प्रसिद्धमेव । वञ्चितम्-प्रतारितम्, आकृष्य स्वस्मिन्नासक्तं कृतम् । 'महामोहेनैव' इत्यस्य वञ्चितमिति शेषः, न कामस्यायं प्रभावो यल्लोकस्य कामासक्तिः किन्तु महामोहस्यैवायं प्रभावः, किंवाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्' इति भावः ।

कान्तेति० अहो आश्चर्यम् मोहस्य दुश्चेष्टितम् मोहस्यानर्थकरः प्रयासभरः ! (यत्प्रभाववशात्) प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिकाम् स्फुटामेध्यपुत्तलीरूपाम् मांसग्रन्थिलालारसरक्तादिकृतत्वेनाशुद्धवस्तुनिर्मितक्रीडापुत्तलिकाऽनतिरिक्तस्वभावाम् (अपि) स्त्रियम् नारीम् दृष्ट्वा प्रत्यक्षमालोक्य विद्वान् अधीतबहुशास्त्रोऽपि (मूर्खस्त्वज्ञानेन

विचार ही जीत लेगा । अच्छी बात । उसे ही विजयार्थ आदेश देता हूँ । वेदवति, वस्तुविचारको पुकारो ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा । (जाकर वस्तुविचारके साथ प्रवेश करती है)

वस्तुविचार—अहो विना विचारके सौन्दर्यसे बढ़ने वाले कामने संसारको वञ्चित कर रखा है ।

अथवा दुरात्मा कान्ता, कमलनयना, विपुल नितम्बा, पीनोच्चकुचा, सुवदना, सुभ्र

दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥ ८ ॥

अपि च यथावस्तु विचारयताममन्दमतीनामपि पिशितपङ्कावनद्धास्थिपञ्जरमयी स्वभावदुर्गन्धिर्बीभत्सवेषा नारीति नास्ति विरतिः। तदत्र विस्पष्ट एवेतरगुणाध्यासः। तथाहि—

मुक्ताहारलता रणन्मणिमया हैमास्तुलाकोटयो
रागः कुङ्कुमसंभवः सुरभयः पौष्पा विचित्राः स्रजः।

करोतु तत्रानुपागं नासौ तथा चिन्त्यः) कान्ता कमनीया सुन्दरी इति, उत्पललोचना कमलाक्षी इति, विपुलश्रोणीभरा विपुलनितम्बा इति, उन्नमत्पीनोत्तुङ्गपयोधरा प्रतिक्षणवर्धमानस्थूलोच्चकुचा इति, सुमुखाम्भोजा सुन्दरवदनकमला इति, सुभ्रूः सुन्दरभ्रूलता इति (हेतोः) (कृत्वा वा) माद्यति मोहं प्रतिपद्यते, मोदते हृष्यति, अभिरमते परिक्रीडति, प्रस्तौति बहुविधान् तद्गुणान् वर्णयति। पण्डितोऽपि मलमूत्राप्लुतशरीरतयाऽशुचिं पुत्तलिकामिवावास्तविकीं नारीं दृष्ट्वा कामावेशवशान्मोहमुपयाति, तदाशया हृष्यति, तस्या गुणानां वर्णने चावस्तुभूततत्तदुपमानानि सङ्गृह्णाति, तदयं मोहस्य प्रसृमरो महिमा, न कामस्येति तात्पर्यम्। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ८ ॥

यथावस्तु—वस्तुस्वरूपयाथात्म्यम्। विचारयताम्—भावयताम्। असन्दमतीनाम्—प्रखरमेधसाम्। पिशितपङ्कावनद्धास्थिपञ्जरमयी—मांसकर्दमखचितास्थिपञ्जरस्वरूपा। बीभत्सवेषा—घृणितरूपा विरतिः—वैराग्यम् विवेकिनोऽपि स्त्रीणां मांसास्थिपिञ्जरमयत्वं घृणामयत्वं भावयन्तोऽपि यन्न ताभ्यो विरक्ता भवन्ति तत्र कारणं परगुणारोप इति वक्तुमवतारयति—तत्रेति० इतरगुणाध्यासः—परगुणारोपः, परे सुन्दरपदार्थाः, तेषां ये गुणास्तेषामारोपः कल्पना सा कल्पनाऽऽहार्याऽपि तथा न प्रतीयते मोहमाहात्म्यादिति भावः।

मुक्ताहारलतेति० अहो आश्चर्यमिदम्, मुक्ताहारलताः मौक्तिकाहाराः, रणन्मणि-

इस प्रकारसे स्त्रीको देखकर प्रसन्न होता है, मस्त होता है, रति करता है, विद्वान् होकर भी प्रत्यक्ष अपवित्र मूर्त्ति स्त्रीको इस प्रकार समझता है यह मोहका ही दुश्चेष्टित है ॥ ८ ॥

और वस्तुविचार करने वाले तीक्ष्ण बुद्धि होकर भी मांससे लिपटी हड्डी स्वरूप तथा स्वभावतः दुर्गन्धिमय और बीभत्स नारी होती है यह जानकर भी विरक्त नहीं होते हैं। इससे प्रकट होता है कि यहाँ अन्य गुणोंका आरोप होता है।

खनखनाते हुए मणिके मुक्ताहार, सोनेके चरणालङ्कार, कुङ्कुमके राग, सुगन्धित पुष्प,

वासश्चित्रदुकूलमल्पमतिभिर्नार्यामहो कल्पितं
बाह्यान्तःपरिपश्यतां तु निरयो नारीति नाम्ना कृतः ॥ ९ ॥

(आकाशे) आः पाप कालचण्डाल, किमनालम्बनमेवं भवता व्याकुलीक्रियते जनः । तथा ह्ययमेवमभिमन्यते—

बाला मामियमिच्छतीन्दुवदना सानन्दमुद्वीक्षते
नीलेन्दीवरलोचना पृथुकुचोत्पीडं समाश्लिष्यति ।

अरे मूढ,

मयाः खनखनायमानमौक्तिकमयाः हैमाः स्वर्णकृताः तुलाकोटयः नूपुराणि, कुङ्कुमसंभवः कुङ्कुमाभिधद्रव्यनिर्मितः रागः अङ्गरागः, सुरभयः सुगन्धियुताः पौष्पाः पुष्पघटिताः विचित्राः नानाकृतयः स्रजः माल्यानि, चित्रदुकूलम् नानावर्णम् पट्टवस्त्रम् वासः परिधानम्, अल्पमतिभिः सङ्कुचितबुद्धिभिः कामिभिर्मन्दैः नार्याम् कल्पितम् आरोपितम् । न नारी स्वतः सुन्दरी, किन्तु मन्दास्तस्यां मुक्ताहारहैमनुपुरकुङ्कुमकृताङ्गरागपुष्पमाल्यचित्रवस्त्रादीनां सौन्दर्यमध्यस्य स्ववन्धनं प्रस्तुवन्तीत्याशयः । बाह्यान्तःपरिपश्यताम् बहिरन्तश्च विचारयतां तु बुद्धिमतां (मते) नारीति नाम्ना निरयः नरकः कृतः । विवेकिनां मते नारीनरक इत्यनर्थान्तरम्, मुग्धास्तु तत्र परगुणानध्यस्य प्रमोदन्त इति भावः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ९ ॥

'कामचण्डाल' इत्यत्र कामस्य परोपतापकत्वेन चण्डालत्वारोपो वोध्यः । अनालम्बनम्—निराधारम्, नारीरूपमेव कामस्य प्रलोभनं मतं तदप्यसदेवेति प्रागुक्तमेव, ततश्च लोकानां नार्यामासञ्जनं निराधारमेव लोकानां व्याकुलीकरणमिति भावः । व्याकुलीक्रियते—ताभिः स्त्रीविषयाभिस्तत्सनाभिरन्याभिर्वा चिन्ताभिरायास्यते ।

अयम्—कामपीडितो जनः । एवम्—उक्तेन प्रकारेण । अभिमन्यते—मनसि कल्पयति ।

वालेति० इन्दुवदना चन्द्रोपममुखी नीलेन्दीवरलोचना नीलकमलतुल्यलोचना इयम् वाला रमणी माम् इच्छति प्रेम्णाऽभिलष्यति, सानन्दम् सहर्षम् उद्वीक्षते

विचित्र मालायें, रङ्गविरङ्गी कपड़े इन सब चीजोंको मूर्खोंने नारीमें कल्पना कर ली है, किन्तु भीतर बाहर विचारने वालोंके लिये तो स्त्रियाँ नरक ही हैं ॥ ९ ॥

(अकाशकी ओर देखकर) आः पाप कामचण्डाल, व्यर्थ क्यों तुम अपनी आत्माको व्याकुल कर रहे हो ? यह अभिमान कहता है कि—

यह इन्दुवदना सुन्दरी मुझे चाहती है, सानन्द देखती है, नीलकमललोचना यह बाला स्थूल कुचोंसे पीड़ित करके आलिङ्गन करती है।

का त्वामिच्छति का च पश्यति पशो मांसास्थिभिर्निर्मिता
नारी वेद न किंचिदत्र स पुनः पश्यत्यमूर्तः पुमान् ॥ १० ॥

प्रतीहारी—इति आगच्छतु महाभागः । (इदो आगच्छेदु महाभाओ)

(इत्युभौ परिक्रामतः)

प्रतीहारी—एष महाराज उपविष्टस्तिष्ठति । तदुपसर्पतु भवान् । (एसो महाराओ उवविट्ठो चिट्ठदि । ता उवसप्पदु भवम्)

वस्तुविचारः—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । एष वस्तुविचारः प्रणमति ।

राजा—इहोपविश्यताम् ।

पश्यति, पृथुकुचोत्पीडम् गाढालिङ्गने स्थूलोन्नतौ स्वकुचौ पीडां गमयित्वा समाश्लिष्यति आलिङ्गति कामहतो जन एवं भावयति तत्तस्य मिथ्याचिन्तनं वस्तुतत्त्वं त्वेवं बोध्यम् । का त्वाम् इच्छति न कापीत्यर्थः, का त्वां पश्यति न कापीत्यर्थः, पशो इदं कामिसम्बोधनं तस्या ज्ञानं समर्थयितुं स्वासक्तेर्विरागं च समुत्पादयितुम् । मांसास्थिभिः मांसेनास्थिपिञ्जरेण च निर्मिता नारी देहभूता योषित् न किञ्चित् वेद जानाति, कामिनो भवत आसक्तिर्देहभूतनार्यामेव, सा च न किमपि वेद, देहस्याचेतनत्वादतो भवता कल्पितं तदीक्षणादि सर्वं निराधारमित्यर्थः । नन्वेवं देहेऽज्ञाने कस्तत्रस्थितो वेदेत्यत्राह—अत्र देहे पुनः सः प्रसिद्धः अमूर्तः कायरहितः पुमान् साक्षी पश्यति । सर्वं द्रष्टृत्वादिकं साक्षिधर्म एव न देहधर्मस्तदलं देहभूतायां नार्यामासक्तिं कृत्वेति भावः ॥ १० ॥

उपविष्टः—आसनासीनः ।

अरे मूढ, तू पशु है, कौन तुझे चाहती है ? कौन देखती है ? नारी तो मांस और हड्डीसे बनी है, वह न देखती है, न चाहती है, देखना तो अमूर्त पुरुषका कार्य है ॥ १० ॥

प्रतीहारी—आप इधर पधारें ।

(दोनों जाते हैं)

प्रतीहारी—ये महाराज उपस्थित हैं, आप उनके पास चलें ।

वस्तुविचार—(समीप जाकर) जय हो जय हो महाराजकी । यह वस्तुविचार प्रणाम करता है ।

राजा—यहाँ बैठिये ।

वस्तुविचारः—(उपविश्य) देव, एष ते किंकरः संप्राप्तः, आज्ञयानुगृह्यताम् ।

राजा—महामोहेन सहास्माकं संप्रवृत्तः सङ्ग्रामः । तदत्र कामस्तस्य प्रथमो वीरः । तस्य च प्रतिवीरतयास्माभिर्भवान्निरूपितः ।

वस्तुविचारः—धन्योऽस्मि । येन स्वामिनाहमेवं संभावितः ।

राजा—अथ कया शस्त्रविद्यया भवान्कामं जेष्यति ।

वस्तुविचारः—आः पञ्चशरः कुसुमधन्वा कामो जेतव्य इत्यत्रापि शस्त्रग्रहणापेक्षा । पश्य—

किङ्करः–भृत्यः । 'किङ्कुर्यामिति यः पृच्छेत् तमाहुः किङ्करं बुधाः' इति स्मरणात् स्फुटोऽस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः । सम्प्राप्तः–आगतः आज्ञयाऽनुगृह्यताम्–आदेशप्रदानेन कृतार्थ्यताम् ।

अस्माकम्–विवेकादीनाम् । सम्प्रवृत्तः–प्रारब्धः । सङ्ग्रामः–युद्धम् । तस्य महामोहस्य प्रथमो वीरः–मुख्यो योधः । प्रतिवीरतया–प्रतियोधभावेन भवान्–वस्तुविचारः । निरूपितः–निर्वाचितः ।

एवं सम्भावितः–कामेन सह योद्धुं वृतः । योद्धारो हि बलवता रिपुणा सह युद्धावसरलाभमुत्सवं मन्यन्ते, अत एव वस्तुविचारस्येदृगुक्तिः ।

कया शस्त्रविद्यया—केन शस्त्रप्रयोगेण । जेष्यति–अभिभविष्यति ।

पञ्चशरः–पञ्चैव शरा यस्य सः पञ्चशरः । बाणाल्पता जेयतां ध्वनयति । नन्वेकमेव वीर्यवदस्त्रं तस्यापराजेयतां प्रत्याययेत्तत्राह—कुसुमधन्वेति० शस्त्रग्रहणापेक्षा शस्त्रप्रयोगावश्यकता । नास्ति तादृगल्पवीर्यस्य कामस्य जयाय शस्त्रप्रयोगस्यावश्यकता, भयोपायेनैव तज्जयस्य कर्त्तुं शक्यत्वादिति भावः ।

वस्तुविचार—(बैठकर) देव, आपका यह दास उपस्थित है, आज्ञा दकर अनुगृहीत करें ।

राजा—महामोहके साथ हमारा युद्ध छिड़ गया है, उसमें काम उसका मुख्य योद्धा है, उसका प्रतियोद्धा हमने आपको चुना है ।

वस्तुविचार—मैं धन्य हूँ । जिसे स्वामीने इस प्रकार सम्मानित किया है ।

राजा—आप किस शस्त्रविद्यासे कामको जीतेंगे ?

वस्तुविचार—पञ्चशर और पुष्पचाप कामको जीतना है इसमें शस्त्रकी क्या आवश्यकता है ? देखिये—

दृढतरमपिधाय द्वारमारात्कथंचि-
त्स्मरणमपरिवृत्तौ दर्शने योषितां च ।
परिणतिविरसत्वं देहवीभत्सतां वा
प्रतिमुहुरनुचिन्त्योन्मूलयिष्यामि कामम् ॥ ११ ॥

राजा—साधु साधु ।

वस्तुविचारः—अपि च—

विपुलपुलिनाः कल्लोलिन्यो नितान्तपतज्झरी-
मसृणितशिलाः शैलाः सान्द्रद्रुमा वनभूमयः ।
यदि शमगिरो वैयासिक्यो बुधैश्च समागमः
क्व पिशितवसामय्यो नार्यस्तथा क्व च मन्मथः ॥ १२ ॥

दृढतरमिति० आरात् समीपे अविलम्बेनेति तात्पर्यम् योषितां स्त्रीणाम् दर्शने अवलोकने च अपरिवृत्तौ ततोऽपरावर्त्तने तदासक्ताविव्यर्थः द्वारम् मार्गभूतम् स्मरणम् कथञ्चित् केनापि प्रकारेण दृढतरम् अतिदृढभावेन अपिधाय मुद्रयित्वा परिणतिविरसत्वम् सम्भोगान्तकाले वैरस्यावहत्वं वार्द्धके वा तथात्वम्, देहवीभत्साम् नारीदेहस्य मलमूत्राद्याविलत्वं वा प्रतिमुहुः भूयः अनुचिन्त्य भावयित्वा कामम् कामविकारम् उन्मूलयिष्यामि नाशयिष्यामि, अनतिविलम्बेनैवाहं स्त्रीणां दर्शने तदासक्ते च मार्गभूतं स्मरणमतिदृढभावेन पिधास्यामि, तदनन्तरं च परिणामवैरस्यदेहवीभत्सताद्यनुभावनेन कामस्यात्यन्तिकमुच्छेदं विधास्यामीत्यर्थः । अधिबलं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'तोटकस्यान्यथा वाच्यं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ॥ ११ ॥

विपुलपुलिना इति० यदि विपुलपुलिनाः विस्तारितटभूमयः कल्लोलिन्यः नद्यः, नितान्तं बहुलं पतन्तीभिः स्खलन्तीभिः झरीभिः निर्झरैः मसृणिताः स्निग्धतां प्रापिताः शिलाः प्रस्तरखण्डाः येषाम् तादृशाः पतन्निर्झरस्निग्धाः शैलाः पर्वताः, सान्द्रद्रुमाः घनवृक्षमालापरीता वनभूमयः काननभुवः वैयासिक्यः व्यासप्रोक्ताः शमगिरः शान्तिकथाः, बुधैः पण्डितैश्च समागमः मिलनम्, (स्युः) (तदा)

किसी प्रकारसे स्मरणरूप द्वारको दृढ रूपसे मूंद कर स्त्रियोंमें आसक्ति छोड़कर, उनके दर्शनमें प्रतिक्षण उनके सम्भवको परिणतिविरसता तथा देहकी वीभत्सताका विचार करके कामको उन्मूलित कर दूंगा ॥ ११ ॥

राजा—साधु साधु ।

वस्तुविचार—और—यदि चौड़े तटवाली नदियाँ, वर्षाके जलसे चिकनी शिला वाले पर्वत, घना झाड़ोवाले वनस्थल और व्यासकी शान्तिमयी वाणी हैं तो फिर मांसवसामयी स्त्रियां और काम क्या करेंगे ॥ १२ ॥

नारीति नाम प्रधानमस्त्रं कामस्य। तेन तस्यां जितायां तत्सहायाः सर्व एव विफलारम्भा भङ्गमासादयिष्यन्ति। तथाहि—

चन्द्रश्चन्दनमिन्दुधामधवला रात्रिर्द्विरेफावली-
झङ्कारोन्मुखरा विलासविपिनोपान्ता वसन्तोदयः।
मन्द्रध्वानघनोदयाश्च दिवसा मन्दाः कदम्बानिलाः
शृङ्गारप्रमुखाश्च कामसुहृदो नार्यां जितायां जिताः॥ १३॥

तदलमतिविलम्बेन। आदिशतु स्वामी।

पिशितवसामय्यः मांसमज्जप्रचुराः नार्यः स्त्रियः क्व तथा मन्मथश्च क्व? नामुयोः कोऽपि प्रभावः स्यादिति भावः। विपुलपुलिनकल्लोलिनीलाभाद्–विविक्ततया चित्तस्थैर्यम्, निर्झरस्निग्धशिलोपलब्ध्या विचारभूमिप्राप्तिः, सान्द्रद्रुमवनभूमिलाभाज्जीवनौपयिकफलाहरणसंभावना, वैयासिकीनां शमगिरां लाभाच्छ्रवणोत्तरभाविचिन्तनावसरप्राप्तिः, बुधैः समागम इति जायमानशङ्काव्युदासस्तदेवं स्थितौ कामस्य कामिन्या वा प्रभावो न प्रसर्तुमर्हं इति भावः। हरिणीवृत्तम्॥ १२॥

प्रधानम्–मुख्यम्। तस्याम्–नार्याम्। तत्सहायाः–कामस्य पोषकाः। विफलारम्भाः–निष्फलप्रयासाः। भङ्गम्–पराजयम्। आसादयिष्यन्ति–प्राप्स्यन्ति।

चन्द्र इति० चन्द्रः शशी, चन्दनम् आलेपनम्, इन्दुधामधवला रात्रिः चन्द्रकिरणोज्ज्वला निशा, झङ्कारोन्मुखरा झङ्कारपरायणा द्विरेफावली भ्रमरमाला, विलासविपिनोपान्ताः क्रीडाकाननपरिसराः, वसन्तोदयः मधुसमयसमागमः, मन्द्रध्वानघनोदयाः गभीरशब्दयुतमेघश्यामाः दिवसाः, मन्दाः मन्थरचारिणः कदम्बानिलाः कदम्बवनवायवः, शृङ्गारप्रमुखाः शृङ्गारो वेशभूषादिस्तत्प्रधानाः (कामसहायाः) नार्यां स्त्रियाम् जितायां परास्तायाम् जिताः परास्ताः। आलम्बने जिते उद्दीपनानां निरालम्बनतयैव जेयत्वादिति भावः॥ १३॥

अतिविलम्बेन–कालक्षेपेण।

नारी ही कामका प्रधान अस्त्र है। नारीको जीतलें तो सभी उसके सहायक विफल प्रयास होकर हार मानेंगे। क्योंकि—

चन्द्रमा, चन्दन, चांदनी रातें, भ्रमरमुखरित विलासवनका प्रान्त, वसन्तोदय, घनगर्जनयुक्त दिवस, कदम्बाकार वायु, शृङ्गार प्रमुख कामके मित्र नारीको जीतनेसे जीत लिये जाते हैं॥ १३॥

इसलिये अधिक विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। महाराज आज्ञा दें।—

सोऽहं प्रकीर्णैः परितो विचारैः
शरैरिवोन्मथ्य बलं परेषाम् ।
सैन्यं कुरूणामिव सिन्धुराजं
गाण्डीवधन्वेव निहन्मि कामम् ॥ १४ ॥

राजा—(सप्रसादम्) तत्सज्जीभवतु भवाञ्शत्रुविजयाय।

वस्तुविचारः—यदादिशति देवः ।

(इति प्रणम्य निष्क्रान्तः)

राजा—वेत्रवति, क्रोधस्य विजयाय क्षमैवाहूयताम् ।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रम्य क्षमया सह प्रविशति)

क्षमा—

क्रोधान्धकारविकटभ्रुकुटीतरङ्ग-
भीमस्य सान्ध्यकिरणारुणरौद्रदृष्टेः ।

सोऽहमिति० सोऽहम् वस्तुविचारः परितः प्रकीर्णैः वेदशास्त्रपुराणेतिहासादौ व्यस्तभावेन स्थितैः विचारैः परेषाम् कामादिजेतव्यानाम् बलम् सामर्थ्यम् उन्मथ्य विद्राव्य गाण्डीवधन्वा अर्जुनः शरैः बाणैः परेषाम् कौरवाणाम् सैन्यम् (उन्मथ्येव) सिन्धुराजम् इव कामम् निहन्मि । यथाऽर्जुनः प्रतिज्ञातजयद्रथवधः सन् बाणैः शत्रुसैन्यमुन्मथ्य तद्दिने एव तमवधीत्तथैवाहं वस्तुविचारो यत्र तत्र व्यस्तभावेन स्थितैः विचारैः कामस्य सैन्यं विद्राव्य तमद्यैव नाशयामीति भावः ॥ १४ ॥

सज्जीभवतु-सन्नद्धोऽस्तु ।

क्रोधान्धेति० क्रोधरूपो योऽन्धकारस्तेन विकटा भयजननी या भ्रुकुटी भ्रूकौ-

---

शरतुल्य बिखरे हुए विचारोंसे शत्रुसेनाको मथित करके ;कुरुसेनाको मथकर अर्जुनने जैसे जयद्रथको मारा था उसी तरह कामको मारता हूँ ॥ १४ ॥

राजा—(प्रसन्नतासे) आप शत्रुसंहारार्थ तैयार हो जांय ।

वस्तुविचार—महाराजकी जो आज्ञा ।

(प्रणाम कर चला जाता है)

राजा—वेत्रवति, क्रोधकी विजय के लिये क्षमा को ही बुलालाओ ।

वस्तुविचार—महाराजकी जो आज्ञा ।

(जाकर फिर क्षमाके साथ प्रवेश करता है)

क्षमा—दुश्मन क्रोधसे भौहें टेढ़ी करके भयानक चेहरा बनाये हो, उसकी आंखें

निष्कम्पनिर्मलगभीरपयोधिधीरा
वीराः परस्य परिवादगिरः सहन्ते ॥ १५ ॥

(सश्लाघमात्मानं निर्वर्ण्य) अहो, अहम् ।

क्लमो न वाचां शिरसो न शूलं
न चित्ततापो न तनोर्विमर्दः ।
न चापि हिंसादिरनर्थयोगः
श्लाघ्या परं क्रोधजयेऽहमेका ॥ १६ ॥

(इत्युभे परिक्रामतः)

टिल्यम् सैव तरङ्गः तेन भीमस्य भयङ्करस्य सान्ध्यकिरणारुणरौद्रदृष्टेः सायङ्कालिकसूर्यकराभक्रोधरक्तनयनस्य परस्य परिवादगिरः अधिक्षेपवचनानि निष्कम्पनिर्मलगम्भीरपयोधिधीराः शान्तस्वच्छातलसागरवद्धैर्यवन्तः वीराः परापमानसहनक्षमत्वात् वीराः इव सहन्ते क्षमन्ते । क्रोधिनो रक्ताक्षस्य शत्रोरधिक्षेपवचनानि ते वीरा एव सहन्ते ये सागरवद्गभीरा भवन्तीति भावः । उक्तश्चायमेवार्थः प्रकारान्तरेण विष्णुशर्मणा—'न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया' इति ॥ १५ ॥

क्लमो नेति० वाचाम् वाग्व्यापाराणाम् क्लमः ग्लानिः न, शिरसः शूलम् शिरोव्यथा न, चित्ततापः मानसिकः क्लेशः न, तनोर्विमर्दः अङ्गभङ्गः न, हिंसादिः अनर्थयोगः कुकृत्यसंबन्धः अपि न, (एवम्) एका सहायान्तरनिरपेक्षा अहम् क्षमा क्रोधजये क्रोधोपरि विजये परम् अत्यर्थम् श्लाघ्या । अन्यत्र जये तदुद्योगे वाग्व्यापारेण महती ग्लानिर्भवति, शिरो व्यथते, मनस्ताप उपजायते, शरीरमर्दश्च प्रादुरास्ते, हिंसा च कर्त्तव्या भवति, परं श्लाघ्याहं क्षमा यया क्रोधे जितेनैषां दोषाणां स्पर्शोऽपीति भावः ॥ १६ ॥

सायंकालिक सूर्यके सदृश रक्त वर्ण हों, फिर भी उसके क्रोध युक्त वचनोंको निस्तरङ्ग समुद्रकी तरह धीर रहने वाले वीर सहन करते हैं ॥ १५ ॥

(गौरवसे अपनी ओर देखकर) अहो, धन्य हूं मैं ।

न वचनको तकलीफ देनी पड़ती है, न माथा दुखाना पड़ता है, न हृदयको सन्ताप, न देह को कष्ट और न हिंसादि अनर्थसे योग, फिर भी मैं क्रोधपर विजय प्राप्त करनेके कारण श्लाघ्य हूँ ॥ १६ ॥

(दोनोंका प्रस्थान)

प्रतीहारी—एष देवः। तदुपसर्पतु प्रियसखी। (एसो देवो। ता उवसप्पतु पिअसही)

क्षमा—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः। एषा देवस्य दासी क्षमा साष्टाङ्गं प्रणमति।

राजा—क्षमे, अत्रोपविश्यताम्।

क्षमा—(उपविश्य) आज्ञापयतु देवः। किमर्थमाहूतो दासीजनः।

राजा—अस्मिन् सङ्ग्रामे दुरात्मा क्रोधस्त्वया जेतव्यः।

क्षमा—देवस्याज्ञया महामोहमपि जेतुं पर्याप्तास्मि किं पुनः क्रोधं तनुचरमात्रम्। तदहमचिरादेव—

तं पापकारिणमकारणबाधितारं
स्वाध्यायदेवपितृयज्ञतपःक्रियाणाम्।
क्रोधं स्फुलिङ्गमिव दृष्टिभिरुद्वमन्तं
कात्यायनीव महिषं विनिपातयामि ॥ १७ ॥

उपसर्पतु—समीपमुपैतु।

किमर्थम्—केनोद्देश्येन। आहूतः—आकारितः।

देवस्य—भवतः। पर्याप्ता—क्षमा। तदनुचरमात्रम्—केवलं मोहभृत्यम्। अचिरात्—शीघ्रम्।

तं पापेति० पापकारिणम् दुराचारपरायणम् स्वाध्यायदेवपितृयज्ञतपःक्रियाणाम् वेदाध्ययनदेवयज्ञस्वरूपज्योतिष्टोमादिपितृयज्ञरूपश्राद्धादितपस्यानाम् अकारणबाधितारम् अहेतुकविरोधिनम् दृष्टिभिः नयनव्यापारैः स्फुलिङ्गम् अग्निकणम् उद्व-

---

प्रतीहारी—ये महाराज हैं, सखि, उनके पास जाओ।

क्षमा—(समीप जाकर) जय हो, जय हो, महाराज की। श्रीमान् की दासी यह क्षमा साष्टाङ्ग प्रणाम करती है।

राजा—क्षमे, यहाँ बैठो।

क्षमा—(बैठकर) महाराज, आदेश दें, इस दासीको क्यों बुलाया गया है।

राजा—इस युद्धमें दुरात्मा क्रोधको तुम जीतना।

क्षमा—महाराजकी आज्ञासे महामोहको भी जीत सकती हूँ उसके अनुचर क्रोधकी क्या बात ? अतः मैं शीघ्र ही—

अकारण कष्ट देने वाला, पापकारी, स्वाध्याय, देवयज्ञ और पितृयज्ञ आदिके विरोधी,

राजा—क्षमे, शृणुमस्तावत्क्रोधविजयोपायम् ।

क्षमा—देव, विज्ञापयामि ।

क्रुद्धे स्मेरमुखावधीरणमथाविष्टे प्रसादक्रमो
व्याक्रोशे कुशलोक्तिरात्मदुरितोच्छेदोत्सवस्ताडने ।
धिग्जन्तोरजितात्मनोऽस्य महती दैवादुपेता विपद्-
दुर्वारेति दयारसार्द्रमनसः क्रोधस्य कुत्रोदयः ॥ १८ ॥

राजा—साधु साधु ।

मन्तम् प्रकिरन्तम् क्रोधम् कात्यायनी गौरी महिषम् तन्नामकमसुरविशेषम् इव विनिपातयामि मारयामि । यथाऽकारणं वेदाध्ययनं ज्योतिष्टोमादिदेवयज्ञं श्राद्धादिपितृयज्ञं तपस्याचरणञ्च बाधमानं दुराचारं रक्ताक्षं महिषासुरं कात्यायनी हतवती तथाऽहमिमं क्रोधं हन्मीति भावः । उपमाऽलङ्कारेणाकष्टघात्यताध्वनिः ॥ १७ ॥

क्रोधविजयोपायम्—क्रोधस्त्वया केन विधिना जेष्यते तं विधिं शृणुम इत्यर्थना ।

क्रुध इति० क्रुद्धे सामान्यतः कुपिते स्मेरमुखावधीरणम् सहासमुखेन तत्क्रोधावज्ञा अथ आविष्टे समधिकक्रोपसाजिजने प्रसादक्रमः तत्प्रसादनपरिपाटी, व्याक्रोशे गालिप्रदाने कुशलोक्तिः कल्याणकामनाप्रकाशः, ताडने क्रुद्धजनकृते प्रहारे आत्मदुरितोच्छेदोत्सवः मदीयानि पापान्यनेन त्वया कृतेन ताडनेन नष्टानीत्युत्सवप्रदर्शनम्, अस्य क्रोधाश्रयस्य अजितात्मनः अवशेन्द्रियस्य दैवात् भाग्यदोषात् महती दीर्घा दुर्वारा असुखापास्या विपत् उपेता प्राप्ता, धिक् कष्टम्, इति एवं दयारसार्द्रमनसः क्रोधिनं प्रति दयालुहृदयस्य (पुरः) क्रोधस्य उदयः प्रकाशीभावः कुत्र ? न कुत्रापीत्यर्थः । यदि क्रोधान्धं प्रति प्रोक्तप्रकारेण व्यवह्रियते तदा तस्य क्रोधोऽवश्यमेव विलयं गच्छेदिति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

दृष्टिसे स्फुलिङ्ग वर्षण करने वाला, इस क्रोधको कात्यायनी ने जिस प्रकार महिषासुरका वध किया था उसी प्रकार मार भगाती हूँ ॥ १७ ॥

राजा—क्षमे, तुमने क्रोधको जीतनेका क्या उपाय सोचा है, सुनूं तो ।

क्षमा—देव, विज्ञापित करती हूँ ।

क्रोधीके प्रति हंसकर उपेक्षा करना, आवेशवालेके प्रति प्रसन्नता दिखाना, गाली देने वालोंसे कुशल प्रश्न, मारने पर यह समझना कि हमारा पाप कटा, इसतरह दयायुक्त हृदयमें क्रोधका उदय कहाँसे होगा वह तो यही समझा करेगा कि यह प्राणी अजितात्मा है इसे भाग्य ने यह बड़ी-सी विपत्ति दी है ॥ १८ ॥

राजा—साधु साधु ।

क्षमा—देव, क्रोधस्य विजयादेव हिंसापारुष्यमानमात्सर्यादयोऽपि विजिता एव भविष्यन्ति ।

राजा—तत्प्रतिष्ठतां भवति विजयाय ।

क्षमा—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्ता)

राजा—(प्रतीहारीं प्रति) वेदवति, आहूयतां लोभस्य जेता संतोषः ।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रम्य संतोषेण सह प्रविशति)

संतोषः—(विचिन्त्य सानुक्रोशम्)

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी

हिंसा-वधोद्योगः, पारुष्यम्-कठोरता, मानः-दर्पः, मात्सर्यम्-परगुणासहिष्णुता । सर्वेषाममीषां क्रोधमूलतया कारणनाशे कार्यनाशनियमात् क्रोधे जिते तेषामपि जयो जात एवेति भावः ।

फलमिति० प्रतिवनम् सर्वेषु वनेषु अखेदम् विनाऽऽयासम् स्वेच्छालभ्यम् यदृच्छा-प्राप्यम् क्षितिरुहाम् वृक्षाणाम् फलम् (एतेनाहारचिन्तानिरासः) स्थाने स्थाने यत्र तत्र पुण्यसरिताम् पवित्रसरोवराणाम् शिशिरमधुरम् शीतलं मिष्टञ्च पयः जलं (एतेन पेय-जलचिन्तानिवृत्तिः) सुललितलतापल्लवमयी मनोज्ञवल्ली किसलयनिर्मिता मृदुस्पर्शा कोमला शय्या शयनभूमिः (एतेनावासचिन्ताव्युदासः) (एवमाहारस्य पेयस्या-

क्षमा—देव, क्रोधपर विजय पालेनेसे ही हिंसा, पारुष्य, मान, मात्सर्य आदि भी विजित हो जाते हैं ।

राजा—तब आप विजयके लिये प्रस्थान करें ।

क्षमा—जैसी आज्ञा महाराज की ।

(जाती है)

राजा —(प्रतीहारीसे) वेदवति, लोभके विजेता सन्तोषको बुलाओ ।

प्रतीहारी—महाराजकी जैसी आज्ञा ।

(जाकर सन्तोषके साथ पुनः प्रवेश करती है)

सन्तोष—(सोचकर, खेदके साथ) प्रत्येक वनमें वृक्षोंके फल विना यत्नसे मिल जाते हैं, पुण्य नदियोंके मधुर-शीतल जल, प्रत्येक स्थानपर मिलता है । लतापल्लवनिर्मित

सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥ १९ ॥

(आकाशे) अरे मूर्ख, लुब्ध, दुरुच्छेदः खल्वयं भवतो व्यामोहः। तथाहि—

समारम्भा भग्नाः कति कति न वारांस्तव पशो
पिपासोस्तुच्छेऽस्मिन्द्रविणमृगतृष्णार्णवजले।
तथापि प्रत्याशा विरमति न ते मूढ शतधा
विदीर्णं यच्चेतो नियतमशनिग्रावघटितम् ॥ २० ॥

वासस्य च चिन्तायां निवृत्तायामपि) कृपणाः दयनीया इमे वराकाः तदपि तथापि धनिनां द्वारि सन्तापं तत्कृतापमानजन्यपरितापं सहन्ते भुञ्जते। आश्चर्यमिदं यदमी वराका निर्वाहसाधनेऽक्लेशमासाद्यमानेऽपि धनिकद्वारि धनाशया तत्कृतमपमानं सोढुमवतिष्ठन्त इति भावः। शिखरिणीवृत्तम्, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ १९ ॥

मूर्ख—अज्ञान, लुब्ध—लोभग्रस्त, दुरुच्छेदः—छेत्तुमशक्यः, व्यामोहः—भ्रमः।

समारम्भा इति० पशो अज्ञानपराहत अस्मिन् द्रविणमृगतृष्णार्णवजले धनमृगमरीचिकासागरसलिले पिपासोः पातुमिच्छोः तव भ्रान्तस्य समारम्भाः प्रयासाः कति कति वारान् कतिधा न भग्नाः विफलतां गताः, इदं धनमृगतृष्णाजलं तृप्तिसाधनं मत्वा तत्पाने प्रवृत्तस्य भ्रान्तस्य तव प्रयासाः कतिधा न विफलतां गताः ? अनेकेषु प्राग्जन्मसु त्वमिदं मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तिं कामयमानः प्रायस्योऽथापि तव तृप्तिर्नाभूत्तस्य मिथ्यात्वेन तृप्तिकार्याक्षमत्वादित्याशयः। तथाऽपि वैफल्यस्यानेकशोऽनुभूतत्वेऽपि, मूढ—अज्ञानपराहत, ते तव प्रत्याशा प्रचुरद्रव्यावाप्त्यभिलाषः न विरमति न निवर्त्तते, यत् चेतः तव हृदयम् शतधा न विदीर्णम् विशीर्णम् (तत् तव हृदयम्) नियतम् निश्चयेन अशनिग्रावघटितम् वज्रशिलानिर्मितम्। अन्यथैतादृशपुनःपुनर्जायमानप्रवृत्तिव्यासङ्गं प्राप्य न स्थिरं तिष्ठेदित्याशयः। वृत्तमनुपदमेवोक्तम् ॥ २० ॥

सुखद शय्या सर्वत्र सुलभ है, फिर भी कृपणजन धनिकोंके दरवाजे पर सन्ताप सहा करते हैं ॥ १९ ॥

(आकाशमें) अरे मूर्ख लुब्ध, तुम्हारा यह भ्रम दुरुच्छेद्य है, क्योंकि—

धनमृगतृष्णाजलसे प्यास बुझाने की तुम्हारी चेष्टा कितनी वार व्यर्थ हो चुकी है फिर भी तुम्हारी आशा नहीं छूटती। अरे मूढ़, यदि इससे तुम्हारा हृदय नहीं फटा तो निश्चय वह वज्रसे बना है ॥ २० ॥

इदं च ते लोभान्धस्य चेष्टितं चेतसि चमत्कारमातनोति । यतः—

लभ्यं लब्धमिदं च लभ्यमधिकं तन्मूललभ्यं ततो
लब्धं चापरमित्यनारतमहो लब्धं धनं ध्यायसि ।
नैतद्वेत्सि पुनर्भवन्तमचिरादाशापिशाची बला-
त्सर्वग्रासमियं ग्रसिष्यति महालोभान्धकारावृतम् ॥२१॥

अपि च—

धनं तावल्लब्धं कथमपि तवाध्यस्य नियते
व्यये वा नाशे वा तव सति वियोगोऽस्त्युभयथा ।
अनुत्पादः श्रेयान्किमु कथत पथ्योऽथ विलयो

लोभान्धस्य—लुब्धस्य । चेष्टितम्—व्यापारः । चेतसि—मम चित्ते । चमत्कारमातनोति—आश्चर्यं जनयति ।

लभ्यमिति॰ लब्धं लभ्यम् प्राप्यमधिगतम्, इदञ्च अधिकं तत्कुसीदरूपम् लभ्यम्, तस्मिं कुसीदे लब्धे तन्मूललभ्यं तन्मूलधनं कृत्वा ततः प्राप्यं कुसीदान्तरमपरं लब्धम्, इति एवं प्रकारेण अनारतं सततं धनं ध्यायसि चिन्तयसि । अहो आश्चर्यमिदम् । एतत् वक्ष्यमाणम् पुनः न वेत्सि न जानासि यत् इयम् आशा पिशाची धनप्राप्त्याशारूपा राक्षसी महालोभान्धकारावृतम् सातिशयलोभतमश्छन्नम् भवन्तम् बलात् बलपूर्वकम् अचिरात् शीघ्रम् सर्वग्रासं ग्रसिष्यति निःशेषं कवलयिष्यति । त्वं तु धनस्यार्जने प्रकारभेदं चिन्तयँस्तथा लोभान्धतमसावृतोऽसि यथा भाविनमात्मनो नाशं न विभावयसि, तदतिमन्दोऽसीति भावः ॥ २१ ॥

धनमिति॰ धनं तावत् कथमपि केनाप्युपायेन लब्धम् प्राप्तम्, तथापि अस्य धनस्य नियते अवश्यभाविनि व्यये उपयोगजनिते क्षये नाशेऽपहारादिकृते वाऽपगमे सति जायमाने उभयथा प्रकारद्वयेन तव अर्जयितुः तेन धनेन वियोगः पृथग्भावः अस्ति । प्राप्तस्य धनस्य द्वयीगतिर्व्ययो नाशो वा, तत्रोभयथाऽपि तेन सह भवतो वियोगो भवेदेवेत्यर्थः । (तत्र पृच्छ्यसे) कथय अभिधेहि (अर्थस्य) किम् अनुत्पादः अलाभः श्रेयान् श्रेष्ठः अथवा विलयः नाशः पथ्यः हितः, (धनस्य नाशानु-

तुम लोभान्ध हो तुम्हारा यह व्यापार हृदयसे चमत्कार पैदा करता है । क्योंकि—

यह धन पा लिया, यह पाना है, इससे अधिक मूललभ्य है, अनन्तर यह मिला, इस लब्ध धनका ध्यान किया करते हो । यह नहीं समझते कि तुमको आशापिशाची बलपूर्वक ग्रस लेगी क्योंकि तुम लोभान्धकारसे घिरे हुए हो ॥ २१ ॥

और—यदि धन किसीतरह पालिया तो उसका व्यय अथवा नाश निश्चित है, उभयथा उससे तुमको बिछुड़ना है । इस दशामें धनका नहीं पैदा करना ही अच्छा है । विनाश

विनाशो लब्धस्य व्यथयतितरां न त्वनुदयः ॥ २२ ॥

किञ्च—

मृत्युर्नृत्यति मूर्ध्नि शश्वदुरगी घोरा जरारूपिणी
त्वामेषा ग्रसते परिग्रहमयैर्गृध्रैर्जगद्ग्रस्यते ।
धूत्वा बोधजलैरबोधबहुलं तल्लोभजन्यं रजः
संतोषामृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नः सुखं जीवति ॥२३॥

प्रतीहारी—एष स्वामी । तदुपसर्पतु महाभागः । (एसो सामी । ता उवसप्पतु महाभाओ)

(तथा कृत्वा)

संतोषः—जयतु जयतु स्वामी । एष संतोषः प्रणमति ।

त्पादयोः कस्य श्रेष्ठतेति ब्रूहि) (परमार्थे तु विचार्यमाणे धनस्यानुत्पाद एव श्रेयान् यतः) लब्धस्य विनाशः व्ययः व्यथयति क्लेशयति अनुदयोऽर्थस्यानधिगमस्तु न, तेन वृथा तदर्जनचिन्तयाऽऽत्मपातनमसम्भवी धनवियोगनिरोध इति तात्पर्यम् ॥२२॥

मृत्युरिति० शश्वत् सततम् मूर्ध्नि मस्तके मृत्युः मरणम् नृत्यति आयुरनियतमिति सदैव मृत्युभयमस्त्येवेत्यर्थः । एषा जरारूपिणी वार्धक्यस्वरूपा घोरा भयङ्करी उरगी सर्पिणी त्वां ग्रसते गिलति, प्रतिदिनं वार्धक्यसर्पिण्या मुखं पदात्पदमुपसर्पसीत्याशयः । परिग्रहमयैः दानप्रचुरैः स्त्रीपुत्रादिरूपैः गृध्रैः लोभशालित्वसाम्याद् गृध्रोपमैः जगद् ग्रस्यते भक्ष्यते । (तदेवं स्थितौ) तत् तस्मात् बोधजलैः ज्ञानवारिभिः अबोधबहुलम् अज्ञानविजृम्भितम् लोभजन्यम् लोभोद्भवम् रजः मालिन्यम् धूत्वा अपसार्य सन्तोषामृतसागराम्भसि सन्तोषसुधासिन्धुवारिणि मनाक् सकृत् मग्नः सुखं जीवति । मृत्योरपरिहार्यतया जरायाः क्रमशः सन्निधानेन पुत्रादिद्वारकधनापहारप्रभवक्लेशसंभावनया च ज्ञानी लोभं विधूय सन्तोषमालम्बेत, तदेव वरं यत्र नास्ति किमपि भयमिति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

नहीं, क्योंकि नहीं होना उतना कष्टकर नहीं जितना कि विनाश है ॥ २२ ॥

और—मौतरूपी नागिन सिरपर नाच रही है, भयानक जरा तुम्हें ग्रस्त कर रही है, गृध्रतुल्य पुत्र कलत्र आदि संसारको ग्रस्त कर रहे हैं । ऐसी स्थितिमें ज्ञान जलसे अज्ञानमय लोभ रजको धोकर संतोषरूप अमृतके समुद्रमें डुबकी लगाओ, सुखसे जियो ॥ २३ ॥

प्रतिहारी—ये महाराज हैं, समीप चलें ।

(समीप जाकर)

सन्तोष—जय हो जय हो महाराज की । यह सन्तोष प्रणाम करता है ।

राजा—इहोपविश्यताम् । (इति स्वसंनिधावुपवेशयति)

संतोषः—(सविनयमुपविश्य) एष प्रेष्यजनः । आज्ञाप्यतां देवेन ।

राजा—विदितप्रभाव एव भवान् । तदलमत्र विलम्बेन । लोभं जेतुं वाराणसीं प्रतिष्ठीयताम् ।

संतोषः—यदाज्ञापयति देवः । सोऽहम्—

नानामुखं विजयिनं जगतां त्रयाणां
देवद्विजातिवधबन्धनलब्धवृत्तिम् ।
रक्षोधिनाथमिव दाशरथिः प्रसह्य
निर्जित्य लोभमवशं तरसा पिनष्मि ॥ २४ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

एष प्रेष्यजनः—दासोऽयमुपस्थितः इत्यर्थः । आज्ञाप्यताम्–आदिश्यताम् । कर्तव्यमिति शेषः, देवेन–भवता ।

विदितप्रभावः—अवगतपराक्रमः । अलमत्र विलम्बेन–कालक्षेपो वृथा । वाराणसी–काशी । अत्र वाराणसीमिति द्वितीया प्रतिशब्दमेकमध्याहृत्योपपाद्या ।

नानामुखमिति० नानामुखम् बहुविषयम् पक्षे दशवदनम् त्रयाणाम् जागताम् विजयिनम् पराक्रमेण दमयितारम् (इदं पक्षद्वयेऽपि समानम्) देवाः अमराः द्विजातयो विप्राश्च तेषाम् वधे मारणे बन्धने संयमने च लब्धवृत्तिम् लोभो देवान् विप्रांश्चापि स्वप्रवणीकरणद्वारा वधे बन्धने च योजयति रावणस्तु राक्षसत्वे तेषां वधबन्धनेऽकरोत् । दाशरथिः राम इव अहं सन्तोषः अवशम् किमपि कर्त्तुमप्रभवन्तं रक्षोऽधिनाथं रावणमिव लोभं प्रसह्य बलपूर्वकं तरसा वेगेन निर्जित्य पराजित्य पिनष्मि चूर्णयामि । उपमयाऽनया यथा सगोत्रस्य रावणस्य वधः कृतो दाशरथिना तथा सानुबन्धस्य लोभस्य पराजयः सन्तोषेण करिष्यत इति ध्वन्यते ॥ २४ ॥

राजा—यहां बैठो । (अपने समीप बैठाता है)

सन्तोष—(नम्रतापूर्वक बैठकर) यह दास उपस्थित है, श्रीमान् आज्ञा दें ।

राजा—आपके प्रभावको मैं जानता हूँ । देर करना व्यर्थ है । लोभको जीतनेके लिये आप वाराणसी जांय ।

सन्तोष—महाराजकी जो आज्ञा । मैं—

नानामुख (दशमुख–बहुप्रकारक) त्रिलोकविजयी, देव–द्विजके वधबन्धन आदि व्यापार वाला इस लोभको–रामने रावणको जैसे जीता–वैसे जीतकर पीस दूंगा ॥ २४ ॥

(जाता है)

(ततः प्रविशति विनीतवेषः पुरुषः)

पुरुषः—देव, संभृतानि विजयप्रयाणमङ्गलानि । प्रत्यासन्नश्च मौहूर्तिकावेदितः प्रस्थानसमयः ।

राजा—यद्येवं सेनाप्रस्थानायादिश्यन्तां सेनापतयः ।

पुरुषः—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये)

भोः भोः सैनिकाः,

सज्ज्यन्तां कुम्भभित्तिच्युतमदमदिरामत्तभृङ्गाः करीन्द्रा
युज्यन्तां स्यन्दनेषु प्रसभजितमरुच्चण्डवेगास्तुरङ्गाः ।
कुन्तैर्नीलोत्पलानां वनमिव ककुभामन्तराले सृजन्तः

संभृतानि–प्रस्तुतानि । विजयप्रयाणमङ्गलानि–विजययात्रावसरे सन्निधापनीयानि दधिमत्स्यादिशुभवस्तूनि । प्रत्यासन्नः–समीपमायातः । मौहूर्त्तिकावेदितः–दैवज्ञकथितः । प्रस्थानसमयः–यात्राकालः ।

एवम्–भवदुक्तं यदि सत्यम् तदा । सेनाप्रस्थानाय–बलचलनाय । सेनापतयः–चमूपतयः ।

सज्ज्यन्तामिति० कुम्भा भित्तय इव कुम्भभित्तयस्ताभ्यश्च्युता ये मदाः दानवारीणि तेषां मदिरा मादकता तयामत्ता उन्मादिता भृङ्गा आलयः यैस्तादृशाः करीन्द्राः सज्ज्यन्ताम् कुथादिपरिधापनभक्तिचित्रणादिविन्यासेन भूष्यन्ताम्, स्यन्दनेषु रथेषु प्रसभं जितः मरुतः वायोश्चण्डवेगः प्रकृष्टो जवो यैस्तादृशा जितवायुवेगाः तुरङ्गाः अश्वाः युज्यन्ताम् यथाविधि बध्यन्ताम्, कुन्तैस्तीक्ष्णाग्रलौहास्त्रविशेषैः ककुभाम्

(नम्रवेशमें पुरुषका प्रवेश)

पुरुष—देव, विजययात्राके सभी मङ्गल कर लिये गये, ज्योतिषी द्वारा कथित प्रस्थान समय समीप आगया ।

राजा—यदि यह बात है तो सेनाकोपस्थापित करने के लिये सेनापतियोंको आदेश दिया जाय ।

पुरुष—महाराजकी जो आज्ञा । (जाता है)

(नेपथ्य में)

अरे ओ सैनिको, कुम्भस्थलसे च्युतमदिरा द्वारा मत्त बनाया है भ्रमरों को जिसने ऐसे मस्त हाथी सजाये जांय, वेगसे हवाको मात देने वाले घोड़े रथमें जोते जांय, भालारूप नील कमल-वन दिगन्तरालमें फैलाकर हाथमें तलवार लिये असवार पैदल

पादाताः संचरन्तु प्रसभमसिलसत्पाणयोऽप्यश्ववाराः ॥२५॥

राजा—भवतु । कृतमङ्गलाः प्रतिष्ठामहे । (पारिपार्श्वकं प्रति) सारथिरादिश्यतां साङ्ग्रामिकं रथं सज्जीकृत्यानयेति ।

पारिपार्श्वकः—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति यथोक्तं रथमादाय सारथिः)

सारथिः—जीव, सज्जीकृतोऽयं रथः । तदारोहत्वायुष्मान् ।

राजा—(कृतमङ्गलविधिरारोहणं नाटयति)

सारथिः—(रथवेगं निरूपयित्वा) आयुष्मन् , पश्य पश्य ।

उद्धूतपांसुपटलानुमितप्रबन्ध-
धावत्खुराग्रचयचुम्बितभूमिभागाः ।

'दिशाम् अन्तराले मध्ये नीलोत्पलानाम् इन्दीवराणाम् वनम् सृजन्त इव तीक्ष्णकुन्तोच्छ्रयणेन दिगन्तरालं नीलकमलव्याप्तमिव दर्शयन्तः पादाताः पदातिबलानि सञ्चरन्तु प्रतिष्ठन्ताम् , असिलसत्पाणयः करवालभूषितहस्ताः अश्ववाराः ह्यारूढाः सैनिका अपि प्रसभम् झटिति सञ्चरन्तु इति अन्वयः । तदेवं चतुरङ्गासेना विजयप्रयाणं करोत्वित्याशयः । स्रग्धरावृत्तम्—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धराकीर्त्तितेयम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ २५ ॥

कृतमङ्गलाः—विहितप्रास्थानिकमङ्गलकृत्याः । प्रतिष्ठामहे—चलामः । सारथिः—रथवाहकः । साङ्ग्रामिकम्—युद्धोपयुक्तम् । सज्जीकृत्य—यथावदावश्यकास्त्रादिना प्रसाध्य । सज्जीकृतः—युक्तरथः कृतः । आरोहतु—रथोपर्युपविशतु 'आयुष्मान्' 'रथीसूतेन चायुष्मान् पूज्यः शिष्यात्मजानुजैः' इति नाटकनियमाद्राजानं प्रत्याह ।

उद्धूतपांसुपटलेति० उद्धूतपांसुपटलेन उत्क्षिप्तधूलीवितानेन अनुमिताः ज्ञान-

---

प्रस्थान करें ॥ २५ ॥

राजा—अस्तु, मङ्गल अनुष्ठान करके यात्रा करें । (पार्श्ववर्त्ती अनुचरके प्रति) सारथिसे कहो कि जंगीरथ सजाकर लावे ।

पारिपार्श्वक—महाराजकी जो आज्ञा । (जाता है)

(यथोक्त रथ लेकर सारथिका प्रवेश)

सारथि—जीव, रथ तैयार है, आप आरूढ़ हों ।

राजा—(मङ्गलविधि करके चढ़नेका अभिनय करता है)

सारथि—(रथके वेगका ध्यान करके) आयुष्मान् , देखिये, देखिये—

ये घोड़े रथको आकाशमें ढोरहे हैं, इनकी हेषा मथ्यमान समुद्रकी ध्वनि-का अनु-

निर्मथ्यमानजलधिध्वनिघोरहेष-
मेते रथं गगनसीम्नि वहन्ति वाहाः ॥ २६ ॥

इयं च नातिदूरे दर्शनपथमवतीर्णा त्रिभुवनपावनी वाराणसी नाम नगरी ।

अमी धारायन्त्रस्खलितजलझङ्कारमुखरा
विभाव्यन्ते भूयः शशिकररुचः सौधशिखराः ।
विचित्रा यत्रोच्चैः शरदमलमेघान्तविलस-
त्तडिल्लेखालक्ष्मीं वितरति पताकावलिरियम् ॥ २७ ॥

विषयीकृताः प्रबन्धेन अविच्छेदेन धावन्तः चलन्तः खुराग्रचयाः खुरशीर्षभागसमुदयास्तैश्चुम्बितः स्पृष्टो भूमिभागः यैस्ते तथोक्ताः एते वाहाः अश्वाः निर्मथ्यमानजलधिध्वनिघोरहेषम् मन्थनक्रियाऽऽलोड्यमानसमुद्रशब्दतुमुलशब्दम् यथा स्यात्तथा गगनसीम्नि अन्तरिक्षे रथं वहति । धूलि उत्पतति येनाश्वानां खुरचयाः प्रत्यक्षगोचरतामनायासन्तोऽनुमेया एव भवन्ति, सततधावनाद्धरास्पर्शश्च कदाचिदेव जायते, रणोत्काश्चाश्वास्तुमुलं शब्दं कुर्वते यः शब्दो मथ्यमानस्य सागरस्य निर्घोषमनुहरति, एवंभूता रथ्या आकाशदेश एव रथं कर्षन्तीति भावः । वेगवत्ता ध्वनिरत्र वेगवर्णने कालिदासोऽप्येवमाह—'वियति वहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति' । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २६ ॥

नातिदूरे समीपे । दर्शनपथमवतीर्णा—दृष्टौ समायाता । त्रिभुवनपाविनी—लोकत्रयपवित्रताकरी ।

अमी इति० धारायन्त्रेभ्यः कृत्रिमजलप्रपातयन्त्रेभ्यस्स्खलितानां वेगवत् पततां जलानां झङ्कारेण शब्देन मुखराः सशब्दाः, शशिकररुचः चन्द्रकिरणवद्धवलकान्तयः सौधशिखराः प्रासादशृङ्गाणि भूयः पुनः पुनः विभाव्यन्ते दृश्यन्ते । यत्र सौधशिखरेषु इयम् प्रत्यक्षीभवन्ती विचित्रा नानावर्णा पताकावलिः ध्वजपङ्क्तिः उच्चैः सातिशयभावेन शरदि तदाख्यऋतौ अमलाः स्वच्छा ये मेघा वारिदास्तेषामन्तर्मध्ये

करण करती है, धूल उड़ रही है उसमें चरणकी आशुगमिताका अनुमान करना पड़ता है, इन घोड़ोंके चरण अग्रभाग–मात्रसे पृथ्वीको छूते है ॥ २६ ॥

यह समीपमें ही दीख रही है भु नपावनी वाराणसी नामकी नगरी ।

फव्वारेसे निर्गत जलसे झंकृत तथा चन्द्रकरधवल सौधशिखर दीख रहे हैं, जिनपर लहराती हुई विचित्र पताकाएं शरत्कालिक स्वच्छ मेघमें चमकती हुई विद्युल्लताकी शोभा धारण करती हैं ॥ २७ ॥

एताश्च प्रतिमुकुलं लग्नमधुपावलीरणितमुखरा जृम्भारम्भभरविगलन्म-करन्दबिन्दुदुर्दिनाः कुसुमसुरभयो नातिदूरे श्यामायमानघनच्छदच्छाया-तरवो नगरपर्यन्तोद्यानभूमयः। यत्रैते मरुतोऽपि गृहीतपाशुपतव्रता धूलि-मुद्धूलयन्तस्तापसा इव लक्ष्यन्ते। तथाहि—

तोयार्द्राः सुरसरितः सिताः परागै-
रर्चन्तश्च्युतकुसुमैरिवेन्दुमौलिम्।

विलसन्ती शोभमाना या तडित् विद्युल्लता तस्या लेखा रेखा तस्या लक्ष्मीं शोभां वितरति विस्तारयति। एषां धारायन्त्रजलप्रपातमुखराणां शशिज्योत्स्नाभास्वराणां प्रासादानां शिखरेषु लसन्ती नानावर्णा पताकाराजिः शारदविमलघनमालाऽन्तर्वर्त्तिविद्युच्छविं प्रकाशयतीत्यर्थः। शारदघनसादृश्ये न प्रासादानां निर्मलतातिशयः, विद्युत्तुलनया पताकानां चलता, तया च प्रासादानामुच्चता, धारायन्त्रजलपातेन भवनानां मुखरतया तत्र श्रीसमृद्धिरित्यादयोऽर्था व्यज्यन्ते। शिखरिणीवृत्तम्, लक्षणमुक्तपूर्वम् ॥ २७ ॥

एताश्चेति० प्रतिमुकुलं प्रत्येकत्र कोशे लग्ना या मधुपावलिः भ्रमरपरम्परा तस्याः रणितेन शब्देन मुखराः सशब्दाः, (इदमेकं नगरपर्यन्तोद्यानभूमिविशेषणम्) जृम्भायाः विकासस्य आरम्भः आद्या क्रिया तस्य भरः समुदयः सर्वतो विकास-प्रारम्भस्तस्मात् (पुष्पेभ्यः) विगलन् पतन् यः मकरन्दः पुष्परसः तस्य बिन्दवः पृषताः तैः दुर्दिनं वृष्टिर्यासु तादृश्यः पुष्पविकासप्रारम्भे ततः स्रवन्मकरन्दवृष्टिमत्य इत्यर्थः। कुसुमसुरभयः—सुगन्धिपुष्पाः, नातिदूरे—समीपे, श्यामायमानाः कृष्णवर्णाः घनच्छदाः सान्द्रपत्राः छायातरवः छायाप्रधानवृक्षा यत्र तादृश्यः। नगरपर्यन्तोद्यानभूमयः—पुरीपरिसरारामभुवः। मरुतः—वायवः गृहीतपाशुपतव्रताः—आलम्बिता-शैवभावाः। धूलिमुद्धूलयन्तः—रजः प्रसारयन्तः। तापसाः—तपोरताः। वायवो धूलिमुत्पातयन्ति मन्ये ते पशुपतिभक्तिभरेणेव विभूतिं स्वतनौ लिम्पन्ति, तेनैव पाशुपतव्रतग्रहीतृत्वमुत्प्रेक्षितम् ॥

तोयार्द्रा इति० वायूनां गृहीतपाशुपतत्वप्रयुक्तं तापसत्वमुत्प्रेक्षितमनुपदपातिना

यह है नगर परिसरवर्त्ती उद्यान, जिनकी प्रत्येक कली पर भौंरे गुञ्जार करते हैं, विकासके साथ मकरन्द वृष्टि हो रही है, कुसुमकी सुगन्ध फैल रही है, काले मेघकी तरह छाया-युत वृक्ष हैं। जहाँ पर वायु भी पाशुपत व्रत लेकर धूलिधूसर हो रही है, मानों तापस हो। क्योंकि—

गङ्गाजलसे स्नान कर परागरूप विभूति लपेट कर वृक्षच्युत कुसुमोंसे शिवार्चन-सा

प्रोद्गीतां मधुपरुतैः स्तुतिं पठन्तो
नृत्यन्ति प्रचललताभुजैः समीराः ॥ २८ ॥

राजा—(सानन्दमालोक्य)

सैषान्तर्दधती तमोविघटनादानन्दमात्मप्रभं
चेतः कर्षति चन्द्रचूडवसतिर्विद्येव मुक्तेः पदम् ।
भूमेः कण्ठविलम्बिनीव कुटिला मुक्तावलिर्जाह्नवी
यत्रैवं हसतीव फेनपटलैर्वक्रां कलामैन्दवीम् ॥ २९ ॥

बाह्यखण्डेन, सम्प्रति तदेव विशद्यते, तोयार्द्राः जलकणवाहिनः, एतेन शैत्यं सिद्धम्, ध्वन्यते च तपस्विजनोचितं गङ्गास्नानम्, परागैः पुष्पधूलिभिः सिताः धवलाः, एतेन सुगन्धवत्ता, चन्दनचर्चितवपुष्ट्वं च । च्युतकुसुमैः वृक्षादधःपातिभिः पुष्पैः इन्दुमौलिम् शिवम् अर्चन्तः आराधयन्त इव, एतेन पुष्पोद्यानाध्वसंचरणकृतं हृद्यत्वम्, कृतशिवपूजनत्वञ्च मधुपरुतैः भ्रमरशब्दैः प्रोद्गीताम् स्फुटोच्चारिताम् स्तुतिम् शिवस्तोत्रम् पठन्तः, एतेन भ्रमरशब्दवत्तयोद्वेजकता कृतहरस्तोत्रपाठत्वञ्च सुरसरितः समीराः गङ्गावायवः प्रचललताभुजैः चञ्चलवल्लीबाहुभिः नृत्यन्तीव । शिवभक्ता हि स्नातानुलिप्ताः कृतहरपूजाः स्तोत्राणि पठित्वा तदनुकृत्या तदाराधनाय नृत्यन्तीति कृत्वा महति तापसे सर्वमारोपितम् ॥ प्रहर्षिणीवृत्तम्—'म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ २८ ॥

सैषेति० विद्या आत्मज्ञानम् इव अन्तस्तमोविघटनात् अज्ञानविनाशात् आत्मप्रभम् स्वप्रकाशम् आनन्दम् प्रमोदम् दधती वर्धयन्ती मुक्तेः मोक्षस्य पदम् कारणम् सा प्रसिद्धा एषा इयम् चन्द्रचूडवसतिः शिवपुरी चेतः हृदयं कर्षति आकर्षति, इयं शिवपुरी अज्ञानं विनाश्य मोक्षप्रदतया विद्यासादृश्यं भजन्ती हृदयमाकर्षतीति भावः । एवं किञ्च यत्र शिवपुर्याम् भूमेः धरित्र्याः कण्ठविलम्बिनी गले लम्बमाना कुटिला वक्रा मुक्तावलिः मुक्तामाला इव जाह्नवी गङ्गा फेनपटलैः फेनसमुदयैः वक्राम् अपूर्णतयाऽसरलाम् ऐन्दवीम् चान्द्रमसीम् कलां लेखाम् हसतीव । यत्र

करती हुई, भ्रमरध्वनिरूप स्तुतिपाठ करनेवाली वायु लतारूप भुजोंसे नाचती रही है ॥२८॥

राजा—(सानन्द देखकर)

अज्ञानको दूर कर आत्मानन्दको अभ्यन्तरमें जगाती हुई वाराणसी नामक यह शिवनगरी विद्याकी तरह मुक्ति प्रदान करती है, यहाँ की कुटिल गङ्गाधारा पृथ्वीके गलेकी मुक्तामाला सदृश प्रतीत होती है और वह गङ्गा फेनसे वक्रचन्द्रकलाका उपहास-सा करती है ॥ २९ ॥

सूतः—(परिक्रम्य) आयुष्मन्, पश्य पश्य। तदिदं सुरसरित्परिसरालंकारभूतं भगवतः पावनमनादेरादिकेशवस्य विष्णोरायतनम्।

राजा—(सहर्षम्) अरे,

एष देवः पुराविद्भिः क्षेत्रस्यात्मेति गीयते।
अत्र देहं समुत्सृज्य पुण्यभाजो विशन्ति यम्॥ ३०॥

सूतः—आयुष्मन्, पश्य पश्य। एते तावत्कामक्रोधलोभादयोऽस्मद्दर्शनमात्रादितो देशाद्दूरमतिक्रामन्ति।

वाराणस्यां प्रवहन्ती गङ्गा भूमेर्मुक्तावलिरिव भासमाना स्वफेनैः चान्द्रीं कलां हसती वेत्युत्प्रेक्षा। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, लक्षणं प्रागुक्तम्॥ २९॥

सुरसरित्परिसरालङ्कारभूतम्—गङ्गातीरालङ्कारायमाणम्। पावनम्—पवित्रताकरम्। भगवतः—सर्वसामर्थ्यशालिनः। आदिकेशवनाम्ना प्रथितस्य विष्णोरायतनम्—स्थानम्। इदमेकभागेऽवस्थितं विष्णुमन्दिरमतिप्रसिद्धं स्थानं यद्विषये स्मर्यते—'लोलार्ककेशवौ कोटी गङ्गाज्या नगरं धनुः। कलिर्लक्ष्यः शरो धर्मः शिवो धन्वी पुनातु माम्' इति।

एष देव इति० एष देवः आदिकेशवः पुराविद्भिः प्राग्भवकथातत्त्वज्ञैः क्षेत्रस्य काशीधाम्नः आत्मा सारभूतः गीयते सादरमुद्घोष्यते, यम् आदिकेशवम् विष्णुम् अत्र वाराणस्यां देहं समुत्सृत्य मृत्वा पुण्यभाजः पुण्यकर्माणो योगिनो विशन्ति तदात्मतां प्रतिपद्यन्ते। इदमेव तत्तीर्थं यत्र मृतानां विष्णुप्राप्तिः सुलभा भवतीति तात्पर्यम्। यथोक्तं काशीखण्डे—'आदौ पादोदके तीर्थे विद्धि मामादिकेशवम्। अग्निबिन्दोर्महाप्राज्ञ भक्तानां मुक्तिदायकम्॥ अविमुक्तेऽमृतक्षेत्रे येऽर्चयन्त्यादिकेशवम्। तेऽमृतत्वं भजन्त्येवं सर्वदुःखविवर्जिताः'। इति॥ ३०॥

अस्मद्दर्शनमात्रात्—केवलादस्माकं विलोकनात्। दूरमतिक्रामन्ति—विप्रकृष्टे देशे पलायन्ते। एवमेतत्—त्वदुक्तं सत्यमित्यर्थः। स्वाभीष्टसिद्धये—निजाभिमतलाभार्थम्।

सूत—(चलकर) आयुष्मन्, देखिये देखिये, गङ्गाके तटका अलङ्कारभूत यह भगवान् आदिकेशवका पवित्र मन्दिर है।

राजा—(हर्षसे) अरे—

पुराने लोग इन्हींको इस क्षेत्र (देह) की आत्मा कहते हैं, यहाँ शरीरत्याग करनेवाले पुण्यात्मा जिस आत्मामें लीन हुआ करते हैं॥ ३०॥

सूत—आयुष्मन्, देखिये देखिये, ये काम-क्रोध-लोभ आदि हमारे दर्शनमात्रसे इस देशसे दूर भागे जा रहे हैं।

राजा—एवमेतत्। तद्भवतु। स्वाभीष्टसिद्धये भगवन्तं नमस्यामः। (रथादवतीर्य प्रविश्यावलोक्य च) जय जय भगवन्, अमरचयचक्रचूडामणिश्रेणिनीराजितोपान्तपादद्वयाम्भोज, राजन्नखद्योतखद्योतकिर्मीरितस्वर्णपीठस्फुरद्द्वैतविभ्रान्तिसंतानसंतप्तवन्दारुसंसारनिद्रापहारैकदक्ष, क्षमामण्डलोद्धारसंभारसंघट्टदंष्ट्राग्रकोटिस्फुरच्छैलचक्र, क्रमाक्रान्तलोकत्रय, प्रबलभुजबलोद्धृतगोवर्धनच्छत्रनिवारिताखण्डलोद्योजिताकाण्डचण्डा-

अमरचयचक्रम्—देवसमूहः, तस्य चूडामणिश्रेणी—मस्तकालङ्कारपरम्परा, तया नीराजितोपान्तम् कृताराराचिकम् पादद्वयाम्भोजम् कमलरूपचरणयुगलम् यस्य तस्य सम्बुद्धौ अम्भोजान्तमेकं पदम्। देवगणा यस्य पादद्वयरूपमम्भोजं प्रणमन्ति तैस्तथाऽऽचर्यमाणे तन्मस्तकालङ्कारभूतमणिगणप्रभया भगवच्चरणकमलप्रान्तो नीराजित इव भवतीति कृत्वेयमुत्प्रेक्षा। राजन्तः शोभमानाः ये नखाः कररुहाः तेषां द्योताः प्रकाशा एव खद्योतास्तैःकिर्मीरितं चित्रीकृतम् स्वर्णपीठम् स्वर्णमयमासनं यस्य तादृश, इदं पीठान्तमेकं पृथक् सम्बोधनपदम्। स्फुरन्ती चिरानुवर्त्तमाना या द्वैतविभ्रान्तिः भ्रमरूपं द्वैतज्ञानं तस्य सन्तानेन परम्परया सन्तप्तानाम् पीडितानां वन्दारूणाम् स्तुतिकराणां संसारनिद्रा संसारस्वरूपोऽबोधस्तस्या अपहारे विनाशने एकदक्ष सहायकान्तरनिरपेक्षभावेन समर्थ, दक्षान्तमपरं सम्बोधनम्, तस्य द्वैतभ्रान्तिपरम्परापतितजनानां स्तुतिपराणां संसारवासना निवर्त्तनपटो इत्यर्थः फलति। एतेन बुद्धस्य भगवतः स्तुतिः कृता क्षमा पृथिवी तस्या मण्डलं वलयस्तस्य उद्धारसंभारे सलिलादुद्धरणप्रयासे यः सङ्घट्टः स्पर्शः तत्र दंष्ट्राग्रकोटौ दन्ताग्रभागे स्फुरन्ति प्रकाशमानानि शैलचक्राणि यस्य तादृश, एतेन वराहावतारः स्तुतः, स हि धरामण्डलं जले प्रलयकालिके मग्नमुद्धृतवान्, तथाकुर्वतस्तस्य दंष्ट्राग्रभागे शैला अभासन्तेत्याशयः। उक्तश्चायमर्थः प्रकारान्तरेण गीतगोविन्दे—'लसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना, शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना' इति। क्रमेण पादविन्यासेन आक्रान्तम् लोकत्रयं येन तादृश, इयं वामनस्तुतिः

राजा—यही बात है। अस्तु, अपने अभीष्ट वस्तुकी सिद्धिके लिये भगवान्को प्रणाम करलें। (रथसे उतरकर प्रवेश करके तथा देखकर) जय जय भगवन्, देवगणकी चूड़ामणि-श्रेणीसे नीराजित पादकमलयुगलवाले, शोभमान नखकी द्युतिसे चित्रवर्ण स्वर्णपीठ, द्वैत-विभ्रमसे सन्तप्त तथा प्रणत देवगणकी संसार-वासनाको दूर करनेमें निपुण, पृथ्वीमण्डलके उद्धारप्रयासमें दन्ताग्रशोभित शैल, चरणन्याससे लोकत्रयको आक्रान्त कर लेने वाले, प्रबल भुजसे गोवर्धन उठाकर उसी गोवर्धनको छत्र बनाकर इन्द्रद्वारा आयोजित घोर वृष्टिसे त्रस्त

म्बुवाहातिवर्षत्रसद्गोकुलत्राणविस्मापिताशेषविश्व, प्रभो, विबुधरिपुवधूवर्गसीमन्तसिन्दूरसन्ध्यामयूखच्छटोन्मार्जनोद्दामधामाधिप, त्रस्तदैत्येन्द्रवक्षस्तटीपाटनाकुण्ठभास्वन्नखश्रेणिपाणिद्वयस्रस्तविस्तारिरक्तार्णवामग्नलोकत्रय, त्रिभुवनरिपुकैटभोद्दण्डकण्ठास्थिकूटस्फुटोन्मार्जितोद्दामचक्रस्फुरज्ज्यो-

स्पष्टा। प्रबलेन भुजबलेन बाहुपराक्रमेण उद्धृतः उत्थापितो यः गोवर्द्धनस्तदाख्यो गिरिः स एव छत्रम् (वर्षनिवारकत्वेन छत्रत्वारोपः) तेन निवारितः निरुद्धः आखण्डलोद्योजितः इन्द्रकृतः अकाण्डे अकाले चण्डाम्बुवाहातिवर्षः प्रचण्डमेघकृता भीषणावृष्टिः, ततः त्रसतः भयाकुलस्य गोकुलस्य त्राणेन रक्षया विस्मापितम् आश्चर्यं गमितम् अशेषविश्वम् समस्तसंसारो येन तादृश, इदं विश्वान्तसेकमपरं सम्बोधनं यत्र कृष्णावतारस्तुतिः। पुरा कुपित इन्द्रः संवर्त्तकादिमेघान्प्रबलवृष्टये समादिश्य व्रजमुत्पीडयितुं प्रवृत्तस्तदा गोकुलमुत्थाप्य छत्रमिव कृत्वा गोकुलं कृष्णोऽरक्षदिति कथैवात्र स्तुतौ निबद्धा बोध्या। विबुधा देवास्तेषां रिपवः शत्रवो राक्षसास्तेषां वधूवर्गस्य स्त्रीसमूहस्य सीमन्तसिन्दूरम् सालवर्त्तिनी सिन्दूररेखा पतिसनाथताचिह्नभूता सैव सन्ध्यामयूखच्छटा सायं किरणप्रभासमा, तस्या उन्मार्जने प्रोञ्छने उद्दामस्य दृप्तस्य धाम्नः तेजसोऽधिप स्वामिन्, येन राक्षसान् व्यापाद्य तद्वधूसिन्दूरमार्जना कृता तादृश, इति रामस्तुतिः, त्रस्तः भीतो यो दैत्येन्द्रः हिरण्यकशिपुस्तस्य वक्षस्तट्याः उरोदेशस्य पाटने विदारणे अकुण्ठा अप्रतिहता या भास्वन्नखश्रेणिः प्रभामयनखरराजिः तद्युक्तं यत्पाणिद्वयं तेन स्रस्तम् प्रवाहितं यद् विस्तारिप्रसरणशीलं रक्तम् तस्यार्णवे समुद्रे आमग्नं त्रुडितं लोकत्रयं येन तादृश, इयं नृसिंहस्तुतिः। नृसिंहो हि भक्तवत्सलतया हिरण्यकशिपोरुरो विदार्य तच्छोणितं प्रवाहयामास, तदेवात्रोत्प्रेक्षितं बोध्यम्। त्रिभुवनरिपोः त्रिलोकीशत्रोः कैटभस्य तदाख्यस्य यदुद्दण्डकण्टास्थिकूटम् भयङ्करकण्ठास्थिसङ्घातः तत्र स्फुटोन्मार्जितम् प्रकटप्रहृतम् यदुद्दामचक्रम् अतितीक्ष्णं चक्रास्त्रम् ततः स्फुरता ज्योतिषा तेजसा उल्लासितं प्रकाशितमुद्दामं भीषणं दोर्दण्डं बाहुद्वयं यस्य तादृश, इयं कैट-

गोकुलका त्राण करके लोकको विस्मयमें डालने वाले, प्रभो, दानवललनावर्गके भाल स्थलमें जो सिन्दूररूप सन्ध्या उसे दूर करनेमें सूर्यरूप, भीत हिरण्यकशिपुकी छातीको चीरनेमें नहीं रुकने वाले चमकदार नखवाले पाणिद्वयसे चूनेवाले रक्तप्रवाहमें लोकत्रयको डुबा देने वाले, त्रिभुवनवैरी कैटभके उद्दण्डकण्ठरूप अस्थिकूट पर तीक्ष्णधार किया गया जो उद्दाम चक्र उसकी ज्योतिसे जिसके बाहु चलक उठे, एतादृश, चन्द्रशेखरके प्रीतिपात्र, समर्थ

तिरुल्लासितोद्दामदोर्दण्डखण्डेन्दुचूडप्रिय, प्रौढदोर्दण्डविभ्रान्तमन्थाचलक्षुब्धदुग्धाम्बुधिप्रोत्थितश्रीभुजवल्लीसंश्लेषसंक्रान्तपीनस्तनाभोगपत्रावलीलाञ्छितोरस्थल, स्थूलमुक्ताफलोदारहारप्रभामण्डलस्फुरत्कण्ठ, वैकुण्ठ, भक्तस्य लोकस्य संसारमोहच्छिदं देहि बोधोदयं देव तुभ्यं नमः।

(निर्गमनं नाटयित्वा विलोक्य च) साधुरयमेवास्माकं निवासोचितो देशः। तदत्रैव स्कन्धावारं निवेशयामः। (इति निष्क्रान्तौ)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके
विवेकोद्योगो नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥



भारेः स्तुतिः। प्रौढाभ्यां बलातिशयशालिभ्यां दोर्दण्डाभ्यां बाहुदण्डाभ्यां विभ्रान्तः चालितो यो मन्थाचलः समुद्रमन्थने मथानभावेनोपयुज्यमानः पर्वतस्तेन क्षुब्धाव आलोडितात् दुग्धाम्बुधेः क्षीरसागरात् प्रोत्थिता निःसृता या श्रीः लक्ष्मीः तस्याः भुजवल्ली बाहुलता तया संश्लेषः आलिङ्गनं तेन संक्रान्ता या पीनस्तनाभोगपत्रावली स्थूलकुचविस्तारचिन्हावली तया लाञ्छितं युक्तमुरःस्थलं वक्षोदेशो यस्य तादृश, इदं सामान्येन विष्णुसम्बोधनम्। स्थूलम् बृहत् मुक्ताफलम् मुक्ता तत्कृतो य उदारः दीर्घः हारस्तस्य प्रभामण्डलेन कान्त्या स्फुरन् भासमानः कण्ठो यस्य तादृश, मुक्तामालादीपितकण्ठेत्यर्थः। संसारमोहच्छिदं–भववासनानिवर्त्तकम्। बोधोदयम्–ज्ञानप्रकाशम्। स्कन्धावारम्–कटकम्। निवेशयामः–स्थापयामः।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते प्रबोधचन्द्रोदय'प्रकाशे'
चतुर्थाङ्क–'प्रकाशः'



बाहुदण्ड द्वारा घुमाया गया जो मन्थाचल उससे सञ्चालित दुग्ध–समुद्रसे उठी लक्ष्मीके आलिङ्गनसे उसके स्तनों में बनी पत्रावलीसे युक्त है वक्षःप्रदेश जिसका, एतादृश, जिसके गर्दनमें बड़ी बड़ी मुक्तामालायें अपनी प्रभा फैला रही हैं एतादृश, वैकुण्ठ, भक्तजनके संसारमोहको दूर करने वाले बोधोदयको प्रकट करें, देव, आपको नमस्कार है।

(निकलनेका अभिनय करके और देखकर) यही हमलोगोंके रहने लायक देश है। यहीं पर सेनाका पडाव डालते हैं। (दोनोंका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धाः—(विचिन्त्य) प्रसिद्धः खल्वयं पन्थाः । यतः—

निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः ।
वनमिव घनपवनाहततरुवरसंघट्टसंभवो दहनः ॥ १ ॥

(सास्रम्) अहो दुर्वारो दारुणः सोदरव्यसनजन्मा शोकानलः, यो विवेकजलधरशतैरपि न मन्दीक्रियते । तथाहि—

प्रसिद्धः–ख्यातः । पन्थाः–मार्गः ।

निर्दहतीति० ज्ञातीनाम् सगोत्रबन्धूनाम् वैरसम्भवः विरोधजनितः क्रोधः कोपः कुलविशेषम् किमपि गोत्रम् घनपवनेन प्रचण्डवायुना आहतानाम् आन्दोलितानाम् तरुवराणाम् वृक्षाणाम् सङ्घट्टेन सङ्घर्षेण सम्भवो जन्म यस्य तादृशः दहनः पावकः वनमिव निर्दहति अशेषं विनाशयति यथा प्रचण्डपवनान्दोलिततरुशाखान्तनिघर्षजन्मावह्निरखिलं वनं दहति तद्वद्बन्धुविरोधभवोऽपि क्रोधोऽशेषं कुलं दहतीत्यर्थः । उक्तमन्यत्र यथा—'अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः' इति । बन्धुविरोधस्य भयावहत्वमुक्तं महाभारते यथा—'धूमायन्ते व्यपेतानि संहतानि ज्वलन्ति च उल्मुकानीव दृश्यन्ते ज्ञातयो भरतर्षभ' । आर्याभेदो वृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' इति ॥ १ ॥

दुर्वारः–कठिननिरोधः । दारुणः–भयङ्करः । सोदरव्यसनजन्मा–बन्धुविनाशप्रभवः । शोकानलः–दुःखपावकः । विवेकजलधरशतैः–अनेकैर्ज्ञानजलदैः । अन्यो वह्निरेकेनापि मेघेनामूलं विनाश्यतेऽयन्तु शोकपावकः शतशो हृदयमारोपितैरपि भूरिभिरपि ज्ञानमेघैर्मन्दीभावमपि न लम्भ्यते इति दारुणत्वमस्येतरवह्न्यतिशायीति भावः । मन्दीक्रियते–लघूक्रियते ।

(श्रद्धाका प्रवेश)

श्रद्धा—(सोचकर) यह मार्ग तो प्रशस्य ही है, क्योंकि—

ज्ञातियोंमें वैरसे उत्पन्न क्रोध समस्त कुलका संहार कर देता है जैसे जोरकी हवासे चलित वृक्षशाखा संघर्षजन्मा अनल सम्पूर्ण वनको जला डालता है ॥ १ ॥

(रोकर) सोदरकी मृत्युसे उत्पन्न शोकानल अतिदारुण होता है, जिसे सौ विवेक मेघ भी नहीं शान्त कर पाते हैं ।

ध्रुवं ध्वंसो भावी जलनिधिमहीशैलसरिता-
मतो मृत्योः शीर्यत्तृणलघुषु का जन्तुषु कथा।
तथाप्युच्चैर्बन्धुव्यसनजनितः कोऽपि विषमो
विवेकप्रोन्माथी दहति हृदयं शोककदहनः॥ २॥

येन तथा कुलप्रकृतिष्वपि, भ्रातृषु कामक्रोधादिषु कथाशेषतांगतेषु।

निकृन्ततीव मर्माणि देहं शोषयतीव मे।
दहतीवान्तरात्मानं क्रूरः शोकाग्निरुच्छिखः॥ ३॥

ध्रुवमिति० जलनिधयः सागराः, मही पृथिवी, शैलाः पर्वताः, सरितः नद्यः—एषाम् ध्वंसः आत्यन्तिकविनाशः ध्रुवं निश्चयेन भावी भविष्यति, अतः अस्मात् शीर्यत्तृणलघुषु त्रुटयत्तृणतुच्छेषु जन्तुषु साधारणप्राणि मृत्योः का कथा? मरण-विषये को विचारः? निश्चित एव हि प्राणिनां मृत्युस्तेषामतितुच्छत्वात् यदि सागरमहीशैलसरितोऽपि हि नाशभाजस्तदेषां तुच्छानां प्राणिनां मृत्योः का कथेति। तथा चानुमानप्रयोगः—भूधरादिकं कार्यम् सावयवत्वात्, यद्यच्च साव-यवं कार्यं तत्तद्विनाशीति'। अनुगृहीतश्चायमनुमानप्रयोगो भगवद्वाक्येनापि—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति। तथापि एतादृशशास्त्रयुक्तिपरि-ज्ञानेऽपि विवेकप्रोन्माथी ज्ञानभ्रंशकरः विषमः अतिसन्तापकः कोऽपि अनिर्वर्ण-नीयस्वरूपः उच्चैः भयङ्करः बन्धुव्यसनजनितः ज्ञातिविनाशजन्मा शोकदहनः दुःखपावकः हृदयम् चित्तं दहति बलवद्व्यथयति। यद्यपि शास्त्रयुक्तिभिः संसार-स्यानित्यत्वमास्थीयते तथापि ज्ञानं तिरयन्बन्धुवियोगवह्निर्हृदयमतितरां तापयती-त्याशयः। शिखरिणीवृत्तम्, लक्षणं प्रागुक्तम्॥ २॥

कुलप्रकृतिषु—वंशपरम्पराप्रवर्त्तकेषु कथाशेषतांगतेषु—स्मरणीयतां प्राप्तेषु मृते-ष्वित्यर्थः।

निकृन्ततीवेति० क्रूरः अत्यर्थंतापकतया कठोरः उच्छिखः समुत्थितज्वालः शोकाग्निः बन्धुवधजन्यखेदपावकः मे मम मर्मणि हृदयदेशान् निकृन्तति छिनत्ति इव, देहं कायं शोषयति सन्तापेन कदर्थयति इव, अन्तरात्मानम् दहति ज्वलयति इव,

सागर, पृथ्वी, शैल और सरितका नाश अवश्यंभावी है, फिर मौतके डरसे सिहरने वाले तृष्णतुल्य इन जन्तुओं की क्या बात है? फिर भी प्रियबन्धुके व्यसनोंसे पैदा होने वाला विवेकापहारी विषम शोकवह्नि हृदयको झुलसा देता है॥ २॥

जिससे कुलतन्तुप्रवर्त्तक भाई कामक्रोध आदिके मरनेसे—

क्रूर तथा दहकती हुई यह शोकवह्नि मर्मको चीर रही है-देहको शुष्क कर रही है और अन्तरात्माको जला-सी रही है॥ ३॥

(विचिन्त्य) आदिष्टास्मि देव्या विष्णुभक्त्या। वत्से श्रद्धे, अहमत्र हिंसाप्रायसमरदर्शनपराङ्मुखी। तेन वाराणसीमुत्सृज्य शालिग्रामाभिधाने भगवतः क्षेत्रे कंचित्कालमतिपालयामि। त्वं तु यथावृत्तमागत्य मे निवेदयिष्यसीति। तदहं देव्याः सकाशं गत्वा सर्वमेतत्समरवृत्तान्तमावेदयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एतच्चक्रतीर्थम्। यत्रासौ संसारसागरोत्तारतरणिकर्णधारो भगवान् हरिः स्वयं प्रतिवसति। (प्रणम्य) इयं च महामुनिभिरुपास्यमाना भगवती विष्णुभक्तिः शान्त्या सह किमपि मन्त्रयते। यावदुपसर्पामि। (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति विष्णुभक्तिः शान्तिश्च)

शान्तिः—देवि, प्रबलचिन्ताकुलहृदयामिव भवतीमालोकयामि।

बन्धुवधजन्मशोकाग्निर्ममान्तःकरणं छिन्दन् कायं क्लिश्नन् अन्तरात्मानञ्च दहन्निव प्रवर्धत इत्यर्थः॥ ३॥

हिंसाप्रायसमरदर्शनपराङ्मुखी—हिंसामययुद्धावलोकनविमुखी। तेन—वैमुख्येन अतिपालयामि—गमयामि। वृत्तम्—समाचारः। समरवृत्तान्तम्—युद्धसमाचारम्। आवेदयामि—सूचयामि। संसार एव सागरः समुद्रस्तत उत्तारः पारगमनं तत्र या तरणिः नौः तस्याः कर्णधारः नाविकः। यः संसारसागरादुद्धारकः, यमाश्रित्य जनो भवभयादुद्धारमवाप्नोतीति तात्पर्यम्। महामुनिभिः—महर्षिभिः, उपास्यमाना—सेव्यमाना। मन्त्रयते—विचारयति।

प्रबलचिन्ताकुलहृदयाम्—महत्या चिन्तया व्याकुलमनसम्।

(सोचकर) देवी विष्णुभक्तिने आदेश दिया है—वत्से श्रद्धे, मैं हिंसाप्रधान युद्ध नहीं देख सकती। अतः वाराणसी छोड़कर शालग्राम नामक क्षेत्रमें कुछ दिन प्रतीक्षा करूंगी। तुम आकर यथावृत्त समाचार मुझे बताती रहना। और मैं देवीके समीप जाकर सारा युद्ध वृत्तान्त बताऊंगी। (चलकर और देखकर) यही तो है चक्रतीर्थ। जहाँ संसारसागरसे पार उतारने वाले स्वयं भगवान् हरि निवास करते हैं। (प्रणाम करके) ये हैं महामुनियोंसे आराधित भगवती विष्णुभक्ति जो शान्तिके साथ कुछ बातें कर रही हैं, जब तक समीप जाता हूँ। (समीप जाती है)

(विष्णु भक्ति और शान्तिका प्रवेश)

शान्ति—देवि, आपको प्रबल चिन्तासे युक्त हृदय देख रही हूँ।

विष्णुभक्तिः—वत्से, एतस्मिन् वीरवरक्षये महति संपराये जाते न जाने बलवता महामोहेनाभियुक्तस्य वत्सविवेकस्य कीदृशो वृत्तान्त इति दुःस्थितमिव मे हृदयम् ।

शान्तिः—किमत्र विचिन्त्यते । ननु भगवती चेत्कृतानुग्रहा तन्नियतमेव राज्ञो विवेकस्य विजय इति जानामि ।

विष्णुभक्तिः—वत्से,

यद्यप्यभ्युदयः प्रायः प्रमाणादवधार्यते ।
कामं तथापि सुहृदामनिष्टाशङ्कि मानसम् ॥ ४ ॥

विशेषतश्च श्रद्धायाश्चिरगमनागमनं मनसि संदेहमारोपयति ।

श्रद्धाः—(उपसृत्य) भगवति, प्रणमामि ।

वीरवरक्षये-योधप्रधानविनाशकारणे । सम्पराये-युद्धे । अभियुक्तस्य-युद्धोद्यतस्य । दुःस्थितम्-व्यग्रम् । कृतानुग्रहा-प्रसन्ना । नियतम्-निश्चितम् ।

यद्यपीति० यद्यपि यद्यपि प्रमाणात् प्रमापकसाधनसमूहात् विजयः प्रायः सम्भवतः अवधार्यते अनुमीयते, प्रायः, तथापि विजयस्य संभावनाविषयत्वेऽपि सुहृदाम् युध्यमानजनमित्राणाम् मानसम् हृदयम् अनिष्टाशङ्कि अहितसम्भावनापरम् 'स्नेहः पापमाशङ्कते' इति न्यायेन सत्यापि जयसम्भावनया हृदये पदं नाधीयते इत्यर्थः । प्रमाणसिद्धमन्यद्वस्तु, हृदयं तु पापमेव धावति, तस्य तद्विषये सातिशयस्नेहवत्त्वात् । तदहं तद्विजये सन्दिहानहृदया जाये इति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

विशेषतः-प्रधानभावेन । यदि विवेकस्य विजयः प्रारप्स्यत नूनं श्रद्धाऽऽगत्य मह्यं तं समाचारमसूचयिष्यन्न चागता सा, तदहं सन्देहं वहामीति प्रसङ्गार्थः ।

विष्णुभक्ति—वत्से, वीरक्षयकर इस युद्धमें बलवान् महामोहसे अभियुक्त वत्स विवेकका क्या समाचार होगा ? इसीसे हमारा हृदय विकल है ।

शान्ति—इसमें चिन्ताकी क्या बात है ? जब आपकी कृपा है तो मैं जानती हूँ कि निश्चय राजा विवेककी जीत होगी ।

विष्णुभक्ति—वत्से, यद्यपि प्रमाणसे अभ्युदय प्रमापित होता है तथापि हितैषियोंका हृदय अनिष्टकी आशङ्का ही किया करता है ॥ ४ ॥

खास करके चिन्ताका कारण यह हो रहा है कि बहुत दिनोंसे श्रद्धा नहीं आई है ।

श्रद्धा—(समीप जाकर) भगवति, प्रणाम करती हूँ ।

विष्णुभक्तिः—श्रद्धे, स्वागतम् ।

श्रद्धा—देव्याः प्रसादेन ।

शान्तिः—अम्ब, प्रणमामि ।

श्रद्धा—पुत्रि, मां परिष्वजस्व ।

शान्तिः—(तथा करोति)

श्रद्धा—वत्से, देव्या विष्णुभक्तेः प्रसादान्मुनिजनचेतःपदं प्राप्नुहि ।

विष्णुभक्तिः—अथ तत्र किं वृत्तम् ?

श्रद्धा—यद् देव्याः प्रतिकूलमाचरतामुचितम् ।

विष्णुभक्तिः—तद्विस्तरेणावेदय ।

श्रद्धा—आकर्णयतु भवती । देव्यामादिकेशवायतनादपक्रान्तायामेव किंचिदुत्सृष्टपाटलिम्नि भगवति भास्वति, विजयघोषणाहूयमानेकवरवीर-बहुलतरसिंहनादबधिरितदिगन्ते सततरथतुरङ्गखुरखण्डितभूमण्डलोच्छ-

---

परिष्वजस्व-आलिङ्ग ।

प्रसादात्-अनुग्रहात् । मुनिजनचेतःपदम्-मुनिजनानां हृदये स्थानम् ।

तत्र-विवेकमोहयोर्युद्धे ।

प्रतिकूलम्-विरुद्धम् । उचितम्-योग्यम् ।

आकर्णयतु-शृणोतु । आदिकेशवायतनात् केशवाख्यविष्णुमन्दिरात् । अपक्रान्ता-याम्-प्रचलितायाम् । उत्सृष्टपाटलिम्नि-त्यक्तलौहित्ये, रक्तिमानं जहतीत्यर्थः ।

विष्णुभक्ति—श्रद्धे, तुम्हारा स्वागत है ।

श्रद्धा—देवीके प्रसादसे ।

शान्ति—मां, प्रणाम करती हूँ ।

श्रद्धा—बेटी, मेरे गले लग जा ।

शान्ति—(वैसा करती है)

श्रद्धा—वत्से, देवी विष्णुभक्तिके प्रसादसे मुनिजनके हृदयमें स्थान प्राप्त करो ।

विष्णुभक्ति—और वहाँका क्या समाचार है ?

श्रद्धा—देवीके विरुद्ध आचरण करने वालोंके लिये जो उचित है ।

विष्णुभक्ति—तो विस्तारसे बताओ ।

श्रद्धा—आप सुनें, आपके केशवायतनसे हटते ही सूरजकी लालिमाके कुछ कम होने पर विजय घोषणासे आहूत अनेक वीरवर बार बार सिंहनाद करके दिशाओंको

लद्विपुलरजःपटलान्तरितकिरणमालिनि प्रबलतरकर्णतालास्फालनोच्छल-त्समदकरिकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानदशदिशि प्रलयजलधरध्वानभीषणे तेषास्माकं संनद्धे सैन्यसागरे महाराजमहामोहस्य महाराजेन नैयायिक-दर्शनं दौत्येन प्रहितम्। गत्वा च तेनोक्तो महामोहः।

विष्णोरायतनान्यपास्य सरितां कूलान्यरण्यस्थलीः
पुण्याः पुण्यकृतां मनांसि च भवान्म्लेच्छान्व्रजेत्सानुगः।

भास्वति–सूर्ये। विजयघोषणया–जयशब्देन आहूयमानाः–युद्धार्थमाकार्यमाणा येऽनेके वरवीराः शूरश्रेष्ठास्तेषां वहुलतरेण सिंहनादेन युद्धोत्साहप्रभवघनगर्जितेन बधिरितः शब्दान्तरग्रहणायोग्यतां गमितो दिगन्तो यत्र तस्मिन्, जातायां जयघोषणायां तयैव वीरा आहूयन्ते, तेषां सिंहनादाश्च शब्दान्तराणि स्वशब्दैरन्तरयितुं यदा आरम्भं कृतवन्तस्तदेत्यर्थः। सन्ततम् सर्वदा रथतुरगाणाम् रथाश्वानाम् खुरैः खण्डितात् कुट्टितात् भूमण्डलात् धरावलयात् उच्छलताम् उपरिगच्छतां रजसां धूलीनां पटलेन समूहेन अन्तरितः तिरोभूतः किरणमाली सूर्यः यत्र तस्मिन्, तुरगखुरोत्खातमहीसमुत्थरजोभरेण सूर्य आच्छन्नतां गत इत्यर्थः। प्रबलतरं सम्भ्रमपूर्वकं कर्णतालास्फालनं कर्णचालनं तेन उच्छलता समुत्पतता समदकरिकुम्भसिन्दूरेण मत्तकरीन्द्रमस्तकवर्त्तिसिन्दूररजसा सन्ध्यायमाना दश दिशो यत्र तस्मिन्। प्रलयजलधरध्वानभीषणे–प्रलयकालिकमेघवद्भयङ्करे। सन्नद्धे–युद्धोद्यते। सैन्यसागरे–सैनिकसमुद्रे। दौत्येन–दूतभावेन। प्रहितं–प्रेषितम्। तेन–न्यायदर्शनेन।

विष्णोरिति० भवान् मोहः विष्णोः आयतानि मन्दिरादिस्थानानि सरिताम् नदीनाम कूलानि तटानि, पुण्याः पवित्राः अरण्यस्थलीः वनभूमीः पुण्यकृतां धर्मात्मनां मनांसि च अपास्य त्यक्त्वा सानुगः कामक्रोधाद्यनुगामियुक्तः म्लेच्छान् म्लेच्छ-

---

शब्दग्रहणासमर्थ बनाने लगे, संतत चारों रथमें लगे हुए घोड़ों के खुर पड़नेसे भूमण्डलके धूली समुहसे सूरज छिप गये, प्रबलतर कर्णतालके आस्फालनसे उड़ते हुए मत्तगजकुम्भके सिन्दूरसे दश दिशामें सन्ध्या होने लगी, प्रलय मेघकी तरह भयङ्कर युद्धारम्भ उनके साथ हमलोगोंका हुआ, तब हमारे महाराजने महामोहके पास नैयायिक दर्शनको दूत बनाकर भेजा। जाकर उसने महामोहसे कहा—

भगवान्के मन्दिर, जलाशयके तट, पुण्य कानन, तथा पुण्यात्माओंके हृदयको छोड़ आप म्लेच्छदेशमें अपने अनुगामियोंको साथ लेकर चले जाइये, अन्यथा तलवारकी

नो चेत्सन्तु कृपाणदारितभवत्प्रत्यङ्गधाराक्षर-
द्रक्तस्फीतविदीर्णवक्त्रविवराः फेत्कारिणः फेरवाः ॥ ५ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, विकटललाटतटताण्डवितभ्रुकुटिना क्रुद्धेन महामोहेनाभिहितम् । अनुभवत्वस्य दुर्नयपरिपाकस्य विवेकहतकः फलमित्यभिधाय स्वयं पाखण्डागमाः पाखण्डतर्कशस्त्रैः समं समराय प्रथमं समुद्योजिताः । अत्रान्तरेऽस्माकमपि सैन्यशिरसि—

वेदोपवेदाङ्गपुराणधर्मशास्त्रेतिहासादिभिरुच्छ्रितश्रीः ।

देशान् व्रजेत् गच्छतु । नो चेत् न यदि गच्छति तदा फेत्कारिणः फेत्कारशब्दकृतः फेरवाः श्रृगालाः कृपाणेन विवेकादेः खड्गेन दारितं द्विधाभावं गमितं यत्प्रत्यङ्गं सर्वाङ्गम् ततः धारया धाराऽऽकारेण निर्गच्छत् बहिरागच्छत् यद्रक्तं शोणितं तेन तल्लोभेन विदीर्णाः व्यात्ता वक्त्रविवराः आस्यदेशा येषां तादृशाः सन्तु । विष्णुमन्दिरसरित्कूलवनभूमिसज्जनहृदयानि विहाय मोहो भवान् म्लेच्छाध्युषितदेशमासाद्य प्राणान् रक्षतु, एतदाज्ञाऽवमाने भवताकृते भवतः प्रत्यङ्गं खड्गेन छिन्नं भविष्यति, ततो निर्गच्छतः शोणितस्य पाने च धृतलोभाः फेत्कारशब्दकराः श्रृङ्गालव्यात्तवदनाः सन्तः समन्ततोऽत्र प्रचरिष्यन्ति, तदनयोर्वर्त्मनोर्येनेष्टं तेन गम्यताम् इत्यर्थः ॥ शार्दूलविक्रिडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

विकटललाटतटताण्डवितभ्रुकुटिना—क्रोधोदयवशात् विकटे भयङ्करे ललाटतटे भालप्रदेशे ताण्डविता नर्त्तिता भ्रुकुटिः वक्रा भ्रूर्येन तेन । अनुभवतु—प्राप्नोतु । अस्य—वर्त्तमानस्य । दुर्विनयपरिपाकस्य—अविनयस्य, औद्धत्यस्येति यावत् । पाखण्डागमाः—नास्तिकशास्त्राणि । पाखण्डतर्कशस्त्रैः—नास्तिकमतयुक्तिरूपैरस्त्रैः । समराय—युद्धाय । समुद्योजिताः—सन्नद्धा । कृताः । सैन्यशिरसि—सेनाऽग्रभागे ।

वेदोपवेदाङ्गेति० वेदाः ऋग्यजुःसामाथर्वाणः, उपवेदाः—आयुर्वेदधनुर्वेदगान्ध-

---

धारसे कटी आपकी देहसे बहने वाले रक्तके लिये फेरवगण मुंह बाकर फेत्कार करते हुए दौड़ेंगे ॥ ५ ॥

विष्णुभक्ति—इसके बाद ?

श्रद्धा—देवि, उसके बाद भयङ्कर ललाटतटमें भौंहें नचाकर क्रुद्ध महामोहने कहा । इस अविनयका फल विवेक भोगे, ऐसा कहकर स्वयं पाखण्डागमोंको पाखण्डतर्कशास्त्रोंके साथ युद्धके लिये नियोजित किया । इसी बीच हमारी सेनामें—

वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र तथा इतिहास आदिसे शोभित पद्मधारिणी चन्द्र-

सरस्वती पद्मधरा शशाङ्कसंकाशकान्तिः सहसाविरासीत् ॥ ६ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, वैष्णवशैवसौरादयो देव्याः सकाशमागताः ।

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—तदनन्तरं च—

साङ्ख्यन्यायकणादभाषितमहाभाष्यादिशास्त्रैर्वृता
स्फूर्जन्न्यायसहस्रबाहुनिकरैरुद्द्योतयन्ती दिशः ।
मीमांसा समरोत्सुकाविरभवद्धर्मेन्दुकान्तानना

र्थशास्त्रनामानश्चत्वारः, अङ्गानि शिक्षाकल्पनिरुक्तव्याकरणज्यौतिषच्छन्दांसि षट्, पुराणानि ब्रह्मवैवर्त्तादीनि अष्टादश, धर्मशास्त्राणि मानवधर्मशास्त्रादीनि, इतिहासाः भारतादयः, तदादिभिः तत्प्रभृतिः उच्छ्रितश्रीः समृद्धसौभाग्या पद्मधरा कमलालङ्कृतपाणिः शशाङ्कसङ्काशकान्तिः चन्द्रसदृशदीप्तिः सरस्वती वाग्देवी सहसा हठात् आविरासीत् प्रकटीभावमापत् । एवं युद्धे प्रवृत्तकल्पे तत्तदुपाङ्गाङ्गोपबृंहितवेदपुराणेतिहासादिभिर्दीप्यमाना वाणी तत्राविर्भूतेत्यर्थः ॥ ६ ॥

वैष्णवाः विष्णुभक्ताः, सौराः सूर्योपासकाः, तन्मतान्येव वा सकाशम्—समीपम् ।

साङ्ख्यन्यायेति० साङ्ख्यम् कापिलदर्शनम्, न्यायोऽक्षपादमतम्, कणादभाषितम् वैशेषिकशास्त्रम्, महाभाष्यं शब्दब्रह्मव्युत्पादकं व्याकरणशास्त्रम्, तदादिभिः तत्प्रभृतिभिः शास्त्रैः वृता युक्ता, स्फूर्जन्तः पञ्चाङ्गसमन्वितत्वेन भासमानाः न्यायाः अधिकरणान्येव सहस्रबाहुनिकराः सहस्रसंख्यका भुजा इव तैः स्वावयवभूतसहस्रसङ्ख्यकैरधिकरणैः दिशः उद्द्योतयन्ती प्रकाशयन्ती, समरोत्सुका विचाररूपयुद्धोत्सुका, धर्मेन्दुकान्तानना धर्म एवेन्दुस्तद्वत्कान्तं कमनीयमाननं यस्या तादृशी, त्रयी त्रिनयना वेदत्रयरूपनेत्रत्रययुक्ता, मीमांसा विचारशास्त्रम् वाग्देव्याः सरस्वत्याः

तुल्यकान्ति सरस्वती सहसा प्रकट हुई ॥ ६ ॥

विष्णुभक्ति—उसके बाद ।

श्रद्धा—देवि, उसके बाद वैष्णव, शैव, सौर आदि शास्त्र देवीके पास आये ।

विष्णुभक्ति—उसके बाद ।

श्रद्धा—तदनन्तर—

सरस्वतीके आगे सांख्य, न्याय, कणाद तथा महाभाष्य आदि शास्त्रोंसे युक्त मीमांसाके हजार हाथरूप किरणोंसे दिशाओंको प्रकाशमय करती हुई, समरोत्सुका और धर्मरूप

वाग्देव्याः पुरस्त्रयीत्रिनयना कात्यायनीवापरा ॥ ७ ॥

शान्तिः—अये, कथं पुनः स्वभावप्रतिद्वन्द्विनामागमानां तर्काणां च समवायः संपन्नः।

श्रद्धा—पुत्रि,

समानान्वयजातानां परस्परविरोधिनाम्।
परैः प्रत्यभिभूतानां प्रसूते संगतिः श्रियम् ॥ ८ ॥

पुरतः अग्रे अपरा कात्यायनी इव द्वितीया गौरीव आविरासीत् प्रकटीबभूव। कात्यायन्यपि त्रिनयना इन्दुकान्तानना समरोत्सुका सहस्रबाहुशालिनी चेति दुर्गा सप्तशती। यदा सरस्वती योद्धुं समनह्यत्तदा तत्पुरतो मीमांसा कात्यायनीव, प्रादुरासीदित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ७ ॥

स्वभावप्रतिद्वन्द्विनाम्–स्वारसिकविरोधिनाम्। आगमा अपि स्वभावतः परस्परविरुद्धाः, यथा–'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यस्य 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यतो विरोधः। तर्काणामपि परस्परविरोधः प्रसिद्ध एव। समवायः–सङ्घातः, समाने कार्ये सहभाव एवात्र समवायः। सम्पन्नः–जातः।

समानेति० समाने अभिन्ने अन्वये वंशे जातानां प्रसूतानाम् परस्परविरोधिनाम् अन्योन्यविरुद्धानाम् परैः शत्रुभिः अभिभूतानाम् आस्कन्दितानाम् सङ्गतिः सहभावः श्रियं सम्पदं प्रसूते जनयति, समानवंशजाताः परस्परविरोधिनोऽपि परकर्तृकापमानोपस्थितौ यदि परस्परं संहता भवन्ति तदा तेषामभ्युदयो जायते, लौकिकीयं स्थितिः, तथैवात्रापि परस्परविरुद्धानां तत्तच्छास्त्राणां वेदरूपमेकमन्वयं बिभ्रतां संहतिरपराजेयतालक्षणां श्रियं जनयेदिति भावः। दृश्यन्ते चापि लोकाः स्वभ्रातृभिः सातिशयविरोधा अपि परास्कन्दनावसरे संहताः। उक्तश्चायमर्थो महाभारते युधिष्ठिरेणापि—'वयं पञ्च वयं पञ्च वयं पञ्च शतञ्च ते। अन्यैः सह विवादे तु वयं पञ्चशतोत्तरम्' इति ॥ ८ ॥

मुखचन्द्रशोभिता मीमांसा वेदत्रयीरूप तीन आंखोंसे युक्त दूसरी कात्यांयनीकी तरह प्रकट हुई ॥ ७ ॥

शान्ति—अजी, स्वभावविरोधी आगम और तर्कोंका समन्वय किस प्रकार हुआ ?

श्रद्धा—बेटी, परस्परविरोधी समानवंश प्रसूतोंका जब दूसरों द्वारा अभिभव होता है तब उनमें मेल हो जाती है और उससे भलाई होती है ॥ ८ ॥

येन वेदप्रसूतानां तेषामवान्तरविरोधेऽपि वेदसंरक्षणाय नास्तिकपक्षप्रतिक्षेपणाय शास्त्राणां साहित्यमेव । आगमानां च तत्त्वं विचारयतामविरोध एव । तथाहि—

ज्योतिः शान्तमनन्तमद्वयमजं तत्तद्गुणोन्मीलना-
द्ब्रह्मेत्यच्युत इत्युमापतिरिति प्रस्तूयतेऽनेकधा ।
तैस्तैरेव सदागमैः श्रुतिमुखैर्नानापथप्रस्थितै-
र्गम्योऽसौ जगदीश्वरो जलनिधिर्वारां प्रवाहैरिव ॥ ९ ॥

वेदप्रसूतानाम्—वेदमूलकानाम् । तेषाम्—तत्तच्छास्त्राणाम् । अवान्तरविरोधे—आभ्यन्तरिकविरुद्धत्वे । वेदसंरक्षणाय—वेदरक्षायै । नास्तिकपक्षप्रतिक्षेपणाय—चार्वाकादिमतनिरसनाय । साहित्यम्—मिलनम् । तत्त्वं विचारयताम्—याथात्म्यं भावयताम्, अविरोधः—समन्वयः । तथा चोक्तं महिम्नः स्तोत्रे—'त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च । रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' इति ।

ज्योतिरिति० शान्तम् सर्वविधक्रियाराहित्येन स्तिमितकल्पम् अनन्तम् अवसानशून्यम् अद्वयम् सजातीयद्वितीयरहितम् अजम् उत्पत्तिरहितम् (ब्रह्म) तत्तद्गुणोन्मीलनात् तेषां तेषां गुणानामारोपात् सत्त्वप्राधान्यरजःप्राधान्यतमःप्राधान्यरूपस्वरूपगुणत्रितयाध्यासात् ब्रह्मा इति अच्युतः विष्णुरिति उमापतिः शिव इति चानेकधा नानाप्रकारेण प्रस्तूयते । एकमपि ब्रह्म रजोयोगमारोप्य विधातृतया सत्त्वगुणाश्रयत्वमुपचर्य विष्णुरूपेण तमोगुणप्राचुर्यकल्पनया च शिवत्वेनोच्यत इति वक्तव्यसारः । नानापथप्रस्थितैः भिन्नभिन्नवर्त्मभिश्चलितैस्तैस्तैः भिन्नैः सदागमैः आस्तिकशास्त्रैः वारां प्रवाहैर्जलधाराभिर्जलानिधिः समुद्र इव असौ परमेश्वरः परमात्मा एव गम्यः प्राप्यः । यथानेकपथप्रस्थिता अपि जलप्रवाहा अन्ते सागरमेव प्रपद्यन्ते तथा तत्तन्मतान्यपि परमात्मन्येव पर्यवस्यन्ति, श्रूयते हि वादनानाविध्यं यथा—कुसुमाञ्जलौ—शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति

जैसे वेदप्रभव शास्त्रोंमें यद्यपि अवान्तर विरोध है फिर भी वेदके संरक्षण तथा नास्तिक मतखण्डनमें सबका एक मत ही है । आगमोंमें तत्त्वविचार करने पर विरोध है ही नहीं । क्योंकि—

शान्त, अनन्त, अद्वितीय, अजन्मा, ज्योति तत्तद्गुणप्रकाशसे ब्रह्मा, अच्युत, उमापति इस प्रकार अनेकधा कहा जाता है । भिन्न-भिन्न तथा नानापथ प्रस्थित शास्त्रोंसे वही एक ईश्वर कहा जाता है, जैसे जलप्रवाह समुद्रमें ही गिरते हैं ॥ ९ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, परस्परं करितुरगपदातीनां निरन्तरशरनिरकधारासंपातोपदर्शितदुर्दिनानां तेषामस्माकं च योधानां सङ्ग्रामस्तुमुलसंप्रहारः प्रावर्तत । तथाहि—

बहुलरुधिरतोयास्तत्र सस्रुः स्रवन्त्यो
निविडपिशितपङ्काः कङ्करङ्कावकीर्णाः ।
शरदलितविदीर्णोत्तुङ्गमातङ्गशैल-
स्खलितरयविशीर्णच्छत्रहंसावतंसाः ॥ १० ॥

कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष इति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, इति ॥ ९ ॥

करितुरगपदातीनाम्—हस्त्यश्वपादचारिसेनानाम् । निरन्तरेति० निरन्तरं सततं शरनिकरस्य बाणसमूहस्य धारासम्पातेन अखण्डवर्षणेनोपदर्शितं प्रकटीकृतं दुर्दिनं मेघच्छन्नमहो यैस्तादृशानाम् । तेषाम्—मोहपक्षीयाणाम् । अस्माकम्—विवेकानुगानाम् । योधानाम्—युद्ध्यमानवीराणाम् । संग्रामः—युद्धम् । तुमुलसम्प्रहारः—भयङ्करशस्त्रनिपातः । प्रावर्त्तत—प्रारेभे ।

बहुलेति० तत्र बहुलं समधिकं रुधिरं रक्तमेव तोयं जलं यासु ताः, निबिडं घनं पिशितं मांसमेव पङ्कः कर्दमो यासु तादृश्यः, कङ्काः पक्षिविशेषास्त एव रङ्का दीनप्राणिनस्तैरवकीर्णाः व्याप्ताः शरैः बाणैर्दलिता जर्जरतां गमिता अत एव विदीर्णाः विपाटिताः ये उत्तुङ्गाः उच्चाः मातङ्गाः हस्तिनस्त एव शैलाः पर्वतास्तेभ्यः स्खलितरयाः शून्यवेगास्ते विशीर्णच्छत्राणि इतस्ततः प्रसृतानि श्वेतातपत्राण्येव हंसाः

विष्णुभक्ति—उसके बाद ।

श्रद्धा—देखि, उसके बाद परस्पर हाथी, घोड़ा, पदचर सभी निरन्तर शरवर्षासे दुर्दिन दिखने लगे, उनके और हमारे सैन्यमें तुमुल युद्ध छिड़ गया ।

मांसरूप पङ्कसे युक्त तथा कङ्करूप दीन प्राणियोंसे पूर्ण, रुधिरजलमयी नदियाँ बह निकलीं । बाणोंसे खण्डित सिरवाले हाथीरूप शैलसे वेगसे गिरने वाले छत्र ही उस नदीके हंस प्रतीत होते थे ॥ १० ॥

तस्मिन्नेवातिमहति महादारुणे सङ्ग्रामे परापरपक्षविरोधितया पाषण्डागमैरग्रेसरीकृतं लोकायतं तन्त्रमन्योन्यसैन्यविमर्दनैर्नष्टम्। अन्ये तु पाषण्डागमा मूलनिर्मूलतया सदागमार्णवप्रवाहेण पर्यस्ताः। सौगतास्तावत्सिन्धुगान्धारपारसिकमागधान्ध्रहूणवङ्गकलिङ्गादीन्म्लेच्छप्रायान्प्रविष्टाः। पाषण्डदिगम्बरकापालिकादयस्तु पामरबहुलेषु पाञ्चालमालवा-

श्वेतपत्रभिदा अवतंसा भूषणानि यासां तास्तथोक्ताः स्रवन्त्यः नद्यः तत्र युद्धभूमौ स्रुतः प्रावहन्त। तुमुले सङ्ग्रामे प्रवर्त्तमाने रुधिरतोयप्रवाहिन्यो नद्यस्तत्र युद्धक्षेत्रे प्रावहन्यत्र नद्यां जलं रक्तमेव, कर्दमस्थानीयं मांसम्, कङ्का एव च दीनाः प्राणिनः, हस्तिनां विपाटितानां शिरोदेशेभ्यस्तत्रस्थितानां मृतानाञ्च राज्ञां यानि श्वेतातपत्राणि पतन्ति तानि हंसा इव प्रतीयमानास्तस्या नद्या भूषणतां भजन्त इत्यर्थः। साङ्गरूपकमलङ्कारः। मालिनीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ १० ॥

महादारुणे—अतिभयङ्करे। परापरपक्षविरोधितया—स्वपक्षविरोधितया स्वविरोधिविवेकपक्षविरोधितया च अयमर्थः—पाखण्डागमा जैनबौद्धचार्वाकतान्त्रिकादयो मनस्येवमचिन्तयन् यदयं लोकायतागमः पुरतो यातु, अयमस्माकमपि शत्रुरेव, सर्वशत्रोर्विवेकस्यापि तथाभूतः, यद्ययं जयति तदा जितमस्माभिः, अथायं विवेकेन पराजीयतेऽथापि नास्माकं किमपि च्छिन्नम्, अत एव ते मिलित्वा लोकायतं मतं पुरः कृतवन्त इति भावः 'कण्टकेनेव कण्टकम्' इति नीतिस्तत्र प्रयुक्तेति भावः। अन्योन्यसैन्यविमर्दनैः—परस्परसैनिकसङ्घर्षैः। केवलं सैन्यसङ्घर्षमात्रेण लोकायतं मतं नष्टमिति प्रतिपादनात्तुच्छताऽनतिप्रौढतर्कप्रयोगजेयता च लोकायतमतस्य ध्वनिता। अन्ये—लोकायतातिरिक्ताः। पाखण्डागमाः जैनबौद्धादयः। मूलनिर्मूलतया—शिथिलमूलतया। सदागमार्णवप्रवाहेण—सदागमा वैदिकमार्गप्रवृत्तमतानि तान्येव अर्णवः समुद्रः, गभीरत्वादर्णवत्वोक्तिः, तस्य प्रवाहेण—धारया। पर्यस्ताः—परितः क्षिप्ताः। यथा निर्मूलाः पथि पतिताः पदार्थाः पयसः प्रबलप्रवाहेण दूरं नीयन्ते तद्वदिमेऽपि पाखण्डागमाः सदागमप्रवाहेण शिथिलमूलतया दूरमत्यवाह्य-

उस महान् तथा दारुण युद्धमें पाखण्डागमोंने परापर पक्षविरोधी होनके कारण लोकायत मतको आगे करदिया जो अन्योन्य सैन्य सङ्घर्षसे नष्ट हो गया। और पाखण्डागम मूल शून्य होनेके कारण सदागमरूप समुद्रके प्रवाहमें बह गये। बौद्धमत सिन्धु, गान्धार, पारसीक, मागध, आन्ध्र, हूण, वङ्ग, कलिङ्ग, आदि म्लेच्छप्राय देशोंमें जा बसे। पाखण्ड दिगम्बर कापालिक आदि पामरबहुल पाञ्चाल मालव आभीर आवर्त्त सागरानूप देशोंमें

भीरावर्तं वर्त्तसागरानूपेषु सागरोपान्ते निगूढं संचरन्ति । न्यायाद्यनुगतमीमांसयावगाढप्रहारजर्जरीकृता नास्तिकतर्कास्तेषामेवागमानामनुपथ प्रयाताः ।

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो वस्तुविचारेण कामो हतः, क्षमया क्रोधपारुष्यहिंसादयो निपातिताः, सन्तोषेण लोभतृष्णादैन्यानृतपैशुन्यचाक्स्तेयासत्प्रतिग्रहादयो निगृहीताः, अनसूयया मात्सर्यं जितम्, परोत्कर्षसंभावनया मदो निषूदितः, परगुणाधिक्येन मानः खण्डितः ।

न्तेति भावः । सौगताः—सुगतोबुद्धस्तत्प्रणीता आगमाः । म्लेच्छप्रायान्—म्लेच्छधर्मधारिजनबहुलान् । यत्र देशेषु भूम्ना म्लेच्छा वसन्ति तान्प्रयाता इति भावः । पामरबहुलेषु नीचजनैः समधिकभावेनोषितेषु । सागरानूपेषु—सागरतटवासिदेशेषु, 'जलप्रायमनूपं स्यात्' इत्यमरः । सागरोपान्ते—समुद्रतीरे । निगूढम्—अप्रकटभावेन । न्यायाद्यनुगतमीमांसया—न्यायसहकृतेन मीमांसाख्यविचारशास्त्रेण । अवगाढप्रहार जर्जरीकृता दृढतरप्रहारशकलीकृताः । नास्तिकतर्काः—बौद्धादिन्यायाः । तेषाम्—बौद्धशास्त्राणाम् । अनुपदम्—पश्चात् । अनेन बौद्धागमबौद्धशास्त्रबौद्धतर्काणां तिरस्कारकथनेन द्रवसंज्ञकं विमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम्, तल्लक्षणं यथा—'द्रव इत्युच्यते तज्ज्ञैर्विदुषां च तिरस्क्रिया' इति ।

वस्तुविचारेण—नारीस्वरूपस्यास्थिमांसादिमयत्वभावनया । हतः—दूरंगमितः, स्वचित्तादपगमनमेव कामवधो बोध्यः । क्षमया—सहिष्णुतया । क्रोधपारुष्यहिंसादयः—कोपकठोरतापरवधप्रवृत्तिप्रभृतयः, एतेषां क्षमाऽभावप्रभवतया क्षमया निरासो ज्ञेयः, स्वविरुद्धव्यपासनस्वाभाव्याद् भावानाम् । निपातिताः—मारिताः । सन्तोषेण—लोभनिवृत्तिरूपेण भावेन । दैन्यम्—तुच्छताप्रत्ययः, अनृतम्—मिथ्याभाषणम्, पैशु-

---

छिप गये । न्यायादिसे अनुगत मीमांसाके कठोर प्रहारसे जर्जर नास्तिक तर्क उन्हीं आगमोंके पीछे हो लिये ।

विष्णुभक्ति—उसके बाद ।

श्रद्धा—उसके बाद वस्तुविचारने कामको मारा क्षमाने क्रोध पारुष्य हिंसा आदिको समाप्त किया, सन्तोषने लोभ तृष्णा दैन्य मिथ्याभाषण पैशुन्य वचनचौर्य असत्प्रतिग्रह आदिको निगृहीत किया । अनसूयाने मात्सर्यको जीता, परोत्कर्षसंभावनाने मदको दबाया, परगुणाधिक्यने मानको खण्डित किया ।

विष्णुभक्तिः—(सहर्षम्) साधु साधु संपन्नम् । अथ महामोहस्य को वृत्तान्तः ।

श्रद्धा—देवि, महामोहोऽपि योगोपसर्गैः सह न ज्ञायते क्वापि निलीनस्तिष्ठतीति ।

विष्णुभक्तिः—अस्ति तर्हि महाननर्थशेषः । प्रहरणीयश्चासौ । यतः—

अनादरपरो विद्वानीहमानः स्थिरां श्रियम् ।
अग्नेः शेषमृणाच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत् ॥ ११ ॥

न्यम्–सूचकता, वाक्स्तेयम्–अपलापः, परोक्तिचौर्यं वा, असत्प्रतिग्रहः–अनुचितदानस्वीकारः । निगृहीताः-पराजिताः । अनसूयया–असूया परगुणेष्वक्षमा तदभावरूपाऽनसूया तया । मात्सर्यम्–परदोषावेक्षणम् । परोत्कर्षसंभावनया–सम्भवन्ति परेष्वपि मम गुणेभ्योऽधिका गुणा इति बुद्धया । मदः–उत्सेकः । मानः–अभिमानः ।

अत्र वधबन्धताडनादिप्रतिपादनात् विद्रवो नाम विमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम् , तथा च तल्लक्षणम्–'विद्रवः कथ्यते बन्धवधसन्ताडनादिकः' इति ।

वृत्तान्तः–समाचारः ।

योगोपसर्गैः–योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधस्य उपसर्गैः विघ्नैः ।

महामोह इत्यारभ्य लीनस्तिष्ठतीत्यन्तेन विरोधशमप्रतिपादनाच्छक्त्याख्यं विमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम्–तदुक्तम्–'विरोधशमनं शक्तिः' इति ।

अनर्थशेषः–अवशिष्यमाणोऽनर्थः । प्रहरणीयः–ताडनीयः ।

अनादरपर इति० अनादरपरः अवमानप्रवृत्तः विद्वान् पण्डितः स्थिराम् अनपायां श्रियम् समृद्धिम् ईहमानः कामयमानः अग्नेः शेषम् , ऋणात् शेषम् , शत्रोः शेषम् न शेषयेत् त्यजेत् । शत्रुवधप्रवृत्तः सम्पत्तिमीहमानो विद्वाञ्जनोऽग्नेरृणस्य शत्रोश्च कमपि भागं न शिष्टं त्यजेद्यतोऽमी भागमात्रावशिष्टाः पुनरपि प्रज्वलन्ति, तन्महामोहस्य कुत्रापि निलीयस्थितस्य तदवस्थायां त्यागो न कार्यः किन्त्वन्विष्यासौ व्यापाद्य इति भावः ॥ ११ ॥

विष्णुभक्ति—(हर्षसे) ठीक हुआ । अब महामोहकी क्या खबर है ?

श्रद्धा—देवि, महामोह भी योगोपसर्गोंके साथ न मालूम कहाँ छिपा है ?

विष्णुभक्ति—तब तो अनर्थकी जड़ शेष है ही । उसे मारना होगा । क्योंकि—

अनादृत होकर स्थिर सम्पत्तिकामुक विद्वान् अग्नि, ऋण तथा शत्रुका शेष न छोड़े ॥११॥

अथ मनसः को वृत्तान्तः ।

श्रद्धा—देवि, तेनापि पुत्रपौत्रादिव्यसनजनितशोकावेशेन जीवोत्सर्गाय व्यवसितम् ।

विष्णुभक्तिः—(स्मितं कृत्वा) यद्येवं स्यात्सर्व एव वयं कृतकृत्या भवामः । पुरुषश्च परां निर्वृतिमापत्स्यते । किंतु कुतस्तस्य दुरात्मनो जीवत्यागः ? ।

श्रद्धा—एवं देव्यां प्रबोधोदयाय गृहीतसंकल्पायामचिरं शरीरेण सह नैव भविष्यति ।

विष्णुभक्तिः—तद्भवतु । अस्य वैराग्योत्पत्तये वैयासिकीं सरस्वतीं प्रेषयामः । (इति निष्क्रान्तौ)

मनसः-चित्तस्य, मनोऽपत्यान्येवंमे सर्वे लोभादयो व्यापादिता इति तदवस्था-प्रश्नो नासामयिकः ।

व्यसनजनितशोकावेशेन—विपत्तिप्रभवखेदवेगेन । जीवोत्सर्गाय-प्राणपरित्यागाय । व्यवसितम्-चेष्टितम् , एवं स्यात्-मनो म्रियेत । वयम्-विष्णुभक्त्यादयः । कृतकृत्याः-सम्पादितविधेयाः । मनसि विरते तत्कृतोपद्रवाणामपि शान्तिमभिप्रेत्येदमुक्तम् , मन एव प्रधानं तदुक्तम्—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इति । निर्वृतिम्-शान्तिम् । आपत्स्यते-प्राप्स्यति । दुरात्मनः-दुष्टस्य । जीवत्यागः-मरणं, जीवादपसरणं वा । देव्याम्-विष्णुभक्तौ । गृहीतसङ्कल्पायाम्-स्थिरमतौ । शरीरेण सह नैव भविष्यति-शरीरसम्बन्धं विहास्यति-मृतं भविष्यति ।

अस्य—मनसः । वैराग्योत्पत्तये-विरक्तिमुत्पादयितुम् । वैयासिकीम्-व्यासप्रोक्ताम् ।

मनकी क्या खबर है ?

श्रद्धा—उसने भी पुत्रपौत्र आदिके व्यसनसे जन्य शोकके वेगमें प्राण दे देनेका उद्योग किया !

विष्णुभक्तिः—(हंसकर) यदि ऐसा हो जाय तब तो हम सभी कृतकृत्य हो जांय, पुरुषको भी शाश्वत शान्ति प्राप्त होजाय, किन्तु वह अभागा क्योंकर मरेगा ?

श्रद्धा—देवी जब प्रबोधोदयके लिये इस प्रकार दृढ़ निश्चय है तो वह निश्चय ही नहीं रह सकेगा ।

विष्णुभक्ति—तो ठीक है । इसको वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये वैयासिकी सरस्वतीको भेजती हूं । (दोनोंका प्रस्थान)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति मनः संकल्पश्च)

मनः—(सास्रम्) हा पुत्रकाः, क्व गताः स्थ । दत्त मे प्रियदर्शनम् । भो भोः कुमारकाः रागद्वेषमदमात्सर्यादयः, परिष्वजध्वं माम् । सीदन्ति ममाङ्गानि । हा । न कश्चिन्मां वृद्धमनाथं संभावयति । क्व गता असूयादयः कन्यकाः । आशातृष्णाहिंसादयो वा स्नुषाः । कथं ता अपि मन्दभाग्यस्य मे समकालमेव दैवहतकेनापहृताः ।

विसर्पति विषाग्निवद्दहति शर्म मर्माविध-
स्तनोति भृशवेदनाः कषति सर्वकार्श्यं वपुः ।
विलुम्पति विवेकितां हृदि च मोहमुन्मीलय-
त्यहो ग्रसति जीवितं प्रसभमेव शोकज्वरः ॥ १२ ॥

प्रियदर्शनम्—मधुरं भवदवलोकनम् । कुमारकाः—मम शिशवः । परिष्वजध्वम्—आलिङ्गत । सीदन्ति—जडभावमिव लभन्ते । अनाथम्—रक्षकशून्यम् । संभावयति—भाषणतोषणादिना प्रबोधयति । स्नुषाः—पुत्रवध्वः । मन्दभाग्यस्य—हतभाग्यस्य । समकालम्—सहैव । दैवहतकेन—नीचेन भाग्येन । अपहृताः—अन्यत्र नीताः ।

विसर्पतीति० एषः शोकज्वर विषाग्निवत् विषज्वालाजालतुल्यम् विसर्पति सर्वाण्यङ्गानि व्याप्नोति । शर्म सुखम् दहति नाशयति, मर्माणि विध्यन्तीति मर्माविधः अरुन्तुदाः भृशवेदनाः अत्यर्थपीडाः तनोति विस्तारयति, सर्वकार्श्यं सर्वैरुपायैः कर्शित्वा वपुः शरीरं कषति हिंसयति । विवेकिताम् धैर्यवत्ताम् विलुम्पति विघयति, हृदि

प्रवेशक ।

(मन और सङ्कल्पका प्रवेश)

मन—(रोकर) हाय मेरे पुत्रो, तुम कहाँ गये ? मुझे अपना दर्शन दो । अरे राग, द्वेष, मदमात्सर्य आदि कुमारो, मुझसे लिपट जाओ, हाय ! कोई मुझ वृद्ध अनाथका नहीं सुनता है । असूया आदि हमारी कन्यायें कहाँ हैं ? आशातृष्णा आदि हमारी बहुएं कहाँ हैं ? मुझ अभागेकी वह सभी भी एक साथ ही भाग्यद्वारा किस प्रकार हरली गई ।

शोकजनित सन्ताप विषदाहकी तरह फैल रहा है, मर्मवेधी वेदना उत्पन्न करता है शरीरको सर्वथा कृश कर रहा है, विवेकको दूर भगा रहा है और हृदयमें मोहको उत्पन्न करके हठात् जीवनको ग्रस्त कर रहा है ॥ १२ ॥

(इति मूर्च्छितं पतति)

संकल्पः—(सास्रम्) राजन्, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

मनः—(समाश्वस्य) कथं देवी प्रवृत्तिरपि न मामेवमवस्थं समाश्वासयति ।

संकल्पः—(सास्रम्) देव, कुतोऽद्यापि प्रवृत्तिः । यतः श्रुतकुटुम्बव्यसनसंजातशोकानलदग्धहृदया हृदयास्फोटं विनष्टा ।

मनः—हा प्रिये, कासि देहि मे प्रतिवचनम् । ननु देवि,

स्वप्नेऽपि देवि रमसे न विना मया त्वं
स्वापे त्वया विरहितो मृतवद्भवामि ।

हृदये शोकम् परितापम् उन्मीलयति प्रकटयति, अहो खेदे प्रसभम् हठेन (शोकज्वरः) जीवितमेव ग्रसति व्यापादयति, शोकसन्तापः । विषज्वालेव काये प्रसर्पति, सुखमवसाययति, वेदनां जनयति, शरीरं कृशयति, धैर्यं चुलुकयति, मोहं प्रकटीकरोति, तदेवं जीवनमेव विपादयतीत्यर्थः । पृथ्वीवृत्तम्–'जसौ जसजला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ॥ १२ ॥

एवमवस्थम्–ईदृश्यामवस्थायां पतितम् । समाश्वासयति–धैर्यं बन्धयति ।

कुतोऽद्यापि प्रवृत्तिः—नास्त्यधुना प्रवृत्तिरित्यर्थः ।

श्रुतेति० श्रुतम् आकर्णितम्, कुटुम्बानाम् पोष्यवर्गाणाम्, व्यसनम् निधनम्, तेन सञ्जातः उत्पन्नः, शोकानलः–हृदयखेदवह्निः, तेन दग्धहृदया आलीढचित्ता। हृदयास्फोटम्–हृदये स्फुटित्वा । विनष्टा मृता । स्वकुटुम्बभूतकामादिनिधनवृत्तान्तं निशम्य मृतेत्यर्थः ।

प्रतिवचनम्–उत्तरम् ।

स्वप्नेऽपीति० हे देवि प्रवृत्ते, त्वं मया विना विरहिता स्वप्नेऽपि कदाचिदपि न

(मूर्च्छित होकर गिरता है)

सङ्कल्प—(रोकर) राजन्, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

मन—(आश्वस्त होकर) क्यों देवी प्रवृत्ति भी मुझे इसस्थितिमें आश्वासन नहीं दे रही है ?

सङ्कल्प—(रोकर) देव, अब देवी प्रवृत्ति कहाँ ? उनका तो कुटुम्बव्यसनश्रवणजात शोकानलसे हृदय जलगया, वह चलवसी ।

मन—हाँ प्रिये, कहाँ हो मुझे उत्तर दो । देवि—

स्वप्नमें भी तुम हमारे विना नहीं रमती, और मैं भी स्वप्नमें तुमसे रहित होकर

दूरीकृतासि विधिदुर्ललितैस्तथापि
जीवत्यवेहि मन इत्यसवो दुरन्ताः ॥ १३ ॥

(पुनर्मूर्च्छति)

संकल्पः—राजन्, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

मनः—(समाश्वस्य) अलमस्माकमतः परं जीवितेन । संकल्प, चितामारचय । यावदनलप्रवेशेन शोकानलं निर्वापयामि ।

(ततः प्रविशति वैयासिकी सरस्वती)

सरस्वती—प्रेषितास्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या । यथा 'सखि सर-

रमसे प्रसन्ना तिष्ठसि, त्वया प्रवृत्त्या विरहितः शून्यः (अहम्) स्वापे स्वप्नावस्थायामपि (किमु वक्तव्यं तदा जागरस्य) मृतवत् अक्रियः भवामि जाये । विधिदुर्ललितैः दैवदुर्विलासैः तथापि एवं सत्यपि (त्वं प्रवृत्तिः) दूरीकृता मनसो वियोजिताऽसि, (एवं जातेऽपि) मनः मल्लक्षणोजनः जीवति प्राणिति (ततः) असवः प्राणाः दुरन्ताः दुरवसानाः कष्टमृत्यव इत्यवेहि जानीहि । अयि प्रवृत्ते, त्वं मया विरहिता सती स्वप्नेऽपि न नन्दसि, स्वापे चाहं त्वया विरहितो निष्क्रियो मृतकल्पश्च जाये, तदेवमावयोरनुरागो दृढमूलः सप्रमाणश्च, सा चेदृशी त्वं मम प्रेयसी मद्वियोजिताऽसि, अथाप्यहं न म्रिये तत्र प्राणानां कठिनतैव हेतुर्न मम जिजीविषेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १३ ॥

अतः परम्—कामादीनां निधनात्परतः । आरचय—सज्जीकुरुष्व अनलप्रवेशेन—वह्नौ प्रवेशं कृत्वा । शोकानलम्—खेदज्वालाम् निर्वापयामि—शमयामि ।

प्रेषिता—प्रहिता । अपत्यव्यसनखिन्नस्य—कामादिसन्ततिविनाशक्लिष्टस्य । प्रबोधनाय—धैर्योत्पादनाय, तस्य—मनसः । वैराग्योत्पत्तिः—संसाराद्विरक्तिः यतस्व—यत्नं कुरुष्व ।

मृतकके तुल्य हो जाया करता हूँ । भाग्यवश तुम मुझसे दूर कर दी गई हो तथापि जो मैं जी रहा हूँ इससे मालूम पड़ता है कि प्राण बड़े कठिन होते हैं ॥ १३ ॥

(फिर मूर्च्छित हो जाता है)

सङ्कल्प—राजन्, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

मन—(आश्वस्त होकर) अब हमारा जीना व्यर्थ है । सङ्कल्प ! चिता तैयार करो, जिससे आगमें प्रवेश करके शोक सन्तापको शान्तकरूँ ।

(वैयासिकी सरस्वतीका प्रवेश)

सरस्वती—देवी विष्णुभक्तिने मुझे भेजा है कि सखि सरस्वति, जाओ, अपत्यव्यसन-

स्वति, गच्छापत्यव्यसनखिन्नस्य मनसः प्रबोधनाय। यथा च तस्य वैराग्योत्पत्तिर्भवति तथा यतस्वे'ति। तद्भवतु। तत्संनिधिमेवोपसर्पामि। (उपसृत्य) वत्स, किमेवमतिविक्लवोऽसि, ननु विदितपूर्वैव भवता भावानामनित्यता, अधीतानि च त्वयैतिहासिकान्युपाख्यानानि। तथाहि—

भूत्वा कल्पशतायुषोऽम्बुजभवः सेन्द्राश्च देवासुरा
मन्वाद्या मुनयो मही जलधयो नष्टाः परं कोटयः।
मोहः कोऽयमहो महानुदयते लोकस्य शोकावहः

अत्र मनसः प्रबोधनाय विष्णुभक्त्या प्रेषितायाः सरस्वत्यास्तथा भवत्वित्युक्त्या स्वशक्तिप्रकटनप्रतीतेर्व्यवसायाख्यं विमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम्—तल्लक्षणं यथा—'व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः' इति।

अतिविक्लवः—अतिखिन्नः। विदितपूर्वा—पूर्वत एव ज्ञाता। भावानाम्—सांसारिकसकलपदार्थानाम्, अनित्यता—विनश्वरता। अधीतानि—पठितानि। ऐतिहासिकानि—महाभारतादीतिहासप्रसिद्धानि, आख्यानानि—कथाः। ऐतिहासिककथाः पठितवतो युक्त्या चास्य संसारस्य विनाशशीलतां ज्ञातवतस्तवातिवैक्लव्यं नोपपद्यते, तस्यजेदं क्षुद्रं हृदयवैक्लव्यमिति भावः। संसारस्यानित्यतायां युक्तिश्चानुमानमेव—'सर्वे भावा विनाशिनः उत्पत्तिमत्त्वात्'। न च चातुर्मास्यफलस्याक्षय्यत्वश्रुतेर सिद्धो हेतुरिति वाच्यम्, तस्याः श्रुतेरर्थवादपरत्वे नित्यत्वासाधकत्वात्॥

भूत्वेति० अम्बुज भवः ब्रह्मा, सेन्द्राः इन्द्रेणसहिताः देवासुराः देवा दानवाश्च, मन्वाद्याः मनुप्रभृतयः मुनयः ऋषयः, कोटयः तावत्सङ्ख्यका जलधयः समुद्रादयः, मही एषा पृथ्वी च एते सर्वे कल्पशतायुषः (कल्पो युगचतुष्टयम् शतपदमसङ्ख्याततापरकम्) अपरिमितियुगचतुष्टयपरिमितजीवनकालाः भूत्वाऽपि परम् अत्यर्थं नष्टाः विनाशं गताः, (येषां कल्पशतमायुस्तथाभूता ब्रह्माणो दैत्या दानवाः महर्षयः ससागराचेयं धरा यदि नष्टा) तदा सिन्धोः सागरस्य फेनसमे फेनतुल्ये क्षिप्रविनाशिनि पञ्चात्मके क्षित्यादिपञ्चकनिर्मिते वपुषि काये पञ्चताम् मृत्युम् गते, अहो आश्चर्यम्, लोकस्य संसारस्य शोकावहः खेदप्रदः कोऽयं महान् मोहः चित्तवैक्लव्य-

दुःखित मनको प्रबोधित करो। जिससे उसे वैराग्य उत्पन्न हो वैसा प्रयत्नकरो। अतः उसीके पास चलें। (समीप जाकर) बेटा, इस तरह उदास क्यों हो? तुमतो पदार्थोंकी अनित्यताको पहलेसेही जानते हो। तुमने ऐतिहासिक उपाख्यान भी पढ़ा है। देखो—

सौ कल्पोंकी आयु प्राप्त करके भी कड़ोरो-ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवगण, मनु आदि मुनिगण, यह पृथ्वी और समुद्र नष्ट हो गये, फिर लोगोंको सिन्धुके फेनके सदृश पञ्चतत्त्वा-

सिन्धोः फेनसमे गते वपुषि यत्पञ्चात्मके पञ्चताम् ॥ १४ ॥

तद्भावय भावानामनित्यताम् । नित्यमनित्यवस्तुदर्शनो न पश्यति शोकावेगम् । यतः—

एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद्विकल्पितम् ।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ १५ ॥

मुद्यते प्राहुरास्ते । कल्पशतायुषां तेषां तेषां पदार्थानामपि जाते नाशे यदि लोकः क्षित्यादिपञ्चकसमुदायात्मनो वपुषो विघटनरूपपञ्चताप्राप्त्या दारुणं शोकमनुभवति महदाश्चर्यमिदमिति तात्पर्यम् । पृथिवीजलतेजोव्योमवायवः पञ्चतत्त्वानि, तेषामेव पञ्चीकारेणास्य सचराचरस्य जगतो जन्म, तद्विघटनेन चापाय इति सिद्धान्तमनुरुध्यायं श्लोकः । पञ्चीकरणप्रकारो यथा 'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्चते' । इति पञ्चात्मकस्य पञ्चताप्राप्तिस्तु क्लृप्तैव न तत्र कोऽपि हेतुराश्चर्यस्याथापि लोकानां व्यवहार आश्चर्यमुद्भावयतीति परमार्थः । 'कल्पो युगचतुष्टयम्' 'धाताब्जयोनिर्द्रुहिणः' इत्युभयत्राभिधानप्रकाशः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

तत्–संसारस्य विनाशित्वात् । भावानाम्–सर्वेषां पदार्थानाम् । अनित्यताम्–विनाशिभावम् । भावय–विचारेण निर्धारय ।

नित्यम्–अहरहः । अनित्यवस्तुदर्शनः संसारस्थितानित्यवस्तुद्रष्टा । शोकावेगम्–दुःखातिशयम् । अहरहर्जगतोऽनित्यस्य क्षयं वीक्षमाणो जातस्य ध्रुवमृत्युकताप्रत्ययेन स्वबन्धावपि व्यसनग्रस्ते नानुभवति विषादमिति भावः ।

एकमेवेति० सदा सर्वदा त्रिकालाबाध्यभावेन एकमेव सजातीयद्वितीयशून्यम् ब्रह्म सत्यम् परमार्थसत्, अन्यत् ततो भिन्नम् कल्पितम् शुक्तिकायां रजतमिव अध्यस्तम् । हि तस्मात् एकत्वमनुपश्यतः जगतो ब्रह्माभेदं भावयतः को मोहः कीदृशं मूढबुद्धित्वम्, तत्र तस्यां स्थितौ कः शोकः कीदृशः खेदः ? ब्रह्मैवैकं परमार्थसत्यं तदन्यत्सर्वं कल्पितमिति वस्तुतत्त्वं विभावयतो जनस्य मोहशोकौ नोदेतुमर्हतस्तद्भावयन् भुवनस्य नाशस्वभावकतां जहिहीदं स्वीयधैर्यमिति भावः ॥ १५ ॥

त्मक शरीरके पञ्चत्व प्राप्त कर लेने पर शोकावह मोह क्यों हुआ करता है ॥ १४ ॥

इसलिये पदार्थों की अनित्यताकी भावना किया करो । जिसे वस्तुओंकी अनित्यता दीखने लगती है उसे शोकका आवेग नहीं सताता है ।

एक ब्रह्म ही सत्य है और सभी कल्पित अतः अनित्य हैं, तो फिर जिसे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान हो जायगा वह क्यों शोक या मोह करेगा ! ॥ १५ ॥

मनः—भगवति, शोकावेगदूषिते मनसि विवेक एवमनवकाशं लभते।

सरस्वती—वत्स, स्नेहदोष एषः। प्रसिद्ध एवायमर्थः स्नेहः सर्वानर्थप्रभव इति। तथाहि—

उप्यन्ते विषवल्लिवीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै-
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति नचिराद्वज्राग्निगर्भाङ्कुराः।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्तः शनै-
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः॥ १६॥

'भगवति' इदं 'सरस्वतीसंबोधनम्। शोकावेगदूषिते-शोकसन्तप्ते। विवेकः-विचारः। अतिशयितशोकावेगयुते मम मनसि किं नित्यं किमनित्यमिति विचार एव नास्पदं लभतेऽतो न शक्नोमि विचारलभ्यं धैर्यं समालम्बितुमिति भावः।

स्नेहदोषः-प्रेम्णोऽपराधः। त्वमात्मजनेषु बहुस्निह्यस्य त एवेदं तवाधैर्यमिति भावः। सर्वानर्थप्रभवः-सर्वेषां वधबन्धाद्यनर्थानां जन्मभूमिः।

उप्यन्त इति० विषवल्लिवीजविषमाः विषलतावीजवन्मारकतया भयङ्कराः क्लेशाः दुःखानि प्रियाख्याः पुत्रमित्रकलत्रादिनामभाजः प्रियाख्याः नरैः मनुष्यैः उप्यन्ते वपनकर्मी क्रियन्ते, नराणां यत्पुत्रादिषु प्रिय इति ज्ञानं तत्तेषां विषवल्लिबीजवपनकल्पमिति, यतस्तेनैवास्य महतोऽनर्थप्ररोहस्य प्रभव इति। विषवल्लिवीजत्वोक्त्या तीव्रदाहप्रदत्वं ध्वनितम्। तेभ्यः नरैरुप्तेभ्यः प्रियत्वाभिमानरूपविषवल्लिबीजेभ्यः न चिरात् अतिशीघ्रम् स्नेहमयाः प्रेमरूपाः वज्राग्निगर्भाङ्कुराः वैद्युताग्निज्वालातुल्यसन्तापप्रदाः प्ररोहाः भवन्ति जायन्ते, किमपि बीजगुणमङ्कुरं जनयति, तदिदं प्रियत्वाभिमानबीजमुप्तं सदतिसन्तापकारणं ममत्वमुत्पादयति, कार्यकारणयोः। समानधर्मत्वस्वाभाव्याद् विषवल्लिबीजानां वज्राग्निगर्भाङ्कुरजनकत्वं न्यायप्राप्तमित्यर्थः। तेभ्यः स्नेहमयाङ्कुरेभ्यः अमी त्वयाऽनुभूयमानाविलक्षणाः शनैः धीरभावेन कुकूलहुतभुग्दाहम् तुषाग्निवत् देहम् स्वाश्रितजनशरीरम् दहन्तः सन्ताप-

मन—भगवति, शोकावेगसे दूषित हृदयमें विवेकको जगह नहीं मिलती है।

सरस्वती—बेटा यह तो स्नेहका दोष है, यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि स्नेह सभी अनर्थोंका मूल है। क्योंकि—

मनुष्य पुत्रदार आदि विषवल्लिकी तरह भयानक बीज बोते हैं उससे शीघ्र ही स्नेह रूप वज्राग्निगर्भ अङ्कुर पैदा होता है, जिन स्नेह अङ्कुरोंसे ज्वालायुक्त सहस्र शिखर वाले शोक रूप वृक्ष पैदा होते हैं जिनसे देह उस तरह कष्ट पाती है जैसे भूसेकी आगमें जल रही हो॥ १६॥

मनः—देवि, यद्यप्येवं तथापि न शक्नोमि शोकानलदग्धः प्राणान्धारयितुम् । संपन्नं यदन्तकाले त्वं तावद्दृष्टासि ।

सरस्वती—इदं च परमकृत्यं यदात्महत्याव्यवसाय इति । अपि च, अमीषामपकारिणामर्थे कोऽयमत्यावेशो भवतः । पश्य तावत्—

कच्चिदुपकृतिः कर्तामीभिः कृता क्रियतेऽथवा
तव न च भवन्त्येते पुंसां सुखाय परिग्रहाः ।

यन्तः दीप्तशिखासहस्रशिखिराः प्रज्वलितानेकशिखाभृताः शोकद्रुमाः शोकरूपाः पादपाः रोहन्ति प्रादुरासते । बीजादङ्कुरस्य ततश्च वृक्षस्योत्पत्तिस्तत्र प्रियत्वाभिमानबीजैः स्नेहाङ्कुरोत्पत्तौ ततः शोकाख्यवृक्षस्य जन्म भवति, यः शोकवृक्षस्तुपाञ्चिवदेहं दहति, ज्वालाप्रदाः दुःखस्मृतिरूपाः शिखास्तासां सहस्रमेव शिखरदेशास्तैर्युक्तश्चासौ शोकतरुर्भवति, कुत्रापि वृक्षे शिखरदेशो वर्ण्यतेऽत्र दुःखान्तरस्मृतय एव तत्स्थानीया इति बोध्यम् । तदेवं प्रियत्वाभिमानस्य बीजभावः, स्नेहस्याङ्कुरत्वं, तज्जस्य शोकस्य वृक्षत्वमित्यायातम् । 'कुकूलहुतभुगुदाहम्' इत्यत्र 'उपमाने कर्मणि च' इति णमुल् । 'कुकूलं शङ्कुभिः पूर्णे श्वभ्रे नातु तुषानले' इति कोपः । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ १६ ॥

यद्यप्येवम्—यद्यपि त्वदुक्तं सत्यं युक्तिपूर्णञ्च । शोकानलदग्धः—खेदज्वालापरीतः प्राणान् धारयितुम्—जीवनं रक्षितुम् । सम्पन्नम्—कृतंकृत्यम् । इदं मम कृत्यानां पूर्णत्वं यदवसानसमये भवत्यादर्शनं जातमिति भावः ।

परम्—अतिमहत् । अकृत्यम्—अकर्त्तव्यम् । आत्महत्याव्यवसायः—आत्मवधचेष्टा । अमीषाम्—कामादीनाम् । अपकारिणाम्—अपकारकराणाम् । अत्यावेशः—अत्यौत्सुक्यम् ॥

कच्चिदुपतिरिति० अमीभिः क्वचित् कुत्रापि पुंसाम् उपकृतिः उपकारः कर्त्ता करिष्यते कृता विहिता, अथवा क्रियते, इमे कालत्रयेऽपि पुमांसं नोपकुर्वन्तीत्यर्थः, (अतः) एते परिग्रहाः पुत्रकलत्रादयः तव सुखाय प्रीतये न भवन्ति, एषामसुरुजनकता स्वभाववत्तया नामीभिरुपकारं कामयेथा इति तात्पर्यम् । (किञ्चामी परिग्रहाः) विरहे वियोगे मर्मच्छेदं हृदयस्यात्यन्तिकीं व्यथां दधति उत्पादयन्ति, तदपि

मन—यद्यपि बात ऐसी ही है फिर भी शोकानलदग्ध मैं प्राण धारण नहीं कर सकता । यह ठीक रहा कि अन्त समयमें तुमसे भेंट हो गई ।

सरस्वती—आत्महत्या करना तो अत्यन्त घृणित कार्य है । और इन अपकारियोंके सम्बन्धमे तुमको इतना आवेश ही क्यों हो रहा है ? देखो—

तुम्हारा क्या इनसे कभी उपकार हुआ, हो रहा है, या होने वाला है, यह पुत्र दार

दधति विरहे मर्मच्छेदं तदर्थमपार्थकं
तदपि विपुलायासाः सीदन्त्यहो बत जन्तवः ॥ १७ ॥

अपि च,

तीर्णाः पूर्णाः कति न सरितो लङ्घिताः के न शैला
नाक्रान्ता वा कति वनभुवः क्रूरसंचारघोराः।
पापैरेतैः किमिव दुरितं कारितो नासि कष्टं
यद्दृष्टास्ते धनमदमषीम्लानवक्त्रा दुरीशाः ॥ १८ ॥

एवं सर्वतोऽनभिप्रेतत्वेऽपि तदर्थम् परिग्रहाणां कृते अपार्थकम् व्यर्थम् विपुलायासाः कृतमहाप्रयत्नाः जन्तवः प्राणिनः सीदन्ति कष्टमालम्बन्ते, अहो बत आश्चर्यमिद मिति । इमे परिग्रहाः पुंसां नोपकुर्वन्ति नोपकृतवन्तः न चोपकरिष्यन्तीति निश्चयेन तवापि नैवोपकरिष्यन्ति, पुंस एवोपकारो मनसोऽपि तथा मन्यते स्वतन्त्रस्य तस्योपकर्त्तव्यत्वायोगात , तदेवं दशायां पुत्रकलत्रादयः परिग्रहास्तव सुखाय भवि-ष्यन्तीति मा भावि भवता । न केवलममी नोपकारकाः किन्तु विरहे व्यथका अपि, तथापि महता प्रयासेनैषां कृते जन्तवः क्लेशमाश्रयन्तीत्यत्याश्चर्यजनकमित्यर्थः । हरिणीवृत्तम् , 'नसमरसलागः षड्वेदर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणम् ॥ १७ ॥

तीर्णा इति० पूर्णाः संभृतसलिलाः कति कियत्यः सरितः न तीर्णाः तरणकर्मतां गमिताः ? बहवः सरितस्तीर्णा इति काका प्रत्ययः । एवमेव परत्राऽपि । के वा शैलाः पर्वताः न लङ्घिताः, सर्वेऽपि लङ्घिता इत्यर्थः। क्रूरसञ्चारघोराः हिंस्रजन्तुयुताः कति वा वनभुवः काननभूमयः न आक्रान्ताः पादचारेण भ्रान्ताः पापैः नीचकार्य-परैः एतैः परिग्रहैः किमिव दुरितम् पापम् न कारितः कर्त्तुं बाधितः असि ? सर्वमपि दुरितमाचरितुमिमे त्वां बाधितवन्त इत्यर्थः, यत् यस्मात् कष्टम् समनोव्यथम् धनमदमषीम्लानवक्त्राः ऐश्वर्याभिमानश्यामिकालिप्तमुखाः तं दुरीशाः प्रसिद्धाः कुप्रभवो दृष्टाः । एतेषां परिग्रहाणामनुरोधेन धनिनामभिमानश्यामलितानि मुखानि

आदि पुरुषोंके सुखार्थ नहीं हुआ करते हैं । फिर उनके विरहमें व्यर्थ ही मर्मान्तक कष्ट करके अथक परिश्रम उठाकर लोग सीदित होते रहते हैं ॥ १७ ॥

और—इन धनमदसे म्लानमुख दुष्ट धनिकोंके पास जाना पड़ा इन पुत्रदार आदिकोंके लिये, उसमें कौन सा कष्ट नहीं हुआ ? भरी हुई नदियाँ कितनी नहीं पार करनी पडी, पर्वत नहीं लांघने पड़े, या क्रूर हिंसक प्राणियोंके सञ्चारसे भयङ्कर जंगलोंसे न गुजरना पड़ा ? ॥ १८ ॥

मनः—देवि, एवमेतत् । तथापि—

लालितानां स्वजातानां हृदि संचरतां चिरम् ।
प्राणानामिव विच्छेदो मर्मच्छेदादरुंतुदः ॥ १९ ॥

सरस्वती—वत्स, ममतावासनानिबन्धनोऽयं व्यामोहः ।

उक्तं च—

मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे ।
न तादृङ्ममताशून्ये कलविङ्केऽथ मूषके ॥ २० ॥

दृष्टुं यत्त्वं वाधितस्त्वमयासीस्तत्तव सरित्तरणपर्वतलङ्घनघोरजन्तुशतावृतकाननलङ्घन-सदृशं कष्टमभूदिति वाक्ययोः परस्परं विम्बप्रतिविम्बभावो बोध्यः, यथा नैषधीये—'तीर्णः किमर्णो निधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः' इति ॥ १८ ॥

एवमेतत्-त्वदुक्तं नासत्यमित्यर्थः ।

लालितानामिति० स्वजातानाम् आत्मजानाम् हृदि वक्षोदेशे चित्ते च चिरम् बहु-कालपर्यन्तम् सञ्चरताम् लुण्ठताम् लालितानाम् चटूक्तिभिः प्रमोदितानाम् (एषां कामादीनाम्) विच्छेदः वियोगः प्राणानाम् विच्छेदाद् (विशिष्य) अरुन्तुदः मर्मव्यथकः । प्राणा अपि स्वस्माज्जायन्ते हृदि वसन्ति चेमेऽपि कामादयो मनसो जाता मनसा चिरं लालिता हृदयेऽवस्थापिताश्चेत्येषां वियोगस्य मर्मव्यथकत्वाति-शयो बोध्यः ॥ १९ ॥

ममतावासनानिबन्धनः—ममत्वाभिमानजन्मा व्यामोहः खेदः ।

मार्जारभक्षित इति० गृहकुक्कुटे स्वगृहपोषितकुक्कुटे मार्जारभक्षिते विडालेन ग्साते यादृशं दुखंः खेदः भवति तादृशं दुःखं ममताशून्ये मदीयतयाऽवुद्धिविषये कलविङ्के चटके मूषके वा मार्जारभक्षिते न भवति दुःखमतो ममतैव दुःखजननी न पदार्थमहत्तेति भावः ॥ २० ॥

मन—देवि, आपका कथन ठीक है, तथापि—

जिन्हें पैदा किया, दुलार किया, हृदयमें स्थान दिया, उनका वियोग प्राणों के वियोग की तरह कष्टप्रद होता है ॥ १९ ॥

सरस्वती—वत्स, ममतावासनासे हीं ऐसा मोह होरहा है, कहा है—

विलाड़ घरके गौरैयाको खा जाय तो दुःख होता है, परन्तु वही विलाड़ यदि चटक या चूहेको चटकर जाता है तो दुःख नहीं होता है, इससे स्पष्ट है कि ममता ही दुःखका निदान है ॥ २० ॥

तत्सर्वानर्थबीजस्य ममत्वस्योच्छेदे यत्नः कर्तव्यः। पश्य—

प्रादुर्भवन्ति वपुषः कति वा न कीटा
यान्यत्नतः खलु तनोरपसारयन्ति।
मोहः स एष जगतो यदपत्यसंज्ञां
तेषां विधाय परिशोषयति स्वदेहम्॥ २१॥

मनः—देवि, भवत्वेवम्। तथापि दुरुच्छेद्यस्तु ममत्वग्रन्थिः। (विचिन्त्य। सोच्छ्वासम्) सर्वथा त्रातोऽस्मि भवत्या। (इति पादयोः पतति)

सरस्वती—वत्स, उपदेशसहिष्णु ते हृदयं जातम्। अत एतदपरमुच्यते—

सर्वानर्थबीजस्य-सर्वविधानर्थकारिणः। ममत्वस्य-ममेदमित्यध्यासस्य। उच्छेदे-नाशे।

प्रादुर्भवन्तीति॰ वपुषः शरीरात् कति कियन्तः कीटाः क्षुद्रप्राणिनः यूकालिक्षादयः न वा प्रादुर्भवन्ति उत्पद्यन्ते, तान् तनोः प्रभूतानपि कीटान् (जनाः) यत्नतः प्रयासेन तनोः शरीरात् अपसारयन्ति दूरीकुर्वन्ति। स एष जगतः संसारस्य मोहः अविवेकः यत् तेषाम् तनुजातानाम् पुत्रादीनां कीटैः समानमपि अपत्यसंज्ञाम् पुत्रादिपदवाच्यताम् विधाय स्वदेहम् आत्मकायम् शोषयति क्लमयति। शरीरजातत्वेन समतायां सम्यक् प्रतीतायामपि कीटानां यत्नतः शरीरादपसारणं कुर्वन्त एव पामराः सुतादीनां विषये यदात्मानं ग्लपयन्ति तत्तेषां मोहस्यविस्फूर्जितमेव, न विवेकपूर्वकं कार्यमिति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २१॥

दुरुच्छेद्यः-दुरपासः। ममत्वग्रन्थिः-ममताबन्धनम्। त्रातः-रक्षितः।

उपदेशसहिष्णु-उपदेशश्रवणार्हम्।

अतः सभी अनर्थों की जड़ ममताके उच्छेदका ही प्रयत्न करना चाहिये। देखोः—

देहसे कितने कीट उत्पन्न होते रहते हैं जिन्हें हम कोशिश करके शरीरसे दूर करते रहते हैं, (फिर देहसे उत्पन्न पुत्र आदिके विषयमें) यह मोह होता है कि इन्हें अपत्य संज्ञा प्रदान कर इनके लिये देहको सुखाया करता है॥ २१॥

मन—देवि, ऐसा ही रहे, फिर भी ममताकी गांठ छूटती नहीं है। (सोचकर, उच्छ्वास लेकर) तुमने सर्वथा बचा लिया। (चरणोंपर गिरता है)

सरस्वती—वत्स, अब तुम्हारा हृदय उपदेशके योग्य होगया। अतः इतना और

वशं प्राप्ते मृत्योः पितरि तनये वा सुहृदि वा
शुचा संतप्यन्ते भृशमुदरताडं जडधियः ।
असारे संसारे विरसपरिणामे तु विदुषां
वियोगो वैराग्यं द्रढयति वितन्वञ्शमसुखम् ॥ २२ ॥

(ततः प्रविशति वैराग्यम्)

वैराग्यम्—(विचिन्त्य)

अस्राक्षीन्नवनीलनीरजदलोपान्तातिसूक्ष्मायत-
त्वङ्मात्रान्तरितामिषं यदि वपुर्नैतत्प्रजानां पतिः ।

वशमिति० पितरि जनके तनये पुत्रे सुहृदि मित्रे वा मृत्योः मरणस्य वशं प्राप्ते मृते सति जडधियः मन्दमतयः उदरताडम् सोरस्ताडम् शुचा तद्वियोगजशोकेन सन्तप्यन्ते पीडयन्ते । तु पुनः विदुषाम् संसारतत्त्वं ज्ञातवताम् विरसपरिणामे अवसानदुरन्ते असारे निस्तत्त्वे संसारे शमसुखं वितन्वन् शान्तिसमुत्थमानन्दं वितरन् वियोगः पुत्रादिभिर्विच्छेदः वैराग्यं द्रढयति दृढीकरोति । यैरेव कारणैर्मन्दमतयः सन्तप्यन्ते तैरेव ज्ञानिनन्ते वैराग्यं द्रढयन्तं शान्तिसहचरमानन्दं लभन्ते इत्याशयः । 'उदरताडम्' इत्यत्र 'परिक्लिश्यमाने चे'ति णमुल् ॥ २२ ॥

अस्राक्षीदिति० यदि प्रजानां पति ब्रह्मा एतत् दृश्यमानं वपुः लोकानां शरीरम् नवस्य नूतनस्य नीलनीरजस्य इन्दीवरस्य दलं छदस्तस्योपान्तोऽग्रभागस्तद्वत् सूक्ष्मा अस्थूला आयता दीर्घा च या त्वक् चर्म तन्मात्रेण केवलं तादृश्या त्वचा अन्तरितामिषम् आवृतमांसम् न अस्राक्षीत् न निर्मितवान् विधाता यदि मांस-पिण्डरूपं वपुरिदं कमलपत्रसूक्ष्मेण दीर्घेण च चर्मणा नावृतं विधाय केवलं मांसमय मेवाकारिदित्यर्थः, (तदा) प्रत्यग्रं नवं क्षरत् स्रवत् यत् अस्रं शोणितं तेन विस्रम् आमगन्धि यत् पिशितं मांसं तस्य ग्रासस्य कवलस्य ग्रहं ग्रहणं गृध्नतः कामयमा-

कहती हूं—जब पिता, पुत्र या मित्र की मृत्यु हो जाती है तब जड़बुद्धि लोग छाती पीट कर शोकसे सन्तप्त हुआ करते हैं, परन्तु जो संसारका असारत्व या परिणति विरसत्व जानते हैं उनके लिये वियोग शमसुख प्रदान करनेवाला तथा वैराग्य दृढ़ करनेवाला हुआ करता है ॥ २२ ॥

(वैराग्यका प्रवेश ।

वैराग्य—(सोचकर) ब्रह्मा नवीन नीलकमल पत्र के समान अतिसूक्ष्म कोमल त्वचा से मांसमय इस शरीरको यदि आवृत्त नहीं करते तो सद्यः प्रवहमान रुधिर तथा मांसके

प्रत्यग्रज्वरदस्रविस्रपिशितग्रासग्रहं गृध्नतो
गृध्रध्वाङ्क्षवृकांस्तनौ निपततः को वा कथं वारयेत् ॥ २३ ॥

अपि च—

श्रियो दोलालोला विषयजरसाः प्रान्तविरसा
विपद्गेहं देहं महदपि धनं भूरि निधनम् ।
बृहच्छोको लोकः सततमबलानर्थबहुला
तथाप्यस्मिन्घोरे पथि बत रता नात्मनि रताः ॥ २४ ॥

सरस्वती—वत्स, एतद्वैराग्यं त्वामुपस्थितम् । तदेतत्संभावय ।

नान् तनौ शरीरे निपततः अहमहमिकया परापततः गृध्रध्वाङ्क्षवृकान् गृध्रान् काकान् वृकांश्च कः कथम् वा वारयेत् निवारयेत् ? केवलं चर्मैवावरकं निर्मितं ब्रह्मणा येनाममांसलोभेन गृध्रादयो न पतन्ति, न चेत् तान् वारयितुं कोऽप्यसिष्यतेति भावः । मांसपिण्डमेवेदं वपुःकेवलं त्वचाऽन्तरितं कृतं, तदत्र वृथाऽऽस्थेति ध्वनिः । एतेन शरीरस्यास्थायित्वप्रतिपादनेन वैराग्यं प्रति प्रवणीकरणमुद्देश्यं प्रकाशितम् ॥ २३ ॥

श्रिय इति० श्रियः सम्पत्तयः दोलालोलाः हिन्दोलवच्चपलाः, विषयजरसाः सांसारिकसुखानि प्रान्तविरसाः अवसानकष्टप्रदाः, देहम् वपुः विपद्गेहम् आपत्तिस्थानम् महदपि धनम् भूरिप्रचुरं निधनम् मरणसाधनम् , लोकः संसारः बृहच्छोकः समधिकशोकपूर्णः, अबला स्त्री अनर्थबहुला विविधानर्थसाधनम् , तथापि एवमुत्पातपरम्परापरीतत्वेऽपि अस्मिन् घोरे भयङ्करे पथि वैषयिकमार्गे रताः संसक्ताः आत्मनि परमे ब्रह्मणि न रताः न लग्नाः बतेति खेदे । सम्पत्तीनां क्षणस्थायित्वे वैषयिकसुखानां पर्यन्तविरसत्वे देहस्यानेकविधविपदाश्रयत्वे धनानां प्राणहारकत्वे लोकानां पुत्रादिवियोगावस्थायां शोकावृतत्वावलोकने च प्रत्यक्षे वनितानाञ्चानर्थसाधनत्वे साधितेऽपि भयावहेऽत्र भववर्त्मनि प्रवर्त्तन्ते लोकानाध्यात्ममार्गे इति खिद्येऽहमिति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २४ ॥

त्वामुपस्थितम्–तव समीपे समागतम् । एतत्–वैराग्यम् । सम्भावय–स्वागतीकुरुष्व ।

लिये ललचाये हुए काक और गृध्रको उसपर गिरनेसे कैसे रोका जाता ? ॥ २३ ॥

और—लक्ष्मी दोलाकी तरह चल है, विषय सुखपर्यन्त विरस हैं, देह विपत्ति का घर तथा धन मौत है, लोक अतिशोकाकुल है, स्त्रियाँ अनर्थ की जड़ें है, फिर भी लोग इस घोर संसार में ही लगे रहते हैं आत्मामें नहीं रमते हैं ॥ २४ ॥

सरस्वती—वत्स यह वैराग्य तुम्हारे पास हाजिर है, इसका मान करो ।

मनः—क्वासि पुत्रक ! ?

वैराग्यम्—(उपसृत्य) अहं भो अभिवादये ।

मनः—वत्स, जातमात्रेण त्वया त्यक्तोऽस्मि । परिष्वजस्व माम् ।

वैराग्यम्—(तथा करोति)

मनः—वत्स, त्वद्दर्शनात्प्रशान्तो मे शोकावेशः ।

वैराग्यम्—तात, कोऽत्र शोकावेशः । यतः—

पान्थानामिव वर्त्मनि क्षितिरुहां नद्यामिव भ्रश्यतां
मेघानामिव पुष्करे जलनिधौ सांयात्रिकाणामिव ।

जातमात्रेण त्वया त्यक्तोऽस्मि—उत्पन्नमात्र एव त्वं मां परित्यक्तवानित्यर्थः । परिष्वजस्व—आलिङ्ग ।

त्वद्दर्शनात्—तव वैराग्यस्य साक्षात्कारात् । प्रशान्तः—मन्दीभूतः । शोकावेशः—खेदस्य वेगः ।

पान्थानामिति० वर्त्मनि मार्गे पान्थानाम् पथिकानाम् इव नद्याम् स्रोतस्विन्याम् भ्रश्यतां पतताम् भूरुहाणाम् वृक्षाणाम् इव, पुष्करे व्योम्नि मेघानाम् जलदानाम् इव, जलनिधौ सागरे सांयात्रिकाणाम् पोतवणिजाम् इव, पितृमातृबन्धुतनयभ्रातृप्रियाणाम् सर्वेषाम् आत्मीयानाम् संयोगः मिलनं यदा विदुषाम् ज्ञानिनां कृते दूरवियोग एव अत्यन्तविच्छेदस्वरूप एव सिद्धस्तदा कः कीदृशः शोकोदयः खेदप्रकाशः ? यथा पथि पथिका मिलन्ति वियुज्यन्ते च, यथा वा पतन्तो वृक्षा नदीपयःपूरेणोह्यमानाः संयुज्यन्ते, वियुक्ताश्च भवन्ति, यथा वा व्योम्नि मेघाः परस्परं मिलित्वा विश्लिष्यन्ति, यथा वा पोतवणिजो जलधौ परेण तादृशेनैव वणिजा सङ्गताः सन्तो विच्छिद्यन्ते, तद्वदेवैष पितृमात्रादिभिस्संयोगः । सम्भविना वियोगेनावरुद्ध इति

मन—कहाँ हो बेटा ?

वैराग्य—(समीप जाकर) यह मैं अभिवादन करता हूँ ।

मन—बेटा, जन्म लेते ही तुमने मुझे छोड़ दिया था, आओ गले लगो ।

वैराग्य—(वैसा करता है)

मन—बेटा, तुम्हें देखनेसे मेरा शोकावेश शान्त हो गया ।

वैराग्य—तात, इसमें शोककी क्या बात है ? क्योंकि—

रास्तेमें पान्थोंकी तरह, नदीमें गिरनेवाले तटस्थ वृक्षोंकी तरह, पुष्करक्षेत्रमें मेघों की तरह और समुद्रमें नौयात्रियोंकी तरह जब माता, पिता, बन्धु, पुत्र, भाई तथा

संयोगः पितृमातृबन्धुतनयभ्रातृप्रियाणां यदा
सिद्धो दूरवियोग एव विदुषां शोकोदयः कस्तदा ॥ २५ ॥

मनः—(सानन्दम्) देवि, एवमेतत् यदाह वत्सः। तथाहि तावदवधारयतु भवती।

निरन्तराभ्यासदृढीकृतस्य
सस्नेहसूत्रग्रथितस्य जन्तोः।
जानासि किंचिद्भगवत्युपायं
ममत्वपाशस्य यतो विमोक्षः ॥ २६ ॥

सरस्वती—वत्स, भावानामनित्यताभावनमेव तावन्ममतोच्छेदस्य प्रथमोऽभ्युपायः। तथाहि—

तस्मिञ्जायमाने विद्वांसो न शोचन्तीत्यर्थः। संयोग एव वियोगञ्जनयतीति येन यस्य संयोगो जायते तेन समं तस्य वियोगोऽप्यवश्यंभावीति हेतोः परिग्रहापायेऽपि विद्वांसो न शोकेनाभिभूयन्त इति साराशयः। 'व्योम पुष्करमम्बरम्' इति, 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इति चामरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

अवधारयतु–निश्चिनोतु। भवती–त्वं सरस्वती।

निरन्तरेति॰ निरन्तराभ्यासदृढीकृतस्य–सार्वदिकानुशीलनबद्धमूलस्य सस्नेहसूत्रग्रथितस्य-प्रेमपूर्णान्तःकरणवृत्तिरूपरज्जुस्यूतस्य जन्तोः प्राणिनः ममत्वपाशस्य ममताबन्धनस्य यतः येन विमोक्षः अवसानम् भवति, अयि भगवति, (तादृशम्) किञ्चिदुपायम् कमपि प्रतिकारम् जानासि अवैषि ? अयि भगवति सरस्वति, किं भवती कमप्येतादृशमुपायं जानाति येन जन्तोः चिरन्तनाभ्यासबद्धमूलः स्नेहरज्जुग्रथितश्च ममत्वबन्धो विघटेतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

भावानाम्–पदार्थानाम्। अनित्यताभावनम्–अस्थायित्वचिन्तनम्। ममतोच्छे-

---

प्रिया का साथ हुआ करता है तब उनसे वियोग तो निश्चित ही है, फिर विद्वानों को इसमें क्या शोक करना है ? ॥ २५ ॥

मन—(आनन्दसे) देवि, यही बात है जो यह बच्चा कह रहा है। आप विश्वास करें। प्राणियों का ममत्वपाश निरन्तराभ्याससे दृढ़ हो गया है और स्नेहसूत्रमें पिरोया हुआ है, क्या आप ऐसा कुछ उपाय जानती हैं जिसके द्वारा उससे छुटकारा प्राप्त हो सके ॥ २६ ॥

सरस्वती—पदार्थों की अनित्यताका विचार ही ममतोच्छेदका प्रथम उपाय है।

न कति पितरो दाराः पुत्राः पितृव्यपितामहा
महति वितते संसारेऽस्मिन् गतास्तव कोटयः।
तदिह सुहृदां विद्युत्पातोज्ज्वलान् क्षणसंगमान्
सपदि हृदये भूयो भूयो निवेश्य सुखी भव ॥ २७ ॥

मनः— भगवति, तव प्रसादादपास्त एव व्यामोहः। किन्तु—

भगवति तव मुखशशधरगलितैर्विमलोपदेशपीयूषैः।
क्षालितमपि मे हृदयं मलिनं शोकोर्मिभिः क्रियते ॥ २८ ॥

दृश्य-ममत्वविघटनस्य प्रथमः—आद्यः। अभ्युपायः—प्रकारः, कारणं वा।

न कतीति॰ अस्मिन् वितते अनादिपरम्परावाहिनि महति संसारे विस्तीर्णे भवे कोटयः कति कियन्तः तव पितरः जनकाः, दाराः स्त्रियः, पुत्राः सुताः, पितृव्याः पितुर्भ्रातरः पितामहाः पितुः पितरश्च, न गताः। अनादावत्र विस्तीर्णे संसारे भूयो भूयो जायमानस्य तव बहुकोटिसंख्यकाः पितरो याताः, तथैव स्त्र्यादयोऽपि सम्बन्धिविशेषा गतवन्तः, संसारे तथैवोत्पद्यविलीयमानानां तव सम्बन्धिनां संख्या न कर्त्तुं शक्याऽस्यानादिपरम्पराऽऽयातत्वादिति भावः। तत् तस्मात् इह संसारे विद्युत्पातोज्ज्वलान् शम्पासम्पातप्रकाशान् सुहृदाम् मित्राणां क्षणसङ्गमान् किञ्चित्कालव्यापकमिलनानि भूयोभूयः पुनः पुनः हृदये स्वचित्ते निवेश्य अवधार्य सपदि सद्यः सुखीभव आनन्दमाप्नुहि। इह संसारे समागमाः सापगमा इति सिद्धान्तसिद्धं संयोगस्य क्षणिकत्वं वारंवारं भावयित्वा निर्वृतिमासादयेति तात्पर्यम्। हरिणीवृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २७ ॥

प्रसादात्—अनुग्रहात्। अपास्तः—अपगतः। व्यामोहः—चित्तव्याक्षेपः, शोकावेश इत्यर्थः।

भगवतीति॰ तव मुखशशधरगलितैः मुखचन्द्रच्युतैः विमलोपदेशपीयूषैः निर्मलोपदेशामृतैः क्षालितं धौतमपि मम हृदयम् शोकोर्मिभिः पुत्राद्याप्तजनवियोगजन्य-

---

न जाने तुम्हारे कितने करोड़ मां, बाप, स्त्री, पुत्र, चाचा, पितामह इस अनन्त संसार चक्रमें गुजर गये होंगे, इसलिये यहाँ आत्मियों की सङ्गति बिजलीकी चमक की तरह क्षण भङ्गुर है, इस बातको बारबार हृदयमें बैठाकर सुखी रहा करो ॥ २७ ॥

मन—भगवति, आपकी अनुकम्पासे हमारा मोह तो दूर हो गया, किन्तु आपके मुखचन्द्रसे निर्गत विमल उपदेशरूप अमृतसे धुल जाने पर भी हमारे हृदयको शोकके वेग कभी कभी मलिन कर देते हैं ॥ २८ ॥

तदस्यार्द्रस्य शोकप्रहारस्य भेषजमाज्ञापयतु भगवती ।

सरस्वती—वत्स, नूनमुपदिष्टमेवात्र मुनिभिः ।

अकाण्डपातजातानामार्द्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम् ॥ २९ ॥

मनः—एवमेव भगवत्येतद्दुर्वारं नु चेतः । यतः—

अप्येतद्वारितं चिन्तासन्तानैरभिभूयते ।
मुहुर्वातहतैर्बिम्बमभ्रच्छेदैरिवैन्दवम् ॥ ३० ॥

खेदतरङ्गैः मलिनं क्रियते लिप्यते । त्वदीयेनोपदेशेन यद्यपि ज्ञानं जन्म लभते परं शोकप्रवाहेण तन्निह्नूयत इत्याशयः । साङ्गपरम्परितरूपकमलङ्कारः ॥ २८ ॥

आर्द्रस्य—सद्योजातस्य । शोकप्रहारस्य—खेदुदुःखस्य । भेषजम्—औषधम् । आज्ञापयतु—आदिशतु ।

अकाण्डेति० अकाण्डपातजातानाम् वाणप्रहारसन्तरैवोत्पन्नानाम् अथवा असमये प्ररूढानाम् आर्द्राणाम् सद्यः समुत्पन्नानाम् मर्मभेदिनाम् हृदयविदारिणाम् गाढशोकप्रहाराणाम् भयङ्करशोकावेशानाम् अचिन्ता अननुध्यानमेवौषधम् प्रतिकारः, अस्तीति शेषः । वाणप्रहारजस्य क्षतस्य किञ्चिदन्यदौषधंस्तान्नाम परं शोकप्रहारस्य पुनर्हृदयं विध्यतो बुद्धेरपसारणमेव निवर्त्तकमिति भावः । अतस्त्वसपीमां परिग्रहेषु पतितांमापदं चिन्तापथादपसार्यैव निर्वृतिमाप्तुं प्रभवसि नान्यथा तेन विस्मरतामिति तात्पर्यम् ॥ २९ ॥

एवमेव भगवत्येतत्—भगवत्योक्तमेव शोकभेषजम् । दुर्निवारम्—दुर्निग्रहम् ।

अप्येतदिति० वारितम् निरुद्धम् (चिन्तां मा कृथा इति शतशः प्रतिबोधितम्) अपि एतत् चित्तम् चिन्तासन्तानैः चिन्ताप्रवाहैः अभिभूयते स्ववशीक्रियते । ऐन्दवम् इन्दोरिदमैन्दवम् चन्द्रमसः बिम्बम् वाताहतैः वायुवशादुपनीतैः अभ्रच्छेदैः मेघखण्डैः इव यथा वायुवशाहृतघनमालया चन्द्रबिम्बमाव्रियते तथैव बहुशो बोध्य-

---

अतः इस ताजे शोकप्रहारकी दवा आप बतावें ।

सरस्वती—मुनिओंने इस विषयमें उपदेश दिया ही है ।

अकाण्डमें आगत हृदयभेदी तथा नूतन गाढ़शोकप्रहारोंका भूल जाना ही महौषध है ॥ २९ ॥

मन—यह तो ठीक है, किन्तु हृदय बड़ा दुर्निवार होता है। क्योंकि—

इसे वारित कर दीजिये, फिर भी यह चिन्ताओंसे अभिभूत हो जाया करता है, जैसे चन्द्रबिम्ब वात-प्रेरित मेघखण्डसे ढक जाया करता है ॥ ३० ॥

सरस्वती—वत्स, श्रूयताम्। चित्तस्यायं विकारः। ततः कस्मिंश्चिच्छान्ते विषये चित्तं निवेश्यताम्।

मनः—तत्प्रसीदतु भगवती। कोऽसौ शान्तो विषयः।

सरस्वती—वत्स, गुह्यमेतत् तथाप्यार्तानामुपदेशे न दोषः।

नित्यं स्मरञ्जलदनीलमुदारहार-
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम्॥ ३१॥

मानसपि मनश्चिन्तासततिभिरभिभूयते इति भावः।] ऐन्दवं बिम्बमिवेत्युपमया स्वतो विमलत्वं चिन्तासन्तानस्योपमया च विषयगतचिन्तायास्तद्वैमल्यावरकत्वं ध्वन्यते॥ ३०॥

विकारः—विषयोन्मुखत्वलक्षणः। चित्तं निर्विषयं स्थातुमशक्तं तेन तादृशे विषये तस्यासक्तिर्विधीयतां येन तस्य स्वरूपं स्मृतिपथात्रापेयादिति वक्ष्यति—कस्मिंश्चिदिति।

गुह्यम्—गोपनीयम्। आर्त्तानाम्—पीडितानाम्।

नित्यमिति॰ नित्यं सदा जलदनीलम् मेघश्यामलकान्तिम् उदारः सुन्दरो यो हारः मुक्तामाला केयूरं बाहुभूषणम् कुण्डले कर्णाभरणे किरीटं मुकुटं तेषां धरं धारयितारम्। हरिम् विष्णुम् स्मरन् ध्यायन् अस्तशोकम् शान्तसर्वदुःखम् ब्रह्म वा ग्रीष्मे तपर्त्तौ सुशीतम् अतिशीतलम् ह्रदम् जलाशयम् इव प्रविश्य आसाद्य आत्मनीनाम् स्वीयाम् स्वरूपप्राप्तिरूपाम् निर्वृतिं शान्तिम् भज आप्नुहि। अयमाशयः—जलदश्यामलतनो रमणीयहारकेयूरमुकुटधरस्य भगवतो विष्णोः स्मरणमनवरतमाचरन् तत्प्रभावोदितचित्तशुद्धिः सर्वतापहरं ग्रीष्मे शीतं जलाशयमिव ब्रह्मस्वाभेदेनाधिगम्य स्वरूपावाप्तिलक्षणां शाश्वतिकीं शान्तिमासाद्य कृतित्वमाकलयेत्यर्थः। पूर्वं साकारभावनया चित्तस्थैर्ये जाते पश्चान्निराकारे प्रवेशो भवति, तदनुरोधेनात्र विष्णुभक्तेः पूर्वकर्त्तव्यतोक्ता, लक्ष्यं स्वात्मज्ञानमेवेति बोध्यम्। यथा नवधानुष्को-

---

सरस्वती—यह तो चित्तका विकार है, अतः चित्तको किसी शान्तविषयमें लगा दो।

मन—आप कृपाकर बतावें, वह शान्तविषय कौन-सा है?

सरस्वती—यद्यपि यह गोप्य है, फिर भी आर्त्तोंको बतानेमें कुछ दोष नहीं है।

सदा मेघश्यामलवर्ण हारकेयूरकुण्डलधारी भगवान्‌का स्मरण करते हुए अथवा ग्रीष्म ऋतुमें सुशीतल जलाशयके सदृश वीतशोक ब्रह्ममें अभेदभावनाके द्वारा प्रवेश कर आत्मशान्ति प्राप्त करो॥ ३१॥

मनः—एवमेतत् । संप्रति हि—

नार्यस्ता नवयौवना मधुकरव्याहारिणस्ते द्रुमाः
प्रोन्मीलन्नवमल्लिकासुरभयो मन्दास्त एवानिलाः ।
अद्योदात्तविवेकमार्जिततमःस्तोमव्यलीकान्पुन-
स्तानेतान्मृगतृष्णिकार्णवपयःप्रायान्मनः पश्यति ॥ ३२ ॥

सरस्वती—वत्स, यद्यप्येवं तथापि गृहिणा मुहूर्तमप्यनाश्रमवर्तिना न भवितव्यम् । तदद्यप्रभृति निवृत्तिरेव ते सधर्मचारिणी ।

ऽतिस्थूलमेव लक्ष्यं प्रागुद्दिशति क्रमशश्चाभ्यासपरिपाके जायमानेऽणून्यपि लक्ष्याणि विध्यति तथैव विष्णुभक्त्याऽवाप्तहृदयस्थैर्यः श्रवणमननिदिध्यासनादिषु लिप्यन् परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति बोधयितुमयं क्रमन्यासः कृतः ॥ ३१ ॥

नार्यस्ता इति० ताः अनुभूतपूर्वाः नवयौवनाः युवत्यः नार्यः स्त्रियः, ते मधुकरव्याहारिणः भृङ्गमुखरिताः द्रुमाः वृक्षाः प्रोन्मीलन्तीनां विकासं भजन्तीनां नवमल्लिकानां सुरभिः सुगन्धः येषु तादृशाः विकसन्मल्लिकाकुसुमसुगन्धियुताः मन्दाः अतीव्रवाहिनः त एव प्राक्तनाविलक्षणा एव अनिला वायवः । (किन्तु जातबोधोदयस्य मम कृते) अद्य अधुना मनः उदात्तेन निर्मलेन विवेकेन वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन मार्जितम् अपसारितं तमःस्तोममज्ञाननिवहस्तेन व्यलीकान् असत्यान् एतान् विषयान् मृगतृष्णिकार्णवपयःप्रायान् मृगतृष्णाजलवदसत्यप्रतिभासान् पश्यति । अज्ञानावस्थायां येषां वनितादीनां सुखसाधनतया ज्ञानं जायते स्म सम्प्रति ज्ञानोदये तेषामेवासत्यत्वप्रकारकज्ञानविषयतया नावर्जकत्वं किन्तु विरागजनकत्वमेवेति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ३२ ॥

यद्यप्येवम्—नार्यो नानन्दप्रदाः किन्तु बन्धसाधनान्येवेति त्वदुक्तं यद्यपि न मिथ्या । गृहिणा—गृहस्थेन । मुहूर्त्तम्—क्षणम् । अनाश्रमिणा—अस्त्रीकेण । गृहस्थः सततं स्त्रियं रक्षेद्दम्पत्योः सहाधिकारात्, अग्निहोत्रादिकर्मसु भार्यां विना वैगुण्य-

---

मन—ठीक है, इस समय—

नवयौवना नारियाँ, भ्रमरमुखरित वृक्षगण, विकसित नवमल्लिकासे सुरभित मन्दानिल, अब यह मन इन सभीको पवित्र विवेक द्वारा अज्ञानको समूल दूरकर मृगतृष्णा जलसदृश देख रहा है ॥ ३२ ॥

सरस्वती—वत्स, यद्यपि तुम्हारा कथन सत्य है, फिर भी गृहस्थको अनाश्रमी नहीं रहना चाहिये, अतः इस समयसे निवृत्ति तुम्हारी धर्मपत्नी रहेगी ।

मनः—(सलज्जम्) यदादिशति देवी।

सरस्वती—शमदमसंतोषादयश्च पुत्रास्त्वामनुचरन्तु। यमनियमादयश्चामात्याः। विवेकोऽपि त्वदनुग्रहादुपनिषद्देव्या सह यौवराज्यमनुभवतु। एताश्च मैत्र्यादयश्चतस्रो भगिन्यो भगवत्या विष्णुभक्त्या तव प्रसादनाय प्रहितास्ताः सम्प्रसादमनुमानय।

मनः—यदादिशति देवी। मूर्ध्नि निवेशिताः सर्वा एवाज्ञाः। (इति सहर्षं पादयोः पतति)

सरस्वती—साम्राज्यमनुतिष्ठस्व। एते च यमनियमादयः सादरमायुष्मता द्रष्टव्याः। एतैरेव सहायुष्मान्यौवराज्यमधितिष्ठतु। त्वयि च

संभवादिति भावः। अनुचरन्तु–सेवन्ताम्। अमात्याः–मन्त्रिणः। त्वदनुग्रहात्–तव कृपावशात्। यौवराज्यम्–युवराजस्य पदम् कार्यं वा। मैत्र्यादयः–मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा इति चतस्रः। प्रसादनाय–आनन्दाय। सम्प्रसादम्–प्रसन्नभावेन। अनुमानय–प्रसन्नतामाधातुमनुजानीहि।

मूर्ध्नि निवेशिताः–शिरसि स्थापिताः।

साम्राज्यम्–सर्वाधिपत्यम्। अनुतिष्ठस्व–उपभुङ्क्ष्व। आयुष्मता–भवता। एतैः–यमनियमादिभिः। स्वास्थ्यम्–प्रकृतिस्थताम्, विषयसम्बन्धराहित्यम्। आपन्ने–प्राप्तवति। क्षेत्रज्ञः–आत्मा। स्वाम् प्रकृतिम्–आत्मनः परमात्मतारूपं स्वभावम्। आपत्स्यते–प्राप्स्यति। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इति वचनेन

मन—(लज्जापूर्वक) जो आपकी आज्ञा।

सरस्वती—शम दम सन्तोष आदि पुत्र तुम्हारे अनुचर हों, यम नियम आदि मन्त्री रहें, विवेक भी तुम्हारे अनुग्रहसे उपनिषद् देवीके साथ यौवराज्यका अनुभव करे। ये मैत्री आदि चार बहनें भगवती विष्णुभक्तिद्वारा तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये भेजी गई हैं, उनसे प्रसन्नताके साथ बरतो।

मन—देवी की जो आज्ञा। आपकी सभी आज्ञायें हमारे लिये शिरोधार्य हैं। (सहर्ष चरणोंपर गिरता है)

सरस्वती—साम्राज्य भोग करो। इन यम नियम आदिको सादर देखा करना। इन्हींके साथ तुम यौवराज्यका भोग करो। तुम स्वस्थ हुए कि आत्मा भी अपनी स्थितिपर

स्वास्थ्यमापन्ने क्षेत्रज्ञोऽपि स्वां प्रकृतिमापत्स्यते । यतः—

त्वत्सङ्गाच्छाश्वतोऽपि प्रभवलयजरोपप्लुतो बुद्धिवृत्ति-
ष्वेको नानेव देवो रविरिव जलधेर्वीचिषु व्यस्तमूर्तिः ।
तूष्णीमालम्बसे चेत्कथमपि वितता वत्स संहृत्य वृत्ती-
र्भात्यादर्शे प्रसन्ने रविरिव सहजानन्दसान्द्रस्तदात्मा ॥३३॥

मनसि विषयोपरक्ते बन्धस्तस्य तदुपरागापगमे च मोक्ष इति सिद्धान्तमनुसृत्यैवा-न्त्यो ग्रन्थो बोध्यः ।

त्वत्सङ्गादिति० शाश्वतः नित्यनिर्विकारः अपि देवः आत्मा त्वत्सङ्गात् तव मनसः सङ्गात् तदुपक्लृप्तविषयसंयोगात् प्रभवलयजरोपप्लुतः प्रभवो जन्म, लयो मृत्युः, जरा वार्धकम्, ताभिरुपप्लुतः उपरञ्जितः सम्बन्धवत्त्वं गमितः एकः (अपि) जलधेर्वीचिषु सागरोर्मिषु रविः सूर्यं इव बुद्धिवृत्तिषु अन्तःकरणवृत्तिषु नाना बहुत्वमापन्नः इव व्यस्तमूर्त्तिः नानात्वं गतः (भवतीति शेषः।) यथैकोऽपि रवि-स्सागरतरङ्गेषु प्रतितरङ्गं पृथगिवावभासमानः सन् नाना इव प्रतीयते तद्वन्मनः-सम्बन्धमहिम्ना भिद्यमानास्वन्तःकरणवृत्तिषु तदुपाधिमहिम्नाऽऽत्मन एकस्यापि भिन्नत्वप्रतिभासो भवति, मनसा प्रतिशरीरं भिन्नेन ज्ञानानि जन्यन्ते तैश्च भिन्ना नानात्मानोऽवभासन्ते, तत्रान्तःकरणवृत्तिभेदस्तरङ्गभेदवत्, सूर्यवच्चात्मन एकत्व-मिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसाम्यमवगन्तव्यमित्याद्यपादद्वयार्थः । वत्स, कथमपि केनापि अदृष्टमहात्मसङ्गतिसुकृतोद्रेकाद्यन्यतमकारणसमवधानात्मना प्रकारेण वित-ताः भिन्नभिन्नविषयसङ्गता वृत्तीः अन्तःकरणवृत्तीः संहृत्य प्रतिनिवर्त्य यदि त्वं तूष्णीमालम्बसे निवर्त्तितविषयसम्पर्कतामवलम्बसे तदा प्रसन्ने निर्मले आदर्शे रविरिव आत्मा (स्वस्वरूपेण) सहजानन्दसान्द्रः स्वाभाविकानन्दनिर्भरः (सञ्जा-यते) इति शेषः । तव मनसो विषयविनिवृत्तौ त्वद्द्वारकविषयसम्बन्धजुष आत्म-नोऽपि विषयसम्बन्धनिवृत्तेः क्लृप्ततया तद्धेतुकनानात्वापगमे स्वरूपावस्थानरूप-बन्धनिवृत्तिर्जायत इति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

पहुंच जायेंगी । क्योंकि—

शाश्वत तथा अद्वितीय होकर भी आत्मा तुम्हारे संसर्गसे जन्ममृत्युजराका भाजन तथा बुद्धिवृत्तिप्रतिफलितभावेन अनेक दीख पड़ती है जैसे समुद्रतरङ्गोंमें सूर्य अनेक दीखता है । यदि तुम अपनी वृत्तियोंको समेटकर शान्त हो जाते हो तो आत्मा स्वाभाविक आनन्दरूपमें प्रकाशित होने लगेगी जैसे निर्मल दर्पणमें सूर्य प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

तद्भवतु । ज्ञातीनामुदकदानाय नदीमवतरामः ।

मनः—यदाज्ञापयति देवी ।

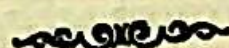
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रबोधचन्द्रोदये वैराग्यप्रादुर्भावो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।



ज्ञातीनाम्–दायादानाम् , कामादीनामिति तात्पर्यम् । उदकदानाय–जलाञ्जलिं दातुम् । जलाञ्जलिदानेन निरन्वयनाशं प्रतीङ्गितं कृतं वेद्यम् । एतेन कर्मणि विरागस्याप्रतिबन्धकत्वं समर्थितम् , उक्तश्चायमर्थो याज्ञवल्क्येन–'ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि यावद्देहस्य धारणम् । तावद्वर्णाश्रमाह्नेषु कर्त्तव्यं कर्म मुक्तये' इति ॥ अवतरामः–प्रविशामः ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते 'प्रबोधचन्द्रोदय'–'प्रकाशे' पञ्चमाङ्क–'प्रकाशः'



अस्तु । मृतज्ञातिबन्धुओंको तिलाञ्जलि देनेके लिये नदीमें उतरें ।

मन—देवीका जैसा आदेश ।

(सबका प्रस्थान)

पञ्चम अङ्क समाप्त ।



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शान्तिः)

शान्तिः—आदिष्टास्मि महाराजविवेकेन । यथा वत्से, विदितमेव भवत्या किल ।

अस्तं गतेषु तनयेषु विलीनमोहे
वैराग्यभाजि मनसि प्रशमं प्रपन्ने ।
क्लेशेषु पञ्चषु गतेषु समं समीहां
तत्त्वावबोधमभितः पुरुषस्तनोति ॥ १ ॥

तद्भवती त्वरिततरं देवीमुपनिषदमनुनीय मत्सकाशमानयस्विति ।

शान्तिः—(विलोक्य) ममाम्बा सहर्षं किमपि मन्त्रयन्ती इत एवागच्छति ।

आदिष्टास्मि–आज्ञप्तास्मि । भवत्या–त्वया शान्त्या ।

अस्तमिति० तनयेषु पुत्रेषु कामादिषु अस्तंगतेषु मृतेषु विलीनमोहे नष्टमोहे वैराग्यभाजि विरागयुते मनसि चित्ते प्रशमं शान्तिं प्रपन्ने समाश्रितवति पञ्चसु अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशनामकेषु क्लेशेषु समं समकालमेव समीहांगतेषु वासनारूपतां प्राप्तेषु पुरुषः क्षेत्रज्ञोऽयमात्मा अभितः सर्वतः तत्त्वावबोधं स्वरूपज्ञानं तनोति विस्तारयति । कामादिनाशे मोहनिवृत्तौ वैराग्योदये शान्तियुक्ते च मनसि जाते क्लेशाः वासनाशेषतयाऽवतिष्ठन्ते पुरुषस्य च सर्वतः स्वरूपज्ञानं जायते इति । स्थितप्रज्ञस्वरूपमिदं यथोक्तम्—'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १ ॥

त्वरिततरम्–अतिशीघ्रम् । अनुनीय–प्रबोध्य । मत्सकाशम्–मत्पार्श्वम् । ममाम्बा–मम माता श्रद्धा । मन्त्रयन्ती–भाषमाणा । इतः–मदधिष्ठितं देशम् ।

(शान्तिका प्रवेश)

शान्ति—महाराज विवेकने आदेश दिया है कि वत्से, तुम जानती ही हो कि—

पुत्रोंके अस्त हो जानेपर मोहरहित तथा विरक्त मनके प्रशमापन्न हो जानेसे पञ्चक्लेशोंके मिट जानेके कारण पुरुष तत्त्वावबोधकी इच्छा कर रहा है ॥ १ ॥

इसलिये तुम अतिशीघ्र देवी उपनिषद्को मनाकर मेरे पास ले आओ ।

शान्ति—(देखकर) मेरी माँ प्रसन्नतापूर्वक कुछ कहती हुई इधर ही आरही है ।

(ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धा—अये, अद्य खलु राजकुलमारोग्ययुक्तमालोक्य चिरेण मे पीयूषेणेव लोचने पूर्णे।

असतां निग्रहो यत्र सन्तः पूज्या यमादयः।
आराध्यते जगत्स्वामी वश्यैर्देवानुजीविभिः॥ २॥

शान्तिः—(उपसृत्य) अम्ब, किं मन्त्रयन्ती प्रस्थिता।

श्रद्धा—(अये, अद्येत्यादि पठति)

शान्तिः—अथ मनसि कीदृशी स्वामिनः पुरुषस्य प्रवृत्तिः।

श्रद्धा—यादृशी वध्यस्य ग्राह्यस्य भवति।

राजकुलम्—विवेकपरिवारम्। आरोग्ययुक्तम्—स्वस्थम्। पीयूषेण—अमृतेन। राजकुलं स्वस्थं दृष्ट्वा तादृशी तृप्तिर्मदीयाभ्यां नयनाभ्यामासादिता यथाऽऽभ्यामसृतसेकोऽनुभूतः स्यादिति।

असतामिति० यत्र यस्मिन् राजकुले असतां मोहादीनां निग्रहो दण्डः, यत्र च यमादयः सन्तः विवेकानुगतत्वेन पूज्याः सत्कारभाजः, यत्र जगत्स्वामी परमात्मा वश्यैः शमादिभिः करणैः देवानुजीविभिः परमात्मानुगामिभिः जीवैः कर्तृभिः आराध्यते पूज्यते स्वाभिन्नत्वेन भावनमेवात्र जीवकर्तृकं परमात्मध्यानम्॥ २॥

प्रस्थिता—चलिताऽसि, त्वमिति शेषः।

मनसि—मनोविषये। प्रवृत्तिः—व्यवहारः। मनसा सह पुरुषः केन प्रकारेण वर्त्तयतीत्यर्थः। वध्यस्य—वधार्हस्य। ग्राह्यस्य—गृहीतस्य। यथा निग्रहीतुं धृते समुचितो व्यवहारस्तथैव मनसि पुरुषस्य व्यवहारोऽस्तीति भावः।

(श्रद्धाका प्रवेश)

श्रद्धा—अये, आज राजकुलको स्वस्थ देखकर बहुत दिनोंके बाद मेरी आँखें अमृतसे पूर्ण-सी हो रही हैं।

जहाँ दुष्टोंका निग्रह होता हो और यम नियम आदि सज्जनोंका सत्कार किया जाता है और जितेन्द्रिय तथा देवानुजीवी लोग जगत्पिताकी आराधना करते हैं॥ २॥

शान्ति—माँ, तुम क्या कहती जारही थी।

श्रद्धा—('अये, अद्य' इत्यादि दुहराती है)

शान्ति—अब मनके लिये स्वामीके हृदयमें क्या स्थान है?

श्रद्धा—जैसा अपराधी वध्य व्यक्तिके पकड़े जानेपर उसके लिये स्थान होता है।

शान्तिः—तत्किं स्वाम्येव साम्राज्यमलंकरिष्यति।

श्रद्धा—एवमेतत् यथात्मानमनुसंधत्ते ततो देव एव स्वाराट् सम्राट् च भवति।

शान्तिः—अथ देवस्य मायायां कीदृशोऽनुग्रहः।

श्रद्धा—ननु निग्रह इति वक्तव्ये कथमनुग्रहः शक्यते वक्तुम्। देवोऽपि हि सर्वानर्थबीजमियं माया सर्वथा निग्राह्येति मन्यते।

शान्तिः—यद्येवं का तर्हीदानीं राजकुलस्य स्थितिः।

साम्राज्यम्–आत्मारामत्वम्। मनोनिगृह्यायमात्माऽऽत्मारामतालक्षणं साम्राज्यमधिकरिष्यति कच्चिदिति प्रश्नः।

यथा–यतः। आत्मानमनुसन्धत्ते प्रपञ्चभिन्नत्वमास्थाय परमात्माभेदेन भावयति। स्वाराट्–स्वस्मिन्नासमन्ताद्राजत इति स्वाराट्। स्वाराट्पदस्य स्वात्माराम इत्यर्थः। सम्राट्–सम्यक्चिदानन्दाभेदेन राजत इति सम्राट्। ज्ञानस्वरूप इत्यर्थः। उक्तञ्च—'स एष एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति' इति।

मायायाम्–मूलाविद्यायाम्। तद्विषये इति बोध्यम्। अनुग्रहः–कृपा। निग्रहः–वधबन्धादिदण्डः। मायायां विक्षेपकारिण्यां निग्रहः कीदृश इति प्रष्टव्ये कीदृशोऽनुग्रह इति प्रश्नो न युज्यत इति प्रसङ्गार्थः। सर्वानर्थबीजम्–सर्वेषामनर्थानां विषयासङ्गादिरूपाणां मूलकारणम्। मायावशादेवात्मनोऽनर्थेषु प्रवृत्तिरिति माया न कृपास्थानं किन्तु दण्डपात्रमिति तात्पर्यम्।

का स्थितिः ?–कीदृशी व्यवस्था ? मनसि बद्धे मायायां च निगृह्यमाणायां राजकुलं, कथं व्यवस्थामारचयति, तयोरेवेतः पूर्वं व्यवस्थाधिकृतत्वादिति प्रश्नः।

शान्ति—तो क्या स्वामी ही साम्राज्य अलङ्कृत करेंगे।

श्रद्धा—जिस प्रकार वह अपना अनुसन्धान कर रहे हैं उससे पता चलता है कि स्वामी ही स्वराट् और सम्राट् दोनों होंगे।

शान्ति—और देवकी कृपा मायापर कैसी रहती है ?

श्रद्धा—निग्रह कहना चाहिये उसकी जगह अनुग्रह कैसे कहा जा सकता है ? देवकी भी यही धारणा है कि सभी अनर्थों की जड़ यह माया ही है। इसे सभी प्रकारसे निगृहीत करना चाहिये।

शान्ति—जब यह बात है तो इस समय राजकुलकी क्या स्थिति है ?

श्रद्धा—शृणु,

नित्यानित्यविचारणाप्रणयिनी वैराग्यमेकं सुहृ-
त्स्निमत्राणि यमादयः शमदमप्रायाः सहाया मताः ।
मैत्र्याद्याः परिचारिकाः सहचरी नित्यं मुमुक्षा बला-
दुच्छेद्या रिपवश्च मोहममतासङ्कल्पसङ्गादयः ॥ ३ ॥

शान्तिः—अथ धर्मे स्वामिनः कीदृशः प्रणयः ।

श्रद्धा—पुत्रि, वैराग्यसंनिकर्षात्प्रभृति नितान्तमिहामुत्रफलभोगविरस एव स्वामी । तेन,

---

नित्यानित्येति० किं नित्यं किमनित्यमिति प्रसङ्गे ब्रह्म नित्यं ततोऽन्यदनित्यमिति विचारणा भावना एव प्रणयिनी स्निग्धा प्राणप्रिया, एकं वैराग्यम् केवलं विषय-विरागः, सुहृत् मित्रम् ; यमादयः यमनियमप्राणायामप्रभृतयः, मित्राणि सखायः, शमदमप्रायाः शमप्रमुख्याः, सहायाः सहकारिणः, मैत्र्याद्याः मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाश्च-तस्रः परिचारिकाः दास्यः, मुमुक्षा मुक्तिकामना नित्यं सततं सहचरी पार्श्ववर्त्तिनी, मोहममतासङ्कल्पसङ्गादयश्च रिपवः बलात् प्रसह्य उच्छेद्याः विनाशनीयाः । कस्यापि राज्ञः परिवारे स्त्रियो मन्त्रिणः सुहृदादयश्च तिष्ठन्ति तथाऽस्यात्मनः परिवारे—नित्या-नित्यवस्तुविचारणा प्राणप्रिया, वैराग्यमेकं सदानुगामितया सुहृत्, यमादयो मित्राणि, शमदमादयः सहायकाः, मैत्र्यादयः परिचारिकाः, मुमुक्षा च नित्यपार्श्व-वर्त्तिनी, शत्रुभूताश्च ममतादय उच्छेद्या इत्याशयः । यमादयो योगोक्ताः—यमनिय-मासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयः । शमः—मनोनिग्रहः, दमः—इन्द्रिय-सामान्यनिग्रहः, मोहः—अतस्मिंस्तद्बुद्धिः, ममता—स्वीयत्वाभिमानः, सङ्कल्पो—मन-सोऽभिनिवेशः, सङ्गो विषयसाम्मुख्यम् । स्पष्टमन्यत् । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥३॥

धर्मे—धर्मविषये । स्वामिनः—पुरुषस्य । धर्मं केन प्रकारेण पश्यति पुरुष इति प्रश्नः । वैराग्यसन्निकर्षात्—वैराग्यस्य समीपस्थत्वात् । प्रभृति—आरभ्य । इहामुत्र

श्रद्धा—सुनो—

नित्यानित्यवस्तु विचारणा ही प्रिया है, वैराग्य ही एकमात्र मित्र है, यम, नियम आदि साथी तथा शम, दम प्रभृति सहाय हैं । मैत्री आदि वृत्तियाँ परिचारिकायें हैं, मुमुक्षा सदा साथ रहती है, मोह, ममता, सङ्कल्प, सङ्ग आदि शत्रु हैं जिनका उच्छेद करना है ॥३॥

शान्ति—और धर्मके विषयमें स्वामीका कैसा स्नेह है ?

श्रद्धा—पुत्रि, जबसे विराग आगया है तबसे स्वामी इहामुत्र फलभोग विरक्त ही रहा करते हैं ।

स नरकादिव पापफलाद्भयं भजति पुण्यफलादपि नाशिनः ।
इति समुज्झितकामसमन्वयं सुकृतकर्म कथंचन मन्यते ॥ ४ ॥

किन्त्वसौ प्रत्यक्प्रवणतां स्वामिनो विचिन्त्य कृतकर्त्तव्यमिवात्मानं मत्वा स्वयमेव धर्मः शून्यव्यापारोऽभूत् ।

शान्तिः—अथ तानुपसर्गान् गृहीत्वा, महामोहो निलीय स्थितस्तेषां को वृत्तान्तः ।

फलभोगविरसः–इहभोगः–सांसारिकविषयसुखावाप्तिः, अमुत्रभोगः–स्वर्गादिसुखानुभवः । तयोर्विरसः–विरक्तः । मुमुक्षोः साधनचतुष्टयेऽन्यतमोऽयमिहामुत्रफलभोगविराग उक्तो वेदितव्यः ।

स नरकादिवेति० सः विरागयुक्तः पुरुषः पापफलात् पापप्रभवात् नरकात् निरयात इव नाशिनः विनश्वरान् पुण्यफलात् स्वर्गादेरपि भयं भजति बिभेति, 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिश्रुत्या स्वर्गादेरपि क्षयित्वमवधार्य पापादिव पुण्याद् विरज्यतीति भावः । इति–(एवं सर्वेषामपि कर्मणां त्याज्यत्वेऽकर्मतापसङ्गे तद्वारणाय) समुज्झितकामसमन्वयं कामसम्बन्धं विहाह निष्कामभावेन सुकृतकर्म पुण्यजनकं कर्म कथञ्चन जीवने नान्तरीयकतया केनापि प्रकारेण मन्यते कर्त्तव्यत्वेन जानाति । विरागयुक्तस्य पापनाशवत् पुण्यनाशोऽप्यभिमतो भवति, पापपुण्याभ्यामुभाभ्यामपि जननीये देहसम्बन्धे क्लेपादतस्तयोर्द्वयोरपि परिहेयत्वेऽकामभावेन सुकृतानुष्ठानं पापक्षयाय भवति कर्त्तव्यं योगिनः, यथोक्तं 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्' इति ॥ ४ ॥

असौ-धर्मः । प्रत्यक्प्रवणताम्–आत्मैकनिष्ठताम् । विचिन्त्य–तच्चेष्टाभिस्तर्कयित्वा, कृतकर्त्तव्यम्–कृतकृत्यम् । काम्यकर्मफलत्यागेन नित्यनैमित्तिकानुष्ठानजनितोऽपूर्वाख्यो धर्मः विरक्तस्यान्तःकरणशुद्धिं सम्पाद्य ततः परं कृत्याभावात्स्वतो विरमतीति तात्पर्यम् ।

तान्–कामादीन् । उपसर्गान्–सहावस्थायिनः । गृहीत्वा–सहादाय । निलीय–

उनको पापफल नरकसे उतना ही भय होता है जितना नश्वर पुण्यफल स्वर्गसे । अतः सकल काम्यफल निरभिलाष होकर वह किसी तरह केवल नित्यकर्म किया करते हैं ॥ ४ ॥

किन्तु जब धर्मने स्वामीको आत्मनिष्ठ देखा तो उसने अपनेको कृतकर्त्तव्य समझ लिया और व्यापार करना बन्द कर दिया ।

शान्ति—जिन उपसर्गों को साथ लेकर महामोह छिप गया था उनकी क्या स्थिति है ?

श्रद्धा—पुत्रि, तथा दुरवस्थागतेनापि महामोहहतकेन स्वामिनः प्ररोचनाय मधुमत्या विद्यया सहोपसर्गाः प्रेषिताः। अयमभिप्रायः। यद्येतेष्वासक्तः स्वामी विवेक उपनिषच्चिन्तामपि न करिष्यतीति।

शान्तिः—ततस्ततः।

श्रद्धा—ततस्तैर्गत्वा कापि स्वामिन्यैन्द्रजालिकी विद्योपदर्शिता तथाहि,

शब्दानेष शृणोति योजनशतादाविर्भवन्ति स्वत-
स्तास्ता वेदपुराणभारतकथास्तर्कादयो वाङ्मयाः।

प्रच्छन्नो भूत्वा। तेषाम्—मोहोपसर्गभूतानाम् कामादीनाम्।

तथा दुरवस्थांगतेन—तादृशीं दुर्गतिमापन्नेन। स्वामिनः—विवेकस्य। प्ररोचनाय—विषयोन्मुखीकरणद्वारा वञ्चनाय। मधुमत्या विद्यया—मधुमतीनामिकया विद्यया। उपसर्गाः—स्वानुचराः कामादयः। अयमभिप्रायः—मोहस्य मधुमतीविद्योपेतस्वोपसर्गाणां निरञ्जनपुरुषपार्श्वे प्रेषणेऽयं तस्य गूढोऽभिसन्धिः। एतेषु—मधुमतीविद्यादिषु। आसक्तः—अनुरक्तः। उपनिषच्चिन्ताम्—मोक्षसाधनब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रदवेदभागानुध्यानम्। एकत्रासक्तस्य परविस्मरणं स्वाभाविकमिति तात्पर्येणायं ग्रन्थः। बृहदारण्यके सप्तमो मधुकाण्डः, मधुनामेन्द्रियाधिष्ठानदेवता, तदुपासनाऽभिधायित्वात्तदुपनिषदपि मधुमतीत्युच्यते। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इति मनस उपासनया जीवात्मनो मनस्त्वसिद्धेर्मनोराज्यमुपासनाफलम्, चक्षुरुपासनया दूरदर्शित्वम्, श्रोत्रोपासनया दूरश्रवणम्, वागुपासनया नूतनवाग्वैखरीविजृम्भणम्, पाण्युपासनया पाणिना-सूर्यमण्डलस्पर्शः, पादोपासनया पादाभ्यां समुद्रसन्तरणमित्यादयो लौकिक्यः सिद्धयो मधुमत्याः फलं बोध्यम्। अनया च पुरुषो मोहयित्वा मोक्षमार्गादपाक्रियत इत्यस्यामोहपक्षगत्वं दर्शितम्। तैः—मोहप्रेषितमधुमतीसहचरकामादिभिः। ऐन्द्रजालिकी—अविद्यमानार्थप्रकाशनरूपा। सर्वैः संभूय स्वामिनीभावं लम्भिता इन्द्रजालविद्या पुरुषस्याग्रे समुपस्थापितेत्यर्थः, तद्विद्यागुणान् वक्ष्यति—

शब्दानिति० एष मधुमत्या विद्ययोपपन्नः पुरुषः योजनशतात् अतिव्यवहितदेशात् शब्दान् शृणोति, स्वतः विनैव परिश्रमं तास्ताः प्रसिद्धाः वेदाः त्रय्य-

---

श्रद्धा—पुत्रि, उस तरहकी दुरवस्थामें पड़कर भी दुष्ट महामोहने स्वामीको फुसलानेके लिये मधुमती विद्याके साथ उपसर्गोंको भेजा। इसका यह आशय था कि यदि इनपर स्वामी आसक्त हो जायेंगे तो उपनिषद्की चिन्ता भी नहीं करेंगे।

शान्ति—इसके बाद ?

श्रद्धा—इसके बाद वह सभी आकर स्वामीके सामने इन्द्रजाल विद्या दिखायीं। यह सौ योजन दूरका शब्द सुन लेता है, इसको स्वतः वेद, पुराण तथा भारतकी कथायें

ग्रथ्नाति स्वयमिच्छया शुचिपदैः शास्त्राणि काव्यानि वा
लोकान्भ्राम्यति पश्यति स्फुटरुचो रत्नस्थलीर्मैरवीः ॥ ५ ॥

मधुमतीं च भूमिमापन्नः स्थानाभिमानिनीभिर्देवताभिरुपच्छन्द्यते भो इहोपविश्यताम्। नात्र जन्ममृत्यू। अनुपाधिरमणीयो देशः। एष त्वामुपस्थितो विविधविलासलावण्यपुण्यमयो मङ्गलार्थव्यग्रपाणिः प्रणयपेशलो विद्याधरीजनः।

तदेहि, यतोऽत्र—

कनकसिकतिलस्थलाः स्रवन्तीः पृथुजघनाः कमलानना वरोरूः।

ऋुसामाथर्वलक्षणाः, पुराणानि तानि तानि प्रसिद्धान्येव, भारतकथा महाभारतीयमितिवृत्तम्, ताः, तथा तर्कादयः वाङ्मयाः शास्त्राणि आविर्भवन्ति प्रकाशन्ते। शुचिभिः व्याकरणसंस्कृतैः पदैः सुप्तिङन्तलक्षणैः शास्त्राणि काव्यानि वा यदृच्छया यथेच्छम् ग्रथ्नाति प्रबध्नाति, लोकान् भूर्भुवःस्वरादीन् भ्राम्यति गच्छति, मेरोरिमाः मैरवीः स्फुटरुचः देदीप्यमानाः रत्नस्थलीः रत्नखचितान् भूभागान् पश्यति। तदेवं भूयस्यै सिद्धै ह्यायै प्रभवन्त्या अस्या मधुमत्याः प्रेषणं कामादीनां महास्त्रं वेदितव्यम्। सिद्धिवर्त्मनि कियद्दूरं गता लौकिकीभिः सिद्धिभिः प्रतिबध्यन्ते जना इति प्रदर्शयितुमयं ग्रन्थो बोध्यः ॥ ५ ॥

मधुमतीञ्च भूमिम्—मधुमत्या सिद्धया कल्पितां सिद्धिस्थलीम्। आपन्नः—प्राप्तः। स्थानाभिमानिनीभिः—तत्तत्स्थानाधिष्ठात्रीभिर्देवताभिः। उपच्छन्द्यते—सेव्यते तेनैव प्रकारेण वञ्च्यते च। वञ्चनाप्रकारमेव वदति—इहेत्यादि०। अनुपाधिरमणीयः—स्वाभाविकसौन्दर्ययुतः। विविधा नानाप्रकारका ये विलासाः नेत्रकरचरणादिसञ्चारसंभवा विभ्रमाः, लावण्यं गात्रसौन्दर्यं च ताभ्यां पुण्यमयः स्फीतः, मङ्गलार्थैः दध्यादर्शाद्युपकरणैर्व्यग्रपाणिः भृतकरः। प्रणयपेशलः—अनुरागनिपुणः। विद्याधर्यो योनिभेदस्त्रियः।

कनकसिकतिलेति० कनकसिकतिलानि स्वर्णमयवलुकायुतानि स्थलानि पुलिन-

---

और तर्क विद्यायें प्रकट होती हैं, यह पवित्र पदों द्वारा शास्त्र या कविताका निर्माण करता है, यह समस्त लोकमें भ्रमण करता तथा मेरुकी रत्नस्थलियाँ देखता है ॥ ५ ॥

मधुमती भूमिकाको प्राप्त व्यक्ति स्थानाभिमानिनी देवताओंसे आदर पाता है, यहाँ बैठ जाइये, यहाँ जन्म मृत्युकी बात नहीं है। यह देश निरुपाधि सुन्दर है। यह विद्याधरीजन विविध विलास तथा लावण्य लिये मङ्गलार्थ प्रेमसे आपके आगे उपस्थित है।

अतः आइये, इस जगहपर—

स्वर्णवालुकामय नदियोंमें बृहन्नितम्बा वरोरू ललनाओंके साथ मरकतदलकोमला

मरकतदलकोमला वनालीर्भज निजपुण्यचितांश्च सर्वभोगान् ॥ ६ ॥

शान्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—पुत्रि, तदाकर्ण्य मायया श्लाघ्यमेतदित्युक्तम् । मनसा चानुमोदितम् । सङ्कल्पेन प्रोत्साहितम् । स्वामी संप्रति सम्मतिपथमिवापन्नः ।

शान्तिः—(सखेदम्) हा धिक् हा धिक् पुनरपि तामेव संसारवागुरामभिपतितः स्वामी ।

श्रद्धा—न खलु न खलु ।

शान्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततः परिपार्श्ववर्तिना तर्केण तान्सर्वान्क्रोधावेशकषायितनय-

---

भूमयो यासां ताः कनकसिकतस्थलाः स्रवन्तीः नदीः, पृथुजघनाः स्थूलनितम्बाः कमलाननाः पद्ममुखीः वरोरूः सुन्दरीः स्त्रियः, मरकतदलकोमलाः माणिक्यकोमलाः, वनालीः काननमाला, (एवंविधान्) निजपुण्यचितान् स्वसुकृताहृतान् सर्वभोगान् सर्वाण्यपि भोग्यवस्तूनि भज सेवस्व । स्वर्णमयपुलिनभूमिषु स्रवन्तीष्ववगाहस्व, पृथुनितम्बतया कमलाभमुखतया च हृद्याभिः सुन्दरीभिः सह विहर, मरकतकोमलासु काननभूमिषु सञ्चरैवं स्वपुण्यपाकलब्धानि भोग्यवस्तूनि प्राप्यानन्दं भज, किमिति रूक्षे ज्ञानवर्त्मनि पदं निधाय स्वं कदर्थयितुमुद्यच्छसीत्यर्थः ॥ ६ ॥

श्लाघ्यम्-प्रशंसनीयम् । अनुमोदितम् = तदुक्तेरसमर्थं कृतम् । सम्मतिपथम्-अनुज्ञामार्गम् । मायाप्रस्तावस्य मनसासमर्थितस्य सङ्कल्पेन चाभ्यनुज्ञातस्य पुरुषोऽङ्गीकारमिव कर्त्तुं प्रवृत्त इत्याशयः ।

संसारवागुराम्-भवजालम् । अभिपतितः-अनुप्रविष्टः ।

पार्श्ववर्त्तिना = समीपस्थेन । तर्केण-युक्त्या, न्यायाद्यागमपुरस्सरेण बुद्धिवादेन ।

वनमालामें स्वपुण्यलब्ध सर्वविध भोग प्राप्त कीजिये ॥ ६ ॥

शान्ति—इसके बाद ?

श्रद्धा—पुत्रि, यह सुनकर मायाने इस प्रस्ताव की प्रशंसा की । सङ्कल्पने प्रोत्साहन दिया, स्वामीने भी सम्मति-सी दे दी ।

शान्ति—(खेदपूर्वक) हाय धिक्कार है, धिक्कार है, फिर स्वामी उसी संसार जालमें फंसे ।

श्रद्धा—नहीं नहीं ।

शान्ति—तो फिर ?

श्रद्धा—इसके बाद पार्श्वस्थ तर्कने उन सबको क्रोधसे लाल आँखोंसे देखकर स्वामीसे

नमा त्रोक्याभिहितः। स्वामिन्, किमेवमेभिर्विषयामिषग्रासगृध्नुभिरास्थानिकैः पुनरपि तेष्वेव तथैव विषमविषयाङ्गारेषु निपात्यमानमात्मानं नाववुध्यसे। ननु भोः,

भवसागरतारणाय यासौ नचिराद्योगतरिस्त्वयाश्रिता।
अधुना परिमुच्य तां मदात्कथमङ्गारनदीं विगाहसे॥ ७॥

शान्तिः—ततस्ततः।

श्रद्धा—ततस्तद्वचनमाकर्ण्य स्वस्ति विषयेभ्य इत्यभिधायावधीरिता मधुमती।

शान्तिः—साधु साधु। अथ क्व प्रस्थितास्ति भगवती।

क्रोधावेशकषायितनयनम्—क्रोधोदयवशाद्रक्तदृशा। अभिहितः—उक्तः पुरुष इति शेषः। विषयामिषग्रासगृध्नुभिः—सांसारिकसुखोपभोगरूपमांसग्राहलुब्धैः। आस्थानिकैः—सभाधूर्तैः। तथैव—पूर्ववत्। विषमविषयाङ्गारेषु—भयानकविषयसन्तापेषु। निपात्यमानम्—आकृष्य नीयमानम्। नाववुध्यसे—नावैषि।

भवसागरेति० भवसागरस्य संसाररूपसमुद्रस्य तारणाय उद्धाराय याऽसौ योगतरिः ज्ञानरूपा नौका त्वया पुरुषेण नचिरात् अधुनैव आश्रिता अवलम्बिता, अधुना सम्प्रति तां परिमुच्य विहाय अङ्गारनदीं विषयज्वालापूर्णतया संसाररूपां वह्निधाराम् कथं केन प्रकारेण विगाहसे अवतरसि। संसारसागरात्परं पारं गन्तुं भवता सम्प्रत्येव ज्ञाननौकारूढा, तां विहाय भोगप्रदसौख्यवर्त्मानुधावनं भवतो ज्ञानपरिपन्थितयाऽङ्गारनदीप्रवेशतुल्यं जायते तदिदं कथमपि मा कृथाः, आपातसुरसस्वादेषां भोगानामिति भावः॥ ७॥

स्वस्ति विषयेभ्यः—विसृज्यन्ते भोगाः। अवधीरिता—तिरस्कृता। प्रस्थिता—चलिता।

कहा—स्वामिन्, क्यों फिर इन विषयामिषलोभी गृध्रोंसे पुनः अपनेको उन्हीं विषम विषय ज्वालायुक्त संसारमें पात्यमान नहीं देख रहे हो? अजी,

भवसागर पार करनेके लिये अभी अभी तुम जिस योग नौकापर आरूढ हुए हो, अब उसे छोड़ किस प्रकार अङ्गार नदीमें डूबने जारहे हो?॥ ७॥

शान्ति—इसके बाद?

श्रद्धा—उसकी बातें सुनकर विषयोंको नमस्कार करके मधुमती विद्याको तिरस्कृत कर दिया।

शान्ति—साधु साधु! अब तुम कहाँ चली हो।

श्रद्धा—आदिष्टाहं स्वामिना यथा विवेकं द्रष्टुमिच्छामि ।

शान्तिः—तत्त्वरतां भगवतीति ।

श्रद्धा—तदहं राजसन्निधिं प्रस्थिता ।

शान्तिः—अहमपि महाराजेनोपनिषदमानेतुमादिष्टा । तद्भवतु स्वनियोगं संपादयावः ।

(इति निष्क्रान्ते)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति पुरुषः)

पुरुषः—(विचिन्त्य । सहर्षम्) अहो माहात्म्यं देव्या विष्णुभक्तेः । यत्प्रसादान्मया,

तीर्णाः क्लेशमहोर्मयः परिहृता भीमा ममत्वभ्रमाः
शान्ता मित्रकलत्रबन्धुमकरग्राहग्रहग्रन्थयः ।

त्वरताम्—शीघ्रतां करोतु । राजसन्निधिम्—विवेकपार्श्वम् ।

स्वनियोगम्—आत्मनः कर्त्तव्यम् । त्वं विवेकस्य पार्श्वं याहि, अहं चोपनिषदन्तिकं व्रजाम्येवमावां निजं निजं कृत्यं प्रति सयत्ने भवाव इत्याशयः ।

माहात्म्यम्—प्रभावातिशयः । यत्प्रसादात्—यदीयादनुग्रहात् । मया—पुरुषेण ।

तीर्णा इति० क्लेशमहोर्मयः अविद्यास्मितादिक्लेशतरङ्गाः तीर्णाः उत्तीर्णाः, भीमाः बन्धनसाधनतया भीषणा ममत्वभ्रमाः ममतारूपा आवर्त्ताः परिहृताः लङ्घिताः,

---

श्रद्धा—स्वामीसे आज्ञा पाकर मैं विवेक से मिलना चाहती हूँ ।

शान्ति—तब तुम शीघ्रता करो ।

श्रद्धा—तो अब मैं राजा के पास चलती हूँ ।

शान्ति—मुझे भी महाराजने उपनिषद्को बुला लानेको आज्ञा दी है । तो हम दोनों ही अपना अपना कर्त्तव्य करें ।

(दोनों जाती हैं)

प्रवेशक ।

(पुरुषका प्रवेश)

पुरुष—(सोचकर, सहर्ष) देवी विष्णुभक्तिका माहात्म्य धन्य है । जिसके प्रसादसे हमने—

क्लेशतरङ्गोंको पार किया, भयानक ममत्वभ्रमको दूर छोड़ा, मित्र-कलत्र बन्धुरूप

क्रोधौर्वाग्निरपाकृतो विघटितास्तृष्णालताविस्तराः
पारेतीरमवाप्तकल्पमधुना संसारवारांनिधेः ॥ ८ ॥

(ततः प्रविशत्युपनिषच्छान्तिश्च)

उपनिषत्—सखि, कथं तथा निरनुक्रोशस्य स्वामिनो मुखमालोकयिष्यामि। येनाहमितरजनयोषेव सुचिरमेकाकिनी परित्यक्ता।

शान्तिः—देवि, कथं तथाविधविपत्पतितो देव उपालभ्यते।

उपनिषत्—सखि, न दृष्टा त्वया मे तादृशी दशा। येनैवं ब्रवीषि।

मित्रम् सखा, कलत्रम् नारी, बन्धवः सुहृदः, त एव मकराः मत्स्याः, ग्राहाः जलचराः कुलीरादयस्तैर्ग्रहः ग्रहणम् तद्रूपाः ग्रन्थयः बन्धनानि शान्ताः प्रशमिताः, क्रोधौर्वाग्निः कोपरूपो वडवानलः अपाकृतः दूरतः परिहृतः, तृष्णालताविस्तराः लोभरूपाः समुद्रवल्लर्यः विघटिताः छिन्नाः, अधुना सम्प्रति संसारवारां निधेः संसाररूपस्य सागरस्य पारेतीरम् परतटम् अवाप्तकल्पम् प्राप्तमिव। सागरे तरणीये तरङ्गा आवर्त्ता मकरा ग्राहा वडवानलः सामुद्रिकलताश्च प्रतिबन्धमाचरन्ति, तद्वदस्य संसारस्यापि परपारावाप्तौ पञ्चाविद्यादयः क्लेशाः, ममत्वानि, मित्रकलत्रादयः, क्रोधो लोभश्च प्रतिबध्नन्ति, तानेतानपास्याहं ज्ञानपथमारूढोऽस्मि तन्मन्येऽस्य संसारसागरस्य परं पारं प्राप्तवानिवास्मि सञ्जात इत्याशयः। साङ्गं परम्परितं रूपकमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ८ ॥

तथा निरनुक्रोशस्य–तेन रूपेण निर्दयस्य। स्वामिनः–विवेकस्य। इतरजनयोषेव–परस्त्रीव। एकाकिनी–स्वसम्बन्धवर्जिता।

तथाविधविपत्पतितः–तादृशसङ्कटग्रस्तः। देवेन भवत्यास्त्यागो न निजेच्छया कृतः किन्तु परिस्थितिपारवश्येनैव, तन्नार्हति भवती देवे दोषमारोप्य तमुपालब्धुमित्यर्थः। उपालभ्यते–आक्रुश्यते।

येनैवं ब्रवीषि–मया क्रियमाणं देवोपालम्भं नोचितं मन्यसे, यदि त्वं मदीयां

मकरोंके फेरसे पिण्ड छुड़ाया, क्रोधरूप वड़वानलको अपाकृत किया, तृष्णालता विभ्रमको विघटित किया, इस तरह अब संसारसागरका तट आसन्न हो रहा है ॥ ८ ॥

(उपनिषद् और शान्तिका प्रवेश)

उपनिषत्—सखि, उस निर्दय स्वामीका मुख किस प्रकार देखूंगी, जिसने मुझे औरोंकी स्त्रीकी तरह एकाकिनी छोड़ दिया।

शान्ति—देवि, जब वह स्वयं उस तरहकी आपत्तिमें थे, फिर उनसे क्या शिकायत ?

उपनिषत्—सखि, तुमने हमारी वह दशा नहीं देखी, इसीसे इस प्रकार कह रही

शृणु—

वाह्वोर्भग्ना दलितमणयः श्रेणयः कङ्कणानां
चूडारत्नग्रहनिकृतिभिर्दूषितः केशपाशः।
कैः कैर्नाहं हतविधिवलादीहिता दुर्विदग्धै-
र्दासीकर्तुं सपदि दुरितैर्दूरसंस्थे विवेके॥ ९॥

शान्तिः—सर्वमेतन्महामोहस्य दुर्विलसितम्। नात्र देवस्यापराधः। तेन मोहेन मनः कामादिद्वारेण प्रबोधयता त्वत्तो दूरीकृतो विवेकः।

दशामद्वयस्तदा मयोक्तं समर्थयितुं त्वमपि प्रवृत्ताऽभविष्य इत्याशयः।

बाह्वोरिति० दलितमणयः शकलीकृतेन्द्रनीलादिमणिभागाः बाह्वोः मम करयोः कङ्कणानां श्रेणयः बाहुपरिधेयभूषणभराः भग्नाः नाशिताः, चूडारत्नग्रहनिकृतिभिः मस्तकालङ्कारापहरणरूपतिरस्कारैः केशपाशः कचभरः दूषितः अशोभनीकृतः, सपदि तत्क्षणं हतविधिवलात् दुरदृष्टदोषात् विवेके तन्नामनि मम स्वामिनि दूरसंस्थे दूरवर्त्तिनि कैः कैः दुर्विदग्धैः नीचैर्धूर्त्तैः अहम् दासीकर्त्तुम् स्वदास्यं लम्भयितुम् न ईहिता इष्टा। अभाग्यदोषाद्विवेकरूपे स्वामिनि दूरंगते ममानाथायाः कङ्कणवर्त्तिनो मणयश्चूर्णिताः, चूडारत्नापहारद्वारा कवरी शून्यतां गमिता, नैतावदेव, किन्तु सर्वेऽपि दुर्विदग्धा मां दासीकर्त्तुमप्यचेष्टन्तेत्यर्थः। विवेकाभावे 'द्रष्टव्य' इति विधिवाक्यदर्शनदुर्विदग्धा मीमांसका ब्रह्मज्ञानस्य विधिशेषतामातिष्ठन्ते, तच्चोपक्रमोपसंहारपूर्वकश्रुतितात्पर्यावधारणाभावमूलकमिति तैरुपनिषदुपप्लवः क्रियमाणोऽत्र वर्णितः। उपक्रमोपसंहारात्मकं तात्पर्यलिङ्गमुत्सृज्यान्यथा विचार उपनिषत्कङ्कणभङ्गः, चूडारत्नमात्मस्वरूपं तस्य ग्रहोऽन्यथावर्णनं सैव निकृतिश्च। तदेवं प्रकारेणोपनिषत्तात्पर्यान्यथाकार एव तद्दासीकरणप्रयासोऽन्यशास्त्रेण क्रियमाणोऽत्र निवेदितो बोध्यः॥ ९॥

दुर्विलसितम्—दुश्चेष्टितम्। देवस्य—विवेकस्य। नैसर्गिकम्—स्वभावसिद्धम्।

ह्रो। सुनो—

हमारे बाहुकङ्कणकी मणियाँ टूट-फूट गईं, चूड़ामणिके अपहरणसे केशपाश दूषित कर दिया गया, भाग्यदोषवश विवेकके दूरवर्त्ती हो जानेपर किस दुष्टने मुझे दासी बनाना नहीं चाहा?॥ ९॥

शान्ति—यह सब महामोहकी दुष्टता है। इसमें देवका कुछ भी अपराध नहीं है। उस मोहने कामादि द्वारा मनको बहकाकर विवेकको तुमसे अलग कर दिया। कुल

एतदेव कुलस्त्रीणां नैसर्गिकं शीलं यद्विपन्मग्नस्य स्वामिनः समयप्रतीक्षणमिति । तदेहि दर्शनप्रियालापेन संभावय देवम् । संप्रत्यपहता विद्विषः । संपूर्णास्ते मनोरथाः ।

उपनिषत्—सखि, संप्रत्यागच्छन्ती वत्सया गीतयाऽहं रहस्युक्ता यथा भर्ता स्वामी च पुरुषस्त्वया यथाप्रश्नमुत्तरेण संभावयितव्यः । तथा प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यतीति तत्कथं गुरूणामध्यक्षं धाष्टर्यमवलम्बिष्ये ।

शान्तिः—देवि, अविचारणीयमेतद्वाक्यं भगवत्या गीतायाः, अयमेव चार्थो भगवत्या विष्णुभक्त्या विवेकस्वामिनो निरुक्तः । तदेहि । संभावय दर्शनेन भर्तारमादिपुरुषं च ।

शीलम्–चारित्रम् । विपन्मग्नस्य–आपत्तिपतितस्य । समयप्रतीक्षणम्–सुखसमयसमागमप्रतीक्षा । दर्शनप्रियालापेन–साक्षात्पूर्वकसरसकथाप्रस्तावेन । सम्भावय–आद्रियस्व । अपहताः नष्टाः । विद्विषः–कामादयोऽरयः । वत्सया, पुत्रिकया गीतया उपनिषत्पुत्रकाभावस्तस्याः सर्वोपनिषदुत्थतयोक्तः । उक्तोऽयमर्थः प्रकारान्तरेणान्यत्र यथा–'सर्वोपनिषदो गावो' 'दुग्धं गीतामृतं महत्' इति । रहसि–एकान्ते । भर्त्ता–विवेकः । स्वामी पुरुषः–आत्मा । यथाप्रश्नमुत्तरेण सम्भावयितव्यः–प्रश्नमनतिक्रम्योत्तरं दातव्यं, न तु प्रश्नविरुद्धमित्यर्थः । तथा–यथाप्रश्नोत्तरप्रदानेन । प्रबोधोत्पत्तिः–ज्ञानजन्म । गुरूणामध्यक्षम्–श्वशुरस्थानीयपुरुषपुरतः । धाष्टर्यम्–निर्लज्जभावम् । अयमस्याशयः—काचन स्नुषा सलज्जा गुरुजनपार्श्वे न किमपि प्रकटं मन्त्रयति किन्त्वन्यं जनं द्वारीकृत्य मनोगतमभिदधाति, तद्वदुपनिषदपि शब्दत्वेनापरोक्षमेव ज्ञानं जनयितुं प्रभवति, जननीयं चात्र प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानमिति प्रत्यक्षमभिधाने तारतम्यं साहित्यिकभाषयोपनिबद्धम् । अविचारणीयम्–अनालोचनीयम्, तदुक्तमविचार्य चरितार्थनीयमित्यर्थः । निरुक्तः–निरवशेषमभिहितः ।

ललनाओंका यही तो स्वाभाविक चरित्र होता है कि वह विपत्तिमें फंसे स्वामीके सुसमयकी प्रतीक्षा करती हैं । अतः चलो, दर्शन तथा प्रियसंभाषणसे देवको प्रसन्न करो । शत्रु निश्शेष हो गये, तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हुए ।

उपनिषद्—आनेके समय वत्सा गीताने मुझे बताया कि स्वामी, पुरुषको तुम प्रश्नानुसार उत्तर देना, वैसा करनेसे प्रबोधकी उत्पत्ति होगी, तब बड़े बूढ़ोंके सामने मैं धृष्टता कैसे करूंगी ?

शान्ति—गीताकी इस बातपर विचार नहीं करना चाहिये, यही बात भगवती विष्णुभक्तिने भी विवेक स्वामीसे कही है । अतः आओ, स्वामी और आदिपुरुषके सामने आओ ।

उपनिषत्—यथा वदति प्रियसखी। (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति राजा श्रद्धा च)

राजा—अयि वत्से, द्रक्ष्यति शान्तिः प्रियामुपनिषदम् ?।

श्रद्धा—देव, गृहीतोद्देशैव शान्तिर्गता कथं तां न द्रक्ष्यति।

राजा—कथमिव।

श्रद्धा—देव, प्रागेव कथितमेतद्देव्या विष्णुभक्त्याऽऽसीत्, यथा मन्दाराभिधाने शैले विष्णोरायतने देव्यां गीतायां तर्कविद्याभयादनुप्रविष्टेति।

राजा—कथं पुनस्तर्कविद्याया भयम्।

श्रद्धा—देव, इममर्थं सैव प्रस्तोष्यति। तदागच्छतु देवः। एष स्वामी त्वदागमनमेव ध्यायन्विविक्ते वर्तते।

द्रक्ष्यति=साक्षात् करिष्यति ? शान्तिरुपनिषदं किं द्रष्टुं शक्ष्यतीति प्रश्नाशयः।

गृहीतोद्देशा–ज्ञाततद्वासस्थाना।

कथमिव–कथं तया तद्वासस्थानं ज्ञातमिति प्रश्नार्थः।

मन्दराभिधाने–मन्दारनामके, विहारप्रान्ते प्रसिद्धो मन्दारः, यत्र मधुसूदनमन्दिरम्।

विष्णोरायतने–विष्णुमन्दिरे। तर्कविद्याभयात्–तर्कशास्त्रतो भीतेः, तर्कादुपनिषदो भयं विरुद्धमतस्थापनप्रवृत्तत्वात्तर्कस्य, तर्को हि कारणसाजात्यं कार्यस्यास्थाय ब्रह्मण उपादानभावं खण्डयति, इदमेवोपनिषदस्तर्काद्भयम्।

इममर्थम्–कथं तस्यास्तर्काद्भयमिति। सा–उपनिषत्। प्रस्तोष्यति–वक्ष्यति,

---

उपनिषत्—प्रियसखीका जो आदेश हो। (चलती है)

(राजा और श्रद्धाका प्रवेश)

राजा—अयि वत्से, क्या शान्ति अपनी प्यारी उपनिषद्को पायेगी ?

श्रद्धा—देव, जब शान्ति ठीक पता पाकर गई है तब उसे क्यों नहीं पायेगी ?

राजा—कैसे ?

श्रद्धा—देव, देवी विष्णुभक्तिने यह बात पहले ही कह दी थी, कि मन्दार पर्वतपर विष्णुमन्दिरमें तर्कविद्याके भयसे उपनिषद् गीतामें प्रवेश कर गई है।

राजा—तर्कविद्यासे भय कैसा ?

श्रद्धा—देव, इस बातका प्रस्ताव वही करेगी। अतः देव आवें। स्वामी एकान्तमें आपके आनेका ही ध्यान कर रहे हैं।

राजा—(उपसृत्य) स्वामिन्, अभिवादये ।

पुरुषः—वत्स, प्रक्रमविरुद्धोऽयं समुदाचारः । यतो ज्ञानवृद्धतया भवानेवास्माकमुपदेशदानेन पितृभावमापन्नः । कुतः—

पुरा हि धर्माध्वनि नष्टसंज्ञा
देवास्तमर्थं तनयानपृच्छन् ।
ज्ञानेन सम्यक्परिगृह्य चैतान्
हे पुत्रका संश्रृणुतेत्यवोचन् ॥ १० ॥

तद्भवान्पितृत्वेनास्मासु वर्ततामित्येष एव धर्मः ।

परसमवेतभयविषये परकर्तृकाभिधानापेक्षया । भयाश्रयजनवचनमेव प्रमाणवत्तरमिति तथैवेह वक्तव्यमित्याशयः । विविक्ते–रहसि ।

प्रक्रमविरुद्धः–न्यायविपरीतः, भवता मदीयमभिवादनं क्रियते, नेदं न्यायसिद्धमित्यर्थः । ज्ञानवृद्धतया–समधिकज्ञानवत्तया । भवान्–विवेकः । उपदेशदानेन–स्वरूपज्ञानसम्पादकोपदेशप्रदानेन । पितृभावमापन्नः–पितृत्वं गतः ।

पुरेति० पुरा पूर्वकाले धर्माध्वनि धर्ममार्गे नष्टसंज्ञाः लुप्तचेतनाः देवाः तम् अर्थम् धर्मरूपम् तनयान् स्वान्पुत्रान् अपृच्छन् जिज्ञासितवन्तः । ते च पुत्राः एतान् प्रश्नकर्तॄन् । देवान् ज्ञानेन हेतुना परिगृह्य साधु पृष्टमिति स्वीकृत्य हे पुत्रकाः संश्रृणुत अवधानेनाकर्णयत इत्यवोचन् उक्तवन्तः । 'पुरा प्रजापतिः देवान् सृष्ट्वा केनचित्कारणेनाज्ञानिनो भूयासुरिति शशाप, तदनन्तरंताननुगृह्णन् अन्योन्यं पितृत्वं पुत्रत्वं च ददौ' इति कथात्रानुसन्धेया । उक्तश्चैतत्प्रतिमं वृत्तान्तरं मनुना—'अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः । देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्' इति ॥ इति ॥

तत्–उपदेशप्रदत्वात् । भवान्–विवेकः । पितृत्वेन–पित्रुचितेनाचारेण । वर्त्तताम्–

राजा—(समीप आकर) स्वामिन्, प्रणाम करता हूँ ।

पुरुष—वत्स, यह आचार प्रक्रम विरुद्ध है क्योंकि ज्ञानवृद्धतया उपदेश प्रदान करनेसे आप ही हमारे पिता तुल्य हैं—क्योंकि—

पुराने जमानेमें धर्ममार्गमें भटकते हुए देवोंने पुत्रोंसे उसके विषयमें प्रश्न किये, उन पुत्रोंने उन्हें ज्ञानसे ग्रहण करके पुत्र शब्दसे व्यवहार कर उपदेश सुननेको कहा ॥१०॥

अतः आप पितृरूपसे हमपर बरतें, यही धर्म है ।

शान्तिः—एष देवि, देवेन सह स्वामी विविक्ते वर्तते। तदुपसर्पतु देवी।

उपनिषत्—(उपसर्पति)

शान्तिः—स्वामिन्, एषोपनिषद्देवी पादवन्दनायागता।

पुरुषः—न खलु न खलु। यतो मातेयमस्माकं तत्त्वाववोधोदयेन। तदेषैवास्माकं नमस्या। अथवा

अनुग्रहविधौ देव्या मातुश्च महदन्तरम्।
माता गाढं निवध्नाति वन्धं देवी निकृन्तति॥ ११॥

उपनिषत्—(विवेकमालोक्य नमस्कृत्य दूरे समुपविशति)

पुरुषः—अम्ब, कथ्यताम्। क भवत्या नीता एते दिवसाः।

व्यवहरतु। विविक्ते-रहसि।

पादवन्दनाय=चरणयोः प्रणतये।

तत्त्वाववोधोदयेन-तत्त्वाववोधोदयकारणेन। एषा-उपनिषत्। नमस्या-प्रणम्या।

अनुग्रहविधाविति० अनुग्रहविधौ अनुग्रहे कर्त्तव्ये देव्याः उपनिषदः मातुश्च महत् अन्तरम् महान् भेदः। माता जननी गाढम् अत्यर्थं निवध्नाति संसारे क्षिपति, देवी उपनिषत् वन्धं संसारपाशम् निकृन्तति छिनत्ति। मातोपनिषच्चेति द्वयमपि सत्काराईम्, तत्रापि कृपातारतम्यालोचने तु मात्रपेक्षयोपनिषदधिकादरयोग्या, मातुः संसारे क्षेपकत्वादस्याश्च तत उद्धारे सयत्नादतो देव्युपनिषदेवाधिकादरभाजनमिति तात्पर्यम्॥ ११॥

नीताः-गमिताः।

शान्ति—देवि, यही स्वामी देवके साथ एकान्तमें कुछ बातें कर रहे हैं, देवी समीप जायें।

उपनिषद्—(समीप जाती है)

शान्ति—स्वामिन्, यह देवी उपनिषद् चरणोंमें प्रणाम करने आई है।

पुरुष—नहीं नहीं, प्रबोधको जन्म देनेके कारण यह हमारी माता है, अतः यही मेरे लिये प्रणम्य है, अथवा—

अनुग्रहके संवन्धमें माता तथा देवीमें महान् अन्तर है, माता जोरसे (स्नेह बन्धनमें) बांधती है और देवी बन्धन काटती है॥ ११॥

उपनिषद्—(विवेकको देखकर नमस्कार करके अलग बैठती है)

पुरुष—मां, कहो, तुमने इतने दिन कहाँ विताये।

उपनिषत्—स्वामिन्,

नीतान्यमूनि मठचत्वरशून्यदेवा-
गारेषु मूर्खमुखरैः सह वासराणि ।

पुरुषः—अथ ते जानन्ति किमपि भवत्यास्तत्त्वम् ।

उपनिषत्—न खलु । किन्तु

ते स्वेच्छया मम गिरां द्रविडाङ्गनोक्त-
वाचामिवार्थमविचार्य विकल्पयन्ति ॥ १२ ॥

तेन केवलं तेषां परार्थग्रहणप्रयोजनमेव मद्विचारणम् ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

नीतानीति॰ अमूनि प्रवासकालिकानि वासराणि दिनानि मठचत्वरशून्यदेवागारेषु मन्दिरजनसामान्यवासस्थलरिक्तदेवायतनेषु मूर्खमुखरैः निरक्षरवाचालैः सह नीतानि गमितानि ।

तत्त्वम्—रहस्यम् ।

ते स्वेच्छयेति॰ ते मूर्खमुखराः स्वेच्छया यदृच्छया मम गिराम् मदुक्तीनाम् । द्रविडाङ्गनोक्तवाचाम् इव द्रविडदेशवासिललनाजनवचनानाम् इव अर्थम् अविचार्य विना विचारं विकल्पयन्ति, इदमत्र तात्पर्यमिदं वेति सन्दिहते । यथा कश्चिदुत्तराखण्डवासी दाक्षिणात्यललनावचांसि श्रुत्वा तदर्थानभिज्ञत्तया इयमिदमभिप्रैति, इदं वाऽभिप्रैति' इति विकल्पयति तद्वदिमेऽपि मूर्खमुखराः पामरा ममोक्तिषु नानाविकल्पानारचयन्तीत्याशयः । द्रविडस्त्रियः पुरुषापेक्षयाऽस्पष्टवाचो भवन्तीति ता एव दृष्टान्तिताः ॥ १२ ॥

तेषाम्—मूर्खमुखराणाम् । परार्थग्रहणप्रयोजनम्—परकीयधनापहरणार्थम् । मद्विचारणम्—मदर्थभावनम् । ते हि बहिर्मुखाः केवलं पाण्डित्यख्यापनेन परकीयधनाहर-

उपनिषत्—स्वामिन्,

ये दिन हमने मठ, चत्वर तथा शून्य देवालयोंमें मुखर मूर्खों के साथ बिताये ।

पुरुष—क्या वह आपके तत्त्वकी कुछ जानकारी रखते हैं ।

उपनिषत्—नहीं, किन्तु—वे स्वेच्छासे मेरी उक्तियोंका अर्थ करते हैं जैसे लोग द्रविड़ाङ्गनाओंकी उक्तिका अर्थ नहीं समझकर कुछ कल्पना कर लेते हैं ॥ १२ ॥

वे केवल परकीय अर्थ जाननेके लिये ही मेरे सम्बन्धमें विचार करते हैं ।

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—ततः कदाचित्

कृष्णाजिनाग्निसमिदाज्यजुहूस्रुवादि-
पात्रैस्तथेष्टिपशुसोममुखैर्मखैश्च ।
दृष्टा मया परिवृताखिलकर्मकाण्ड-
व्यादिष्टपद्धतिरथाध्वनि यज्ञविद्या ॥ १३ ॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मया चिन्तितम् । अपि नामैषा पुस्तकभारवाहिनी मे ज्ञास्यति तत्त्वम् । अत एवास्याः सन्निधौ कानिचिद्वासराणि नयामि ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

गमेवोपनिषदर्थविभावनफलमभिप्रयन्ति न वस्तुतत्त्वावधारणमिति भावः ।

कृष्णाजिनेति० अथ अनन्तरम् मया उपनिषदा अध्वनि मार्गे—कृष्णाजिनम् कृष्णमृगचर्म, अग्नयः गार्हपत्याद्यग्नित्रयी, समिधः होमकाष्ठानि, आज्यं होतव्यं घृतम्, जुहूः पात्रभेदः, स्रुवः, आदिपदात् ध्रुवादिपात्रपरामर्शः, तैः—पात्रैः यज्ञोपकरणैः, इष्टिः दर्शपूर्णमासेष्टिः, पशुः निरूढपशुः, सोममुखा अग्निष्टोमप्रभृतयो मखाः यागास्तैः परिवृता वेष्टिता कर्मकाण्डव्यादिष्टपद्धतिः कर्मकाण्डप्रतिपादितेति कर्त्तव्यताक्रमा यज्ञविद्या अध्वरमीमांसा दृष्टा अवेक्षिता । मध्येमार्गमागच्छन्त्यहं कर्मकाण्डनिरूपितेतिकर्तव्यताक्रमां तत्तद्यज्ञसाधनोपबृंहितां मीमांसां साक्षादद्राक्षीति तात्पर्यम् । स्पष्टमितरत् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

ततः—यज्ञविद्याऽवलोकनानन्तरम् । पुस्तकभारवाहिनी—नानाविधपुस्तकधरा । तत्त्वम्—सारम् । अत एव—अस्या मदीयतत्त्वाभिज्ञत्वादेव । सन्निधौ—पार्श्वे । कानिचित्—कतिपयानि । वासराणि—दिनानि ।

उपनिषद्—अनन्तर कभी—

कृष्णमृगचर्म, समित्, अग्नि, घी, जुहू, स्रुव आदि पात्र तथा इष्टि पशुसोम आदि यागके साथ कर्मकाण्डोक्त पद्धत्यनुसारिणी मीमांसा मुझे रास्तेमें मिली ॥ १३ ॥

पुरुष—तब ?

उपनिषद्—अनन्तर मैंने सोचा कि क्या यह पुस्तकभारवाहिनी मेरा तत्त्व समझती है ? इसलिये कुछ दिन इसीके पास व्यतीत किये जांय ।

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—ततस्तामहमुपस्थिता। तया चाहमुक्तास्मि। भद्रे, किं ते समीहितमिति। ततो मयोक्तम्। आर्ये, अनाथास्मि त्वयि निवस्तुमिच्छामीति।

पुरुष—ततस्ततः।

उपनिषत्—ततो मयोक्तम्।

यस्माद्विश्वमुदेति यत्र रमते यस्मिन्पुनर्लीयते
भासा यस्य जगद्विभाति सहजानन्दोज्ज्वलं यन्महः।
शान्तं शाश्वतमक्रियं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम् ॥१४॥

ताम्–यज्ञविद्याम्। तया–यज्ञविद्यया। त्वयि–तव पार्श्वे। निवस्तुम्–वासं कर्त्तुम्।

यस्मादिति० यस्माद् विश्वं जगदुदेति उत्पद्यते, यत्र रमते प्रतिष्ठां लभते, पुनः यस्मिन् लीयते विलयं गच्छति, यस्य भासा दीप्त्या जगत् विश्वम् विभाति, यन्महः यदीयं तेजः सहजानन्दोज्ज्वलम् स्वाभाविकसुखप्रकाशाभिन्नम्, कृतिनः कृतमतयः द्वैतध्वान्तम् द्विता एव द्वैतं ध्वान्तं तमः भेदरूपमन्धकारम् अपास्य उच्छिद्य यम् शान्तम् उदासीनम् शाश्वतम् नित्यम् भूतेश्वरम् जगन्नियतारम् अपुनर्भवाय मुक्तये यान्ति आश्रयन्ति तम् पूरुषम् परात्मानं प्रस्तौमि निरूपयामि। उपनिषदहं तं परमात्मानं निरूपयामि यस्माज्जगदुत्पद्यते यत्र तिष्ठति यस्मिंश्चान्ते लीयते, एतच्च जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूपं ब्रह्मणस्तटस्थं लक्षणमाह। यस्य दीप्त्या जगदिदं भातीत्युक्त्या 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'ति श्रुत्यर्थः क्रोडीकृतः। 'सहजानन्दोज्ज्वलं महः' इत्यस्य स्वाभाविकानन्दप्रकाशरूपम् इत्यर्थः, स्वाभाविकताऽनुद्भूतता, सा नित्यस्वपर्यवसायिनो, तेन सच्चिदानन्दं ब्रह्मेति

उपनिषद्—अनन्तर मैं उसके पास गई, उसने मुझसे पूछा कि तुम क्या चाहती हो? मैंने कहा—आर्य, निराश्रय हूँ, तुम्हारे पास रहना चाहती हूँ।

पुरुष—तब?

उपनिषत्—तब मैंने कहा—

जिससे संसार उत्पन्न होता है और फिर जिसमें लीन हो जाता है, जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित होता है और जिसका प्रकाश स्वाभाविक तथा उज्ज्वल आनन्दरूप है, शान्त, अविकारी, नित्य, भूतेश्वर जिसकी शरणमें विद्वान् लोग द्वैतविनाश करके जाते हैं, मैं उस पुरुषका प्रस्ताव करती हूं॥ १४॥

ततस्तयोक्तम् ।

पुमानकर्ता कथमीश्वरो भवेत्
क्रिया भवोच्छेदकरी न वस्तुधीः ।
कुर्वन्क्रिया एव नरो भवच्छिदः
शतं समाः शान्तमना जिजीविषेत् ॥ १५ ॥

तन्मे नातिप्रयोजनं भवत्याः परिग्रहेण तथापि यदि कर्तारं भोक्तारं पुरुषं स्तुवन्ती भवती कियन्तं कालमत्र वस्तुमिच्छति । को दोषः ।

ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं प्रकटितम् । द्वैतध्वान्तमपास्येत्यनेन ब्रह्मप्राप्त्युपायं प्रतीङ्गितं कृतम्, अपुनर्भवायेत्यनेन ब्रह्मज्ञानफलं मोक्ष इत्यभिहितम्, मोक्षस्यानित्यतां वारयितुं च शाश्वतमुदासीनमिति चोक्तमिति सर्वोऽपि वेदान्तप्रतिपाद्योऽर्थोऽत्र संक्षिप्य समावेशितो बोध्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

पुमानिति० अकर्त्ता कर्त्तृत्वासंसृष्टः पुमान् पुरुषः कथम् ईश्वरः भवेत् ? तव मते ईश्वरत्वं कर्त्तृत्वनियतमिति कर्त्तृत्वाभावे सतीश्वरत्वाभावोऽपि सिद्ध एवेत्यर्थः। नन्वेवमीश्वराराधनं मुक्तये क्रियमाणमसङ्गतं स्यान्मुक्तिश्च नोपपद्येतेत्यत्राह—क्रिया ज्योतिष्टोमादिरूपा भावना एव भवच्छेदकरी संसारनिवर्त्तिका, वस्तुधीः परमार्थसद्ब्रह्मज्ञानं न भवच्छेदकरी । 'अयामसोममसृता अभूम' इत्यादिना यागस्यैवामृतत्वप्रतिपादकतोक्तेः । (अतः) नरः जीवः भवच्छिदः संसारनिवर्त्तिकाः क्रियाः ज्योतिष्टोमादिकाः कुर्वन् अनुतिष्ठन् एव शान्तमनाः समाहितचित्तः सन् शतं समाः शतं वर्षाणि जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत् । उक्तञ्च—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति ॥ १५ ॥

नातिप्रयोजनम्—नाधिकोऽर्थः । परिग्रहेण—स्वीकारेण, आश्रयदानेनेत्यर्थः । कर्त्तारम्—यज्ञादिकर्त्तारम् । भोक्तारम्—यज्ञफलभूतस्वर्गादिभोक्तारम् । स्तुवन्ती—प्रशं-

---

इसपर उसने कहा—

अकर्त्ता पुरुष ईश्वर कैसे होगा और वस्तुज्ञानसे संसारकी निवृत्ति किस प्रकार होगी ? अतः संसार निवर्त्तक कर्म करते हुए ही शान्त मनसे सौ वर्षों तक जीते रहनेकी कामना करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अतः मुझे आपके परिग्रहकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यदि आप कर्त्ता और भोक्ता पुरुषकी स्तुति करती हुई किञ्चित्काल पर्यन्त यहाँ वास करना चाहें तो कोई दोष नहीं है ।

राजा—(सोपहासम्) अहो धूमान्धकारश्यामलितदृशो दुष्प्रज्ञत्वं यज्ञविद्यायाः येनैवं कुतर्कोपहता।

अयः स्वभावादचलं बलाच्चल-
त्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव।
तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता
जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः ॥ १६ ॥

तस्मात्तमोन्धानामियमनीश्वरदृष्टिः। अबोधप्रभवं संसारं कर्मभिः शमयन्ती यज्ञविद्या नूनमन्धतमसमन्धकारेणापि निनीषति।

सन्ती। धूमान्धकारश्यामलितदृशः—यज्ञधूमकलुषाक्षयाः। दुष्प्रज्ञत्वम्—कुबुद्धित्वम्। कुतर्कोपहता—दुस्तर्कगृहीता, सा यज्ञविद्येति शेषः। कुतर्कश्च—यदि कर्तृत्वं न स्यात्तदा ईश्वरत्वमपि न स्यादेवंरूपः, तस्य कुतर्कतामुपपादयिष्यति—अय इत्यादिनाग्रे।

अय इति० स्वभावात् निसर्गतः अचेनम् चेतनाशून्यम् अत एव अचलम् जडम् अयः लोहम् चुम्बकसन्निधौ चुम्बकसन्निकर्षे यथा बलात् चलति स्पन्दते एवम् तथैव माया विश्वेशितुः परमात्मनः ईक्षितेरिता दर्शनेन प्रेरिता जगन्ति विश्वानि। तनोति, इयम् ईशितुः परमात्मन ईश्वरता। भगवदीक्षणप्रेरिताया मायाया एव सृष्टिकर्तृत्वं न तु सिसृक्षाद्युपाधिविशिष्टस्येश्वरस्य कर्तृत्वमित्याशयस्तेन च परिणममानमायाधिष्ठातृत्वमेवेश्वरत्वमिति बोध्यते ॥ १६ ॥

तमोऽन्धानाम्—यज्ञधूमतमसाऽऽवृतदृशाम्। अज्ञानिनामित्युपहासोऽयम्। अनीश्वरदृष्टिः—ईश्वरराहित्यज्ञानम्। अबोधप्रभवम्—अज्ञानाज्जातम्। कर्मभिः—यागादिभिः। शमयन्ती—नाशयन्ती। यागादेव मुक्तिरिति वदन्तीत्यत्र तात्पर्यम्। अन्धतमसम्—अन्धकारम्। अन्धकारेण निनीषति—तमसा नाशयितुमिच्छति। क्रियाभवच्छेदकरीति यद्यागविद्ययोक्तं तदयुक्तम्, तमस्तमो नाशयितुं यथाऽक्षमं तथैव

राजा—(उपहासपूर्वक) यज्ञधूमसे मीमांसाकी आंखे अन्धी हो गई है, इसीसे वह इस तरह कुतर्कोपहत है।

लोहा स्वभावतः अचल होता है, वह अचेतन होकर भी चुम्बक सन्निधानमें चल हो जाता है उसीतरह ब्रह्मके ईक्षणसे प्रेरिता माया विश्वसृष्टि करती है, यही ईश्वरकी ईश्वरता है ॥ १६ ॥

तस्मात् अज्ञानियोंकी यह ईश्वरभावना है, अज्ञानसे उत्पन्न इस संसारको मीमांसा कर्मद्वारा निवृत्त करना चाहती है मानो अन्धकारको अन्धकारसे ही दूर भगाना चाहती

स्वभावलीनानि तमोमयानि
प्रकाशयेद्यो भुवनानि सप्त।
तमेव विद्वानतिमृत्युमेति
नान्योऽस्ति पन्था भवमुक्तिहेतुः ॥ १७ ॥

पुरुषः—ततस्ततः।

उपनिषत्—ततो यज्ञविद्यया विमृश्योक्तम्। सखि, त्वत्संनिकर्षात् दुर्वासनोपहतैरस्मदन्तेवासिभिः कर्मसु श्लथादरैर्भवितव्यम्। तत्प्रसीदतु भवती स्वाभिलषितदेशगमनाय।

पुरुषः—ततस्ततः।

क्रियाया अपि अज्ञानप्रभवजगन्नाशकत्वानुपपत्तेः। तस्मादुपनिषदुक्तं ज्ञाननाश्यत्वमेव जगतो नान्यनाश्यत्वं ज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्त्तकतौचित्यादिति भावः।

स्वभावलीनानीति० स्वभावेन लीनानि नश्वराणि जडस्वभावानि वा तमोमयानि अज्ञानस्वरूपाणि सप्तभुवनानि भूर्भुवरादिलोकान् यः प्रकाशयेत् स्वरूपप्रकाशेन चैतन्यभाजनानि कुर्यात् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुत्यर्थानुवादोऽयम्। तमेव स्वप्रकाशं परात्मानं विद्वान् जानन् अतिमृत्युम् मृत्योः परं परं ब्रह्म एति, भुवि संसारे अन्यः पन्थाः मुक्तिहेतुर्नास्ति ब्रह्मात्मताज्ञानादन्यो मोक्षस्य मार्गो नास्तीत्यर्थः। तथा च श्रूयते–तमेव विद्वानतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति ॥ १७ ॥

विमृश्य–विचार्य। त्वत्सन्निकर्षात्–तवोपनिषदोऽत्र स्थितौ तव संसर्गात्। दुर्वासनोपहतैः–कुमतिग्रस्तैः। अन्तेवासिभिः–शिष्यैः। श्लथादरैः–मन्दप्रवृत्तिभिः। प्रसीदतु–दयताम्। स्वाभिलषितदेशगमनाय–स्वेष्टं स्थानान्तरमुपसर्त्तुम्।

है, तमोमय स्वभावपिहित सप्तभुवनको जो प्रकाशित करे उसी ब्रह्मको जानकर विद्वान् मृत्युसे छुटकारा पाते हैं, संसारसे मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—इसके बाद यज्ञविद्यासे विचारकर कहा—सखि ! तुम्हारे सम्पर्कसे कर्मोंमें कुमतिग्रस्त मेरे शिष्योंकी मन्द प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिये आप अपने अभिलषित देश जानेकी अनुकम्पा करें।

पुरुष—इसके बाद।

उपनिषत्—ततोऽहं तामतिक्रम्य प्रस्थिता।

पुरुषः—ततस्ततः।

उपनिषत्—ततः कर्मकाण्डसहचरी मीमांसा मया दृष्टा—

विभिद्य कर्माण्यधिकारभाञ्जि श्रुत्यादिभिश्चानुगता प्रमाणैः।
अङ्गैर्विचित्रैरभियोजयन्ती प्राप्तोपदेशैरतिदेशकैश्च ॥ १८ ॥

पुरुषः—ततस्ततः।

उपनिषत्—ततोऽहं तामपि तथैवाश्रयमभ्यर्थितवती। अथ तयाप्युक्तास्मि भद्रे, किं कर्मासीति। ततो मया तदेवोक्तम्।

ताम्—यज्ञविद्याम्। अतिक्रम्य—परित्यज्य। प्रस्थिता—अग्रे चलिता।

कर्मकाण्डसहचरी—कर्मकाण्डानुगता।

विभिद्येति० कर्माणि ज्योतिष्टोमादीनि विभिद्य भेदेन ज्ञपयित्वा अधिकारभाञ्जि अधिकारः कर्मफलभागित्वरूपः तं भजन्ते तानि तथाविधानि च (प्रतिपाद्य) श्रुत्यादिभिः—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः संज्ञाभिः प्रथितैः प्रमाणैः अनधिगतार्थबोधकैरनुगता उपेता विचित्रैः नानाभेदभिन्नैः सन्निपत्योपकारकारादुपकारकादिप्रभेदैः अङ्गैः प्राप्तोपदेशैः साक्षादुपदिश्यमानैः अतिदेशिकैः अन्यत्र श्रुतस्य अन्यत्र प्रापणमतिदेशस्तेनापि प्रकारेण प्राप्तैः अभियोजयन्ती उपकुर्वाणा मीमांसा मया दृष्टेति पूर्वोक्तेनान्वयः। मीमांसाशास्त्रस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मबोधकताऽधिकारबोधनपरता च प्रतीतैव। श्रुत्यादिषड्विधप्रमाणाववोधकत्वमपि प्रसिद्धम्। साक्षादभिधानमुपदेशः, अन्यत्र श्रुतस्यान्यत्र प्राप्तमतिदेशस्तस्योत्तरषट्के विचारः। एतदधिकमन्यत्रात्रैव परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

तथैव—यथा यज्ञविद्यां तथा। आश्रयमभ्यर्थितवती—स्वनिवासाय प्रार्थनां कृत-

---

उपनिषत्—तब मैं उसे छोड़कर आगे बढ़ी।

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—इसके बाद कर्मकाण्डसहचरी मीमांसा मिली।

जो अधिकारानुकूल कर्म विभाग करके श्रुत्यादि प्रमाणोंसे अनुगत हो उपदेश तथा अतिदेशके द्वारा विचित्र अङ्गोंसे युक्त थी ॥ १८ ॥

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—इसके बाद मैंने उससे भी उसीतरह प्रार्थना की। उसने भी कहा—भद्रे, तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ? मैंने कहा—'यस्माद्विश्वम्' इत्यादि।

यस्माद्विश्वसित्यादि पठितम्।

पुरुषः—ततस्ततः।

उपनिषत्—ततो मीमांसया पार्श्ववर्तिनां मुखमालोक्याभिहितम्। अस्त्येवास्माकमस्याः लोकान्तरफलोपभोगयोग्यपुरुषोपनयनेनोपयोगः। तत्क्रियतामेषा कर्मोपयुक्ता। तत्र तेषामन्तेवासिनां मध्ये केनाप्यन्तेवासिनैतदनुमोदितमेव। अपरेण तु प्रसिद्धप्रतिष्ठेन मीमांसाहृदयाधिदैवतेन कुमारिलस्वामिनैवं प्रोक्तम् देवि, नेयं कर्मोपयुक्तं पुरुषमुपनयति, किंतु अकर्तारमभोक्तारमीश्वरम्। न चासावीश्वरः कर्मसूपयुज्यते। ततोऽपरेणोक्तम्। अथ किं लौकिकात्पुरुषादन्य ईश्वरो नामास्ति। ततस्तेन विहस्य पुनरुक्तम्। अस्ति। तथाहि—

वती। किं कर्मासि–किन्तव कर्म, त्वया किमाचरणीयमिति जिज्ञासा। तदेव–प्रागुक्ताभिन्नाम् पार्श्ववर्त्तिनाम् समीपस्थानामनुचराणां शिष्याणां वा। अभिहितमुक्तम्। अस्याः–लोकान्तरफलं–स्वर्गसुखादिरूपम्, तदुपभोगे योग्यस्य चेतनस्य स्थिरस्य च पुरुषस्य, उपनयनेन प्रतिपादनेन, उपयोगः कार्यम्। एषोपनिषत्स्थायिचेतनपुरुषमुपपादयन्ती। स्वर्गफलभोगयोग्यं पुमांसमुपनयतीत्युपयोगिनीयमस्माकं भवतीत्यर्थः। तत्–तस्मात्। एषा–उपनिषत्। कर्मोपयुक्ता–कर्मणि नियुक्ता। पुरुषस्तावकतयोपनिषद्विशेषतां नीयतामित्यर्थः। तथा च जैमिनीयं सूत्रम्–'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति। केनाप्यन्तेवासिना–प्रभाकरेणेत्यर्थः। ज्ञानकर्मसमुच्चयवादितया प्रभाकरस्योपनिषदनुमोदकत्वं बोध्यम्। अपरेण–अन्येन। प्रसिद्धप्रतिष्ठेन–ख्यातयशसा। मीमांसाहृदयाधिदैवतेन–मीमांसातत्त्ववेदिना। देवि–मीमांसे। इयम्–उपनिषत्। अकर्त्तारमभोक्तारम्–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'त्यादिश्रुतिपर्यालोचनया यः पुमानवसीयते नासौ कर्त्ता न वा भोक्तेति तादृशम्।

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—इसके बाद मीमांसाने पार्श्ववर्त्तियोंका मुख देखकर कहा—लोकान्तरमें फलभोग करनेवाले पुरुषका प्रतिपादन करनेवाली यह हमारे उपयोगकी वस्तु है, अतः इसे कर्ममें लगा दो। वहाँ कुछ मीमांसाके विद्यार्थियोंने इसका अनुमोदन भी किया। दूसरे प्रसिद्ध प्रतिष्ठित मीमांसाके दुलारे शिष्य कुमारिलने इस प्रकार कहा—देवि, यह कर्मोपयोगी पुरुषका प्रतिपादन कहाँ करती है ? यह तो अकर्त्ता अभोक्ता पुरुषका प्रतिपादन करती है। वैसे पुरुषको कर्मसे क्या संबन्ध ? इसपर दूसरेने कहा—लौकिक पुरुषसे पर ईश्वर है कौन ? फिर कुमारिलने हंसकर कहा है। जैसे:—

एकः पश्यति चेष्टितानि जगतामन्यस्तु मोहान्धधी-
रेकः कर्मफलानि वाञ्छति ददात्यन्यस्तु तान्यर्थिने ।
एकः कर्मसु शिष्यते तनुभृतां शास्तेव देवोऽपरो
निःसङ्गः पुरुषः क्रियासु स कथं कर्तेति संभाव्यते ॥ १९ ॥

राजा—(सहर्षम्) साधु कुमारिलस्वामिन् , साधुप्रज्ञोऽस्यायुष्मन् ,

द्वौ तौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ
समानवृक्षं परिषस्वजाते ।

असौ–अकर्त्ताऽभोक्ता च । कर्मसु–यागादिषु । उपयुज्यते–अधिक्रियते । अपरेण–प्रभाकरैकदेशिना शालिकनाथेन । लौकिकात्–लोकान्तरफलोपभोक्तुः । स्वर्गार्हो जीव एवेश्वरो न तदन्य इति तदाशयः । तेन–कुमारिलस्वामिना । विहस्य–स्मितं कृत्वा, जीवातिरिक्तेश्वराभावं श्रुत्वा कुमारिलः शालिकनाथस्योक्तौ हसितवानिति तात्पर्यम् अस्तिजीवादन्य ईश्वर इति शेषः ।

एक इति० एक ईश्वरः जगतां चेष्टितानि कर्माणि पश्यति विश्वसाक्षितयाऽवलोकते, तु पुनरन्यो जीवो मोहान्धधीः मोहावृतज्ञानः । एको जीवः कर्मफलानि पुत्रपश्वादीनि वाञ्छति कामयते तु पुनरन्यः तानि कर्मफलानि अर्थिने कर्मफलविषयकाभिलाषवते ददाति अर्पयति, अत एवोक्तं महिम्नःस्तोत्रे–'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते' इति । एको जीवः कर्मसु ज्योतिष्टोमादिक्रियासु शिष्यतेऽधिक्रियते, अपरो देव ईश्वरः तनुभृतां प्राणिनां शास्ता नियन्ता एव । (तदेवं जीवातिविलक्षणत्वादीश्वरस्य जीवातिरिक्ता सत्ता प्रमीयत इत्याशयः) निःसङ्ग सङ्गरहितः पुरुषः परमात्मा क्रियासु कर्मसु कर्त्ता इति कथं सम्भाव्यते ज्ञायते, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुत्या पुरुषस्यासङ्गताप्रतिपत्त्या कर्त्तृतापि निरस्यत इति बोध्यम् ॥ १९ ॥

साधुप्रज्ञः–उत्कृष्टबुद्धिः । आयुष्मान्–चिरजीवी ।

द्वौताविति० तौ प्रसिद्धौ द्वौ जीवात्मपरमात्मानौ सुपर्णौ सुष्ठुपर्णं गतिर्ययोस्तादृशौ

एक संसारकी चेष्टायें देखता रहता है, दूसरा मोहान्धबुद्धि है, एक कर्मफलकी इच्छा रखता है, दूसरा उन कर्मफलोंको याचकाधीन कर देता है, एकको कर्मोपदेश किया जाता है और दूसरा प्राणियोंको उपदेश देता है, एक असङ्ग पुरुष है उसे कर्मका कर्त्ता किस प्रकार कहा जा सकता है ॥ १९ ॥

राजा—(सहर्ष) धन्य हो कुमारिल स्वामी, धन्य है तुम्हारी बुद्धि, जीते रहो । दो एक स्थान वासी सुन्दर पक्षी हैं, वे एक ही वृक्ष (संसार) पर बैठे हैं, उनमेंसे

एकस्तयोः पिप्पलमत्ति पक्व-
मन्यस्त्वनश्नन्नभिचाकशीति ॥ २० ॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततोऽहं मीमांसामभिमन्त्र्य प्रस्थिता ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मया बहुभिः शिष्यैरुपास्यमानास्तर्कविद्या अवलोकिताः ।

काचिद्द्वित्वविशेषकल्पनपरा न्यायैः परा तन्वती
वादं सच्छलजातिनिग्रहमयैर्जल्पं वितण्डामपि ।

अव्याहतज्ञानावित्यर्थः । सयुजौ सहयोगवन्तौ सखायौ परस्परानुकूलौ द्वौ जीवात्मपरमात्मानौ समानम् एकम् वृक्षम् संसाररूपम् परिषस्वजाते आश्रितवन्तौ । तयोः जीवात्मपरमात्मनोः एकः जीवः पक्वम् स्वादृष्टद्वारोपनतं पिप्पलं कर्मफलम् अत्ति भुङ्क्ते अन्यः ईश्वरः अनश्नन् अभुञ्जानः अभिचाकशीति वर्त्तते, साक्षित्वेन पश्यति । यथा क्वचन वृक्षे द्वौ पक्षिणौ सर्वांशतस्तुल्यौ वसतस्तयोश्चैकस्तद्वृक्षफलमभ्यवहरति । परस्तु कुतोऽपि हेतोर्नात्ति तथैवात्रापि संसारतरौ जीवपरमात्मनोः स्थितिरिति भावः । शेषं सुगमम् ॥ २० ॥

अभिमन्त्र्य-अन्यत्र गच्छामीत्यापृच्छ्य ।

तर्कविद्याः-योगसाङ्ख्यन्यायवैशेषिकविद्याः । अस्य सर्वस्य शास्त्रसमुदायस्य तर्काश्रितत्वात्तर्कविद्यापदग्राह्यता । साङ्ख्ययोगयोस्तर्काश्रितत्वं 'कामाच्च नानुमानम्' 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इत्यादिब्रह्मसूत्रेष्वप्युक्तम् । न्यायवैशिषकयोस्तर्कविद्यात्वं तु पामरेष्वपि प्रथितम् ।

काचिदिति० काचित् वैशेषिकी विद्या द्वित्वविशेषस्य अपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वस्य

एक (जीव) पिप्पल (कर्मफल) स्वाद ले लेकर खाता है और दूसरा (ईश्वर) विना खाये देखता रहता है ॥ २० ॥

पुरुष—तव ?

उपनिषत्—अनन्तर मैं मीमांसाको नमस्कार कर वहाँसे चली ।

पुरुष—तव ?

उपनिषत्—इसके वाद मैं बहुशिष्यपरिवृत तर्कविद्याओं के पास गई ।

उनमें कुछ द्वित्व तथा विशेषकी कल्पनामें लगी थीं, कुछ छल-जाति-निग्रहस्थान द्वारा

अन्या तु प्रकृतेर्विभज्य पुरुषस्योदाहरन्ती भिदां
तत्त्वानां गणनापरा महदहंकारादिसर्गक्रमैः ॥ २१ ॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—तथैवाहं ताः समुपस्थिताः । ताभिश्चानुयुक्तया मया सदैव

यो विशेषः तस्य कल्पने सक्ता, यद्वा द्वित्वस्य प्रागुक्तस्य विशेषस्य 'अन्त्यो नित्य-द्रव्यवृत्तिः' इति लक्षितस्य पदार्थभेद एव कल्पने निरूपणे परा लग्ना, परा गौतमी न्यायविद्या सच्छलजातिनिग्रहमयैः छलसहितजातिनिग्रहस्थानप्रचुरैः न्यायैः पञ्चा-वयवानुमानवाक्यैः वादं तत्त्वबुभुत्सुकथाम्, जल्पं जिगीषुकथाम्, वितण्डां परदूष-णावसानाम् अपि तन्वती विस्तारयन्ती, अन्या अपरा कापिली साङ्ख्यविद्या जगत्कारणीभूतां गुणत्रयसाम्यावस्थास्वरूपाम् प्रकृतिं प्रधानं विभज्य पृथक्कृत्य महदहङ्कारादिसर्गक्रमैः 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः' इत्येवं रीत्या तत्त्वानां चतुर्विंशतितत्त्वानां गणनापरा संख्यानासक्ता अवलोकिता इति पूर्वोक्तेनान्वयः । आदौ मया वैशेषिकविद्या दृष्टा या द्वित्वस्य वैशेषिकशास्त्रे कठिन-तया स्वीकृतस्य विशेषस्य तच्छास्त्रजीवातुभूतस्य च निरूपणे समासक्ताऽऽसीत् । 'अयमेकः अयमेक इतीमौ द्वौ' एतादृशापेक्षाबुद्धिजन्यं द्वित्वं, तस्य विषयेऽत्र शास्त्रे प्रचुरं विवेचितमत एव चायमुद्घोषः—'द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे, यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः' इति । ततः परतो न्यायविद्या दृष्टा, या त्रिविधामपि कथां पञ्चावयववाक्यप्रयोगैः विस्तारयन्त्यासीत्, छलम्—अर्थान्तर-प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरवर्णनम्, जातिरसदुत्तरम्, निग्रहः पराहङ्कारनिरासफलः । तन्मयैर्वादैश्च कथात्रयविस्तारः । प्रकृतेः पृथक्त्वेन पुरुषस्य प्रतिपादनं—यथा—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति । सर्गक्रमश्च—'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अह-ङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चतन्मात्रेभ्यो भूतानि, भुतेभ्यश्चाखिलं जगत्' इति । तत्त्वानां प्रकृतिमहदङ्कारपञ्चतन्मात्रपञ्चभूतैकादशेन्द्रियरूपतया चतुर्विंशतिसङ्ख्यकानाम् अत्र गणनेति बोध्यम् ॥ २१ ॥

अनुयुक्तया—पृष्टया, 'प्रश्नोनुयोगः पृच्छा चे'ति कोशः । सप्रकाशोपहासम्—

पञ्चावयव वाक्यसे वाद, जल्प और वितण्डा रूप कथायें कह रही थीं, इससे अतरिक्त कोई प्रकृति-पुरुष-विवेकसम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर करती हुई महत् अहङ्कार आदि सृष्टिक्रमानुसार तत्त्वों की गणना कर रही थी ॥ २१ ॥

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—मैं उसी प्रकार उनके पास भी गई । उनके द्वारा पूछी जाने पर मैंने

कर्मोदाहृतम् । यस्माद्विश्वमित्यादि । ततस्ताभिः सप्रकाशोपहास-मुक्तम्—आः वाचाले, परमाणुभ्यो विश्वमुत्पद्यते । निमित्तकारणमीश्वरः । अन्यया तु सक्रोधमुक्तम्—आः पापे, कथमीश्वरमेव विकारिणं कृत्वा विनाशधर्मिणमुपपादयसि । ननु रे प्रधानाद्विश्वोत्पत्तिः ।

राजा—अहो दुर्मतयस्तर्कविद्या एतदपि न जानन्ति । सर्वं प्रमेय-जातं घटादिवत्कार्यमिति परमाणुप्रधानोपादानकारणमप्यपेक्षणीयमेवेति । तथाहि—

अम्भःशीतकरान्तरिक्षनगरस्वप्नेन्द्रजालादिवत्
कार्यं मेयमसत्यमेतदुदयध्वंसादियुक्तं जगत् ।

स्फुटमुपहस्य । वाचाले, बहुगर्ह्यभाषिणि, । परमाणुभ्यो जगदुत्पद्यतेऽतस्त एव कारणानि जगतः, ईश्वरस्तु कुलाल इव घटं प्रति जगत्प्रति निमित्तकारणमात्रम् । अन्यथा–साङ्ख्यविद्यया । ईश्वरस्य प्रकृतित्वे विकारिताऽऽपत्तौ विनाशिताप्रसङ्ग इति साङ्ख्यविद्योक्तेराशयः । दुर्मतयः–हतबुद्धयः । सर्वं प्रमेयमिति सामान्येन पक्षी-करणात् परमाणुप्रधानयोरपि । कार्यत्वमनुमीयमानं बोध्यमेवं च परमाणुप्रधानयोः कार्यत्वे तदुपादानकारणत्वमात्मन एव स्वीकर्त्तव्यमिति तर्कविद्यानामुपहासः कृतो वेद्यः । न चैवमात्मनो विकारित्वमाशङ्कनीयम्, अधिष्ठातृतयाऽविकारित्वस्योपपाद-नीयत्वादिति ।

अम्भः शीतकरेति० एतत् प्रत्यक्षदृश्यम् जगत् विश्वम् उदयध्वंसादियुक्तम् उत्प-त्तिविनाशशालि असत्यम् अलीकञ्च, यतः मेयम् (अतः) कार्यम्, मेयत्वेन हेतुना कार्यत्वमनुमीयते तेन च विनाशित्वानुमानम् । तत्र दृष्टान्तमाह–अम्भः शीतकरेति० अम्भः शीतकरो जलचन्द्रः, अन्तरिक्षनगरम् गन्धर्वनगरम् आकाशेऽवलोक्यमस्था-

---

अपना कर्म वही बताया । उन लोगोंने अत्यन्त उपहास किया और कहा—अरी ओ मुखरे, परमाणुओंसे विश्वकी उत्पत्ति होती है, ईश्वर निमित्तकारण है । दूसरीने सक्रोध कहा—क्यों ईश्वर को ही विकारयुक्त बताकर विनाशधर्मा बना रही हो । विश्वकी उत्पत्ति तो प्रधानसे होती है ।

राजा—हाय, मूर्खा तर्कविद्यायें इतना भी नहीं जानती हैं कि सभी प्रमेय कार्य होते हैं अतः परमाणु और प्रकृतिको भी मूलकारणकी अपेक्षा होगी ही । क्योंकि—

जब तक स्वात्मावबोधरूप ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक चलचन्द्र, गन्धर्व नगर, स्वप्न, इन्द्रजालकी तरह यह जगद्रूप प्रमेय कार्य उत्पत्ति तथा विनाशी होनेके कारण शुक्तिमें

शुक्तौ रूप्यमिव स्रजीव भुजगः स्वात्मावबोधे हरा-
वज्ञाते प्रभवत्यथास्तमयते तत्त्वावबोधोदयात् ॥ २२ ॥

विकारशङ्का तु मुग्धवधूविकल्पविलसितमिव । तथाहि—

शान्तं ज्योतिः कथमनुदितानस्तनित्यप्रकाशं
विश्वोत्पत्तौ व्रजति विकृतिं निष्कलं निर्मलं च ।
शश्वन्नीलोत्पलदलरुचामम्बुवाहावलीनां
प्रादुर्भावे भवति नभसः कीदृशो वा विकारः ॥ २३ ॥

यि च, स्वप्नः प्रसिद्धः, इन्द्रजालम्-मायामन्त्रादिनाऽन्यथावस्तुनोऽन्यथाप्रदर्शनम्, आदिना पीतशङ्खदर्शनादितद्वत्, यथा जलचन्द्रादयो भासमानस्वरूपा एव न सन्तस्तद्वदिदं जगदपि न वास्तवमिति भावः। जगतो जडत्वेनास्वप्रकाशतया ज्ञानविषयत्वं तदेव हेतुं कृत्वा कार्यत्वानुमानं ततश्चासत्यत्वप्रत्यय इति परमार्थः। जगत् स्वात्मावबोधे स्वप्नप्रकाशे हरौ परात्मनि अज्ञाते शुक्तौ रूप्यमिव स्रजि मालायाम् भुजग इव च प्रभवति जायते, अथ तत्त्वावबोधोदयात् अद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारात् अस्तमयते नीमीलति। यथा मालाऽज्ञाने शुक्त्यज्ञाने च रज्जुरजते उत्पद्येते मालाशुक्त्योश्च ज्ञानादुभयं विलीयते एवमात्माज्ञानाज्जगद्विवर्त्तते तज्ज्ञानाच्च विलीयते इत्याशयः। यथा जलचन्द्रादयोऽनिर्वचनीयास्तथा जगदपीति हृदयम् ॥

मुग्धवधूविकल्पविलसितमिव—बालवनिताविविधवचनमिव, अविमृश्य भाषितमित्यर्थः।

शान्तमिति० शान्तम् निर्विकारम् ज्योतिः प्रकाशस्वरूपम्, न उदितः प्रादुर्भूतः, न चास्तः कदाचिदपि नाशंगतः नित्यः स्वरूपलक्षणः प्रकाशो यस्य तादृशम्, (अनुदितेति जन्मनः अनस्तेति च विनाशस्य व्यावर्त्तनया नित्यतां पुष्यति) निष्कलम् निर्विशेषम् निर्मलं स्वभावशुद्धं ब्रह्म विश्वोत्पत्तौ जगत्सृष्ट्याम् विकृतिं कथम् व्रजति, न व्रजतीति भावः। प्रागुक्तविशेषणैर्विकारायोग्यस्य ब्रह्मणो जगदुत्पत्तावपि न विकारित्वसम्भव इति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह—शश्वदिति० शश्वत् निर-

रूप्य तथा मालामें सर्पकी तरह उत्पन्न होते हैं और तत्त्वावबोध हो जाने पर अस्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

ईश्वरमें विकारकी शङ्का तो पामरस्त्री के मनोविकारकी तरह ही है। क्योंकि—

अनुदित अनस्त नित्यप्रकाश शान्त ज्योतिःस्वरूप निष्कल निर्मल ब्रह्म विश्वोत्पत्तिसे विकृत कैसे हो जायगा? नीलकमलके पत्तों सदृश मेघमालाके फैल जानेसे अकाशमें क्या विकार हो आता है?॥ २३ ॥

पुरुषः—साधु साधु, प्रीणयति मानसं ममायं प्रज्ञावतो विमर्शः। (उपनिषदं प्रति) ततस्ततः।

उपनिषत्—ततस्ताभिः सर्वाभिरेव क्रुद्धाभिरुक्तम्—अहो, विश्वविलयेन मुक्तिमेषा वदन्ती नास्तिकपथं प्रस्थिता निगृह्यतामिति। ततः ससंरम्भं मां निग्रहीतुं प्रधाविताः सर्वाः।

पुरुषः—(सत्रासम्) ततस्ततः।

उपनिषत्—ततोऽहं सत्वरतरं परिक्रम्य दण्डकारण्यं प्रविष्टा। ततो मन्दारशैलोपकल्पितस्य मधुसूदनायतनस्य नातिदूरे—

वाह्वोर्भग्ना दलितमणतः श्रेणयः कङ्कणानां

चूडारत्नग्रहनिकृतिभिर्दूषितः केशपाशः।

न्तरम् नीलोत्पलदलरुचाम् नीलकमलश्यामच्छवीनाम् अम्बुवाहावलीनाम् जलदमालानाम् प्रादुर्भावे उदये वा नभसः आकाशस्य कीदृशो विकारः मेघकृता लिप्तता भवति। न कीदृशोऽपि विकारो यथा मेघमाल्योदितयापि नभसस्तथा जगदुदयेन ब्रह्मणोऽपि न विकारस्तस्य स्वभावनिर्मलत्वादिति भावः। अतश्च विकारित्वाशङ्कातर्कविद्याभिः क्रियमाणाऽविमृश्य भाषितमिति पूर्वोक्तं समर्थ्यमानं बोध्यम् ॥ २३ ॥

प्रीणयति–तोषयति। मानसम्–हृदयम्। प्रज्ञावतः–बुद्धियुक्तस्य। विमर्शः–विचारः। विश्वविलयेन–विश्वमिथ्यात्वज्ञानेन। एषा–उपनिषत्। नास्तिकपथम्–वेदविरुद्धं मार्गम्। ससंरम्भम्–सक्रोधम्। निग्रहीतुम्–दण्डयितुम्, धर्त्तुं वा। प्रधाविताः–वेगेन चलिताः। सत्वरतरम्–अतिशीघ्रतया। दण्डकारण्यम्–दण्डकनामकं काननम्। मन्दारशैलोपकल्पितस्य मन्दारनामकपर्वतोपरिस्थितस्य। मधुसूदनायतनस्य–विष्णुमन्दिरस्य। नातिदूरे–समीपे।

वाह्वोर्भग्ना इति० प्रागेव व्याख्यातमिदमिति तत्रैव दृश्यताम्।

पुरुष—साधु साधु, तुम्हारी यह बुद्धिमानीकी बात मुझे प्रसन्न कर रही है। (उपनिषद्से) तब ?

उपनिषद्—इस पर वह सभी क्रुद्ध हो कह उठीं, यह विश्वविलयसे मोक्ष कहती है, अतः यह नास्तिक हो रही है, इसे निगृहीत करो। इस पर विगड़कर स्त्रियाँ मुझे निगृहीत करने को दौड़ीं।

पुरुष—(डरसे) तब ?

उपनिषत्—इस पर मैं दौड़ती हुई दण्डकवनमें पैठ गई, फिर वहाँसे मन्दार पर वर्त्तमान मधूसूदन मन्दिरके पासमें—

मेरे हस्तकङ्कणकी मणियाँ टूट-फूट गई, चूड़ामणिके अपहरणसे केशपाश दूषित किया

इत्याद्यवस्था मम संजाता ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो देवायतनान्निर्गत्य गदापाणिभिः पुरुषैरतिनिर्दयं ताड्यमानास्ता दिगन्तमतिक्रान्ताः सर्वाः ।

राजा—(सहर्षम्) न खलु भवतीमतिक्रामतो भगवान् विश्वसाक्षी क्षमते ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—

छिन्ना मुक्तावलिरपहृतं स्रस्तमङ्गाद् दुकूलं
भीता गीताश्रममथ गलन्नूपुराहं प्रविष्टा ॥ २४ ॥

देवायतनात्-देवालयात् । 'गदापाणिभिः' गदाधारिभिर्विष्वक्सेनादिभिर्विष्णु-परिकरैः । दिगन्तमितिक्रान्ताः-दिशामन्तं भेजिरे । सर्वाः-सर्वप्रकारास्तर्कविद्याः । अत्र परवादिनिर्गमनेन दुःखनिवृत्तेः प्रतिपादनात्समयो नाम निर्वहणसन्धेरष्टमभङ्ग-मुक्तं वेद्यम् , तल्लक्षणं यथा—'समयो दुःखनिर्गमः' इति ।

भवतीमतिक्रामतः-भवत्यामत्याहितमाचरतः, विश्वसाक्षी-जगन्नियन्ता । क्षमते-मर्षयति, ये भवतीं पीडयन्ति तानीश्वरो दण्डयतीति तात्पर्यम् ।

छिन्नेति० मुक्तावलिः मुक्तामाला छिन्ना त्रोटिता, अङ्गात् स्रस्तम् देहात्स्खलितम् दुकूलम् उत्तरीयवस्त्रम् अपहृतम् केनापि नीतम् , गलन्नूपुरा पतितचरणभरणा चाहम् भीता कान्दिशीकतां गताऽथ गीताश्रमं गीतायाः स्वपुत्र्या आश्रमं स्थानं प्रविष्टा प्राविशम् । अस्यापि वेदान्तपक्षीयोऽर्थः प्रागुक्तः ॥ २४ ॥

गया, इत्यादि मेरी अवस्था हुई ।

पुरुष—तब ?

उपनिषद्—इसके बाद मन्दिरसे निकले गदापाणि पुरुषोंने अतिनिर्दय प्रहार करना प्रारम्भ किया, तब वे सभी दिगन्तरको भाग गईं ॥

राजा—(हर्षसे) भगवान् विश्वसाक्षी आपके अतिक्रमण करने वालोंको क्षमा नहीं करते हैं ।

पुरुष—तब ?

उपनिषत्—हमारी मुक्तामाला टूट गई, देहसे कपड़ा खिसक गया तब डरी हुई मैं गलन्नूपुरा हो गीताश्रममें पैठी ॥ २४ ॥

तत्र वत्सया गीतया मां तत्रागतामालोक्य ससंभ्रमं मातर्मातरिति परिरभ्योपवेशितास्मि । विदितवृत्तान्तया तया चोक्तम् । अम्ब, नात्र खेदयितव्यं मनः । ये खलु त्वामप्रमाणीकृत्य यथेष्टमसुरसत्त्वाः प्रचरिष्यन्ति तेषामीश्वर एव शास्ता । उक्तं च तेन भगवता तानधिकृत्य । तथा च गीतायाम्—'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । छिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति ।

पुरुषः—(सकौतुकम्) देवि, त्वत्प्रसादाज्ज्ञातुमिच्छामि कोऽयमीश्वरो नामेति ।

उपनिषत्—(सकोपमिव) को नामात्मानमजानन्तमन्धमिव प्रत्युत्तरं दास्यति ।

पुरुषः—(सहर्षम्) कथमहमात्मा पुरुषः परमेश्वरः ।

माम्–उपनिषदम् । ससंभ्रमम्–वेगेन । परिरभ्य–आलिङ्ग्य । विदितवृत्तान्तया–अवगतसमाचारया । खेदयितव्यम्–क्लेशनीयम् । अप्रमाणीकृत्य–मिथ्यात्वेनानादृत्य । असुरसत्त्वाः–आसुरीं प्रकृतिमापन्नाः । शास्ता–दण्डप्रदः । तान्–आसुरीं प्रकृतिमागतान् । द्विषतः–द्वेषयुक्तान् । क्रूरान्–निर्दयान् । नराधमान्–नीचान् । आसुरीषु योनिषु–व्याघ्रसिंहादिषु योनिषु । अजस्रम्–सततम् । क्षिपामि–जनयामि । तेषां कदाचिदपि संसारान्निस्तारो नास्तीति भावः ।

त्वत्प्रसादात्–त्वदीयानुग्रहात् ।

आत्मानम्–स्वं रूपम् । यथाऽन्धः पृच्छेत्किंरूपोऽस्म्यहमिति तदुत्तरं न दातुं शक्यं तथैव तवापि प्रश्नः स्वविषयकत्वात्प्रश्नस्येति भावः ।

वहाँ पर वत्सा गीता मुझे पहुँची देखकर हड़बड़ाकर उठी और उसने मातः मातः कहती हुई लिपट कर बैठाया तथा सारा समाचार सुना और कहा—मां, यहाँ हृदयको कष्ट देनेकी आवश्यकता नहीं है, जो लोग तुमको अप्रमाण मानकर आसुरी सत्त्वसे यथेष्ट आचरण करते हैं उनका शासक भगवान् ही हैं । भगवान्‌ने स्वयं उनके विषयमें कहा है—'उन द्वेषी और क्रूर नराधमोंको मैं संसारसागर के असुरोंकी अशुभ योनियोंमें डाल देता हूँ' ।

पुरुष—(कौतुकसे) देवि, तुम्हारी कृपासे जानना चाहता हूँ कि ईश्वर कौन है ?

उपनिषद्—(कोपके साथ) कौन अपने को नहीं जानने वाले अन्धेको समझा सकेगा ।

पुरुष—(सहर्ष) क्या मैं पुरुष आत्मा तथा परमेश्वर रूप हूँ ।

उपनिषत्—एवमेतत्। तथाहि—

असौ त्वदन्यो न सनातनः पुमान्
भवान्न देवात्पुरुषोत्तमात्परः।
स एष भिन्नस्त्वदनादिमायया
द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वतः॥ २५॥

पुरुषः—(विवेकं प्रति) भगवन्, उक्तमप्यर्थं भगवत्या न सम्यगवधारयामि।

अवच्छिन्नस्य भिन्नस्य जरामरणधर्मिणः।
मम ब्रवीति देवीयं सत्यानन्दचिदात्मताम्॥ २६॥

असाविति॰ असौ अपरोक्षः सनातनः नित्यः पुमान् पुरुषः त्वदन्यो न त्वत्प्रतियोगिकभेदवान्न (भवति) भवान् जीवः पुरुषोत्तमात् परमात्मनः परः भिन्नः न (भवति) 'तत्त्वमसी'ति श्रुत्या द्वयोरैक्यस्य बोधनात्। स एष परमात्मा अनादिमायया अनाद्यविद्यया त्वत् त्वत्तः भिन्ना पृथक् प्रतीयत इति शेषः, सलिले जले विवस्वतः सूर्यस्य द्विधा द्वित्वं गतं बिम्बम् इव। यथैकमपि सूर्यबिम्बं तरङ्गभेदवशाद्द्विधा प्रतीयते तद्वत्परात्माभिन्नोऽपि जीवोऽनाद्यविद्यावशाद्भिन्न इव प्रतीयते, परं पारमार्थिकमभेदं जीवपरमात्मनोराविद्यको भेदो नापलपितुं प्रभुर्यथा सूर्यबिम्बं तरङ्गो न द्विधा विधातुं क्षमस्तद्वदिति भावः। तथोक्तमपि-'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इति॥२५॥

अवच्छिन्नस्येति॰ इयं देवी उपनिषत् अवच्छिन्नस्य देहादिपरिच्छिन्नपरिमाणस्य जरामरणधर्मिणः जन्मिनः वार्धक्ययुतस्य मरणशीलस्य च मम सत्यानन्दचिदात्मताम् सत्यस्वरूपत्वम्, आनन्दमयत्वम्, ज्ञानस्वरूपताम् च ब्रवीति, इदमसंभावितमिव

उपनिषत्—हाँ, बात ऐसी ही है। क्योंकि—

वह सनातन पुरुष तुमसे भिन्न नहीं हैं, तुम भी पुरुषोत्तमसे भिन्न नहीं हो। वह तुम्हारी अनादि मायासे भिन्न प्रतीत होता है जैसे एक ही सूर्यबिम्ब जलमें तरङ्गभेदसे भिन्न प्रतीत होता है॥ २५॥

पुरुष—(विवेकके प्रति) भगवन्, भगवतीने जो बातें कहीं उन्हें मैं ठीकसे समझ नहीं पा रहा हूँ।

यह देवी अवच्छिन्न, भिन्नधर्मा, जरामरणधर्मी मुझे जीवका-सत्य-आनन्दे चित्स्वरूपता बता रही है॥ २६॥

विवेकः—पदार्थानवज्ञानाद्वाक्यार्थो नावगम्यते । आर्येणोक्तं तत्सत्यमेव ।

पुरुष.—तदवबोधाय भगवानुपायमाज्ञापयतु ।

विवेकः—अयमुच्यते—

एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चित्तेन सार्धं कृते
तत्त्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः ।
श्रुत्वा तत्त्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्द्योतते ॥ २७ ॥

लक्षयत इति वितर्कः । योऽहं स्वं परिच्छिन्नपरिमाणं जन्ममृत्युवार्धकादिग्रस्तं च पश्यामि तमेवेयं देवी तद्विपरीतं सच्चिदानन्दरूपमभिधातीति मम मनः प्रत्ययं न बध्नातीति तात्पर्यम् ॥ २६ ॥

पदार्थानवज्ञानात्—तत्त्वं पदार्थयोः सम्यगनवबोधात् । वाक्यार्थो नावगम्यते—उपनिषत्प्रतिपादिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्यार्थो जीवपरमात्माभेदरूपो न प्रतीयत इत्यर्थः ।

तदवबोधाय—वाक्यार्थज्ञानाय । भगवान्—विवेकः । उपायम्—पन्थानम् । आज्ञापयतु—ब्रवीतु । अयमुच्यते—उपाय इति शेषः ।

एषोऽस्मीति० नेतिपदतः नेति नेतीति श्रुत्या चित्तेन सार्धं विविच्य एषोऽन्तःकरणांशः एष चात्मांश इति विभागं कृत्वा एषोऽस्मीति तत्त्वानां भूतानामुपसंहारेण स्वात्मना विलये कृते पुनः त्वमर्थे निष्कृष्टजीवभावे चिदात्मनि तत्पदार्थे निष्कृष्टेश्वरचैतन्ये ज्ञाते तत्त्वं पदार्थयोर्भागत्यागेन लक्षणया शोधने कृते तत्त्वमसीति श्रुत्वाऽन्तरुदितानन्दः अन्तःकरणसाक्षात्कारवृत्तौ प्रतिफलितस्वरूपः एष जीवः बाधितभवध्वान्तं निरस्तसंसारमूलाविद्यं शान्तम् निष्क्रियम् अनन्तम् देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नाम् आत्मप्रभम् स्वस्वरूपप्रकाशम् ज्योतिः तेजोरूपम् समुद्योतते प्रकटीभवति । पूर्वं नेतीति श्रुत्या चित्तपर्यन्तं स्वात्मना विवेकस्ततो जीवगतपरिच्छिन्न-

---

विवेक—पदार्थ नहीं जाननेसे वाक्यार्थ नहीं जाना जाता है, आपने ठीक ही कहा है।

पुरुष—तो उसके ज्ञानका उपाय आप बतावें ।

विवेक—यही कह रहा हूँ—'एषोऽस्मि' 'नेति' इत्यादि पदोंसे चित्तापेक्षया विवेक करके तत्त्वविलयद्वारा त्वमर्थ चिदात्माके जान लेने पर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे संसारतमोनिवर्त्तक स्वयंप्रकाश अनन्त-शान्त-ज्योति प्रकट हो आता है ॥ २७ ॥

पुरुषः—(सानन्दम्) श्रुतमर्थं परिभावयति ।

(ततः प्रविशति निदिध्यासनम्)

निदिध्यासनम्—आदिष्टोऽस्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या । यथा निगूढमस्मदभिप्रायमुपनिषद्विवेकेन सह बोधयितव्या । त्वया च पुरुषे वस्तव्यमिति । (विलोक्य) एषा देवी विवेकपुरुषाभ्यां नातिदूरे वर्तते । यावदुपसर्पामि (उपसृत्य उपनिषदं प्रति जनान्तिकम्) देव्या विष्णुभक्त्या समादिष्टं यथा संकल्पयोनयो देवता भवन्ति । मया च समाधानेन विदितं तथा आपन्नसत्त्वा भवतीति । तत्र च क्रूरसत्त्वा विद्या नाम कन्या त्वदुदरे वर्तते प्रबोधोदयश्च । तत्र विद्यां सङ्कर्षविद्यया मनसि संक्रामयिष्यसि । प्रबोधचन्द्रं पुरुषे समर्प्य वत्सविवेकेन सह मत्समीपमागमिष्यसीति ।

त्वाद्यपगमस्ततोऽसंभावनानिवृत्तौ तत्त्वंपदयोरर्थस्यैक्यावधारणं ततः समूलाज्ञाननिवृत्तिरिति क्रमो बोध्यः । अधिकमन्यत्र ॥ २७ ॥

परभावयति–विचारयति, विचारणञ्चात्र मननरूपम्, तच्च प्रागुक्तश्रुत्वेति श्रवणोत्तरं बोध्यम् ।

निगूढम्–अतिगुह्यम् । उपनिषद् विवेकेन सह–विवेकोपनिषदौ बोधनीयावित्यत्र तात्पर्यम् । त्वया–निदिध्यासनेन । देवी–उपनिषत् । नातिदूरे–सन्निकृष्टे । सङ्कल्पयोनयः–सङ्कल्पो मानसो व्यापारस्तद्योनयस्तत्प्रभवाः, द्वन्द्वसंसर्गानपेक्षा इत्यर्थः । समाधनेन–योगजशक्त्या । आपन्नसत्त्वा–धृतगर्भा । विवेकसङ्कल्पादेव तव गर्भाधानमिति त्वया न ज्ञायते, मया तु समाधानेन ज्ञातमिति मा विस्मयं कृथा इति भावः । क्रूरसत्त्वा–महामोहकुलस्य विवेककुलस्य च विनाशकत्वाद्विद्यायाः क्रूरता-

---

पुरुष—(सानन्द) श्रुत अर्थका विचार करता है ।

(निदिध्यासनका प्रवेश)

निदिध्यासन—भगवती विष्णुभक्तिकी आज्ञा है कि चुपचाप हमारे अभिप्रायसे विवेक और उपनिषद्को अवगत कराओ और स्वयं तुम पुरुषके पास रहो । (देखकर) यह देवी विवेक और पुरुषके साथ समीपमें ही तो हैं । समीप जाता हूँ । (समीप जाकर छिपाकर उपनिषद्से) देवी विष्णुभक्तिने कहा है कि देवता सङ्कल्पयोनि हुआ करते हैं, मैंने प्रणिधान द्वारा जाना है कि तुमको गर्भ है । तुम्हारे उदरमें प्रबोधोदय तथा विद्या नामकी क्रूरस्वभावा कन्या हैं । उनमें संकर्षविद्या द्वारा विद्याको मनके पास कर दो । प्रबोधचन्द्रोदयको पुरुषके हाथ सौंपकर वत्स विवेकके साथ मेरे पास चली आना ।

उपनिषत्—यदादिशति देवी। (इति विवेकमादाय निष्क्रान्ता)

(निदिध्यासनं पुरुषो विशति)

पुरुषः—(ध्यानं नाटयति)

(नेपथ्ये आश्चर्यमाश्चर्यम्)

उद्दामद्युतिदामभिस्तडिदिव प्रद्योतयन्ती दिशः
प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि मनसो निर्भिद्य वक्षस्थलम्।
कन्येयं सहसा समं परिकरैर्मोहं ग्रसन्ती व्रज-
त्यन्तर्धानमुपैति चैकपुरुषं श्रीमान्प्रबोधोदयः॥ २८॥

(ततः प्रविशति प्रबोधोदयः)

प्रोक्ता। सङ्कर्षविद्यया—योगजनिताकर्षणरूपया। मनसि सङ्क्रामयिष्यसि—मनसः पार्श्वं प्रेषयिष्यसि। श्रूयते हि भागवते—सङ्कर्षणो देवकीजठराद्रोहिणीजठरं प्रापितो योगबलेन। अत एवेमां विद्यां सङ्कर्षणविद्येत्याह। विद्याया अन्तःकरणधर्मतया मनसि सङ्क्रमणमुक्तम्।

निदिध्यासनम्—विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहः।

उद्दामद्युतिदामभिरिति० उद्दामद्युतिदामभिः उद्दामाः अप्रतिहताः द्युतय एव दामानि मालाः ताभिः प्रवाहभावमापन्नाभिर्द्युतिभिः तडित् विद्युदिव दिशः आशावकाशान् प्रद्योतयन्ती प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि अभिनवदलत्कीकससन्धि मनसः अन्तःकरणस्य वक्षःस्थलम् हृदयपुण्डरीकं निर्भिद्य विदार्य इयं कन्या विद्यापरिकरैः कामादिभिरनुचरैः सहितम् मोहम् ग्रसन्ती समापयन्ती अन्तर्धानं व्रजति श्रीमान् प्रबोधोदयश्च पुरुषमेति सन्निधत्ते। हृत्पुण्डरीकभेदनेन विद्यावृत्तौ जातायां सा वृत्तिः कतकरजोन्यायेनाविद्यां नाशयित्वा स्वयमपि विनश्यति तदभिप्रायेणैव 'मोहं ग्रसन्ती अन्तर्धत्ते' इत्युक्तम्। इयं जीवन्मुक्ततास्थितिः॥ २८॥

उपनिषत्—देवीकी जो आज्ञा। (विवेकके साथ जाती है)

(निदिध्यासन पुरुषमें समाविष्ट होता है)

पुरुष—(ध्यान करता है)

(नेपथ्यमें आश्चर्य, आश्चर्य यह शब्द होता है)

बिजलीकी तरह तेजोधारासे दिशाओंको आलोकित करती हुई मनके वक्षःस्थलको तड़ तड़ करके भिन्नकर यह विद्या कन्या सपरिकर मोहको ग्रस्त करती हुई अन्तर्हित हो रही है और प्रबोधोदय पुरुषको प्राप्त होता है॥ २८॥

(प्रबोधोदयका प्रवेश)

प्रबोधोदयः—
किं वाप्तं किमपोहितं किमुदितं किं वा समुत्सारितं
स्यूतं किं नु विलायितं नु किमिदं किञ्चिन्न वा किञ्चन ।
यस्मिन्नभ्युदिते वितर्कपदवीं नैवं समारोहति
त्रैलोक्यं सहजप्रकाशदलितं सोऽहं प्रबोधोदयः ॥ २९ ॥

(परिक्रम्य) एष पुरुषः । यावदुपसर्पामि । (उपसृत्य) भगवन्, प्रबोधचन्द्रोदयोऽहमभिवादये ।

पुरुषः—(साह्लादम्) एहि पुत्र, परिष्वजस्व माम् ।

(प्रबोधोदयस्तथा करोति)

पुरुषः—(सानन्दम्) अहो, विघटिततिमिरपटलं प्रभातं संजातम् ।

किं वाप्तमिति० यस्मिन् प्रबोधोदये ज्ञाने अभ्युदिते जाते सहेजप्रकाशदलितं नैसर्गिकप्रभाध्वस्तं त्रैलोक्यम् इयं जगत्त्रयी किं वा आप्तम् प्राप्तम्? अपोहितम् नाशितम् किम्? उदितम् उत्पन्नम् किम्? किं वा समुत्सारितम् दूरे क्षिप्तम्? स्यूतम् वस्त्रादिवद्ग्रथितम् किम्? किन्तु विलायितम् आकाशादिक्रमेण कारणे लीनम्? किमिदं किञ्चित् सद्रूपम्? वा न किञ्चन असद्रूपम्? एवं वितर्कपदवीम् सम्भावनाविषयताम् न समारोहति, (ईदृक्तया इदन्तया च परिच्छेत्तुमशक्यं नित्यानित्यभिन्नं विगलितसकलभावं चात एव चानिर्वचनीयं जगज्जायते यत्र जाते) सोऽहं प्रबोधोदयः अस्मीति शेषः ॥ २९ ॥

परिष्वजस्व—आश्लिष्य । तथाकरोति—पुरुषमालिङ्गति ।

विघटिततिमिरपटलम्—अपगताज्ञानावरणम् । प्रभातम्—बोधोदयः, 'संसार-

---

क्या पाया, क्या खोया, क्या गया, यह स्यूत-सा है या ढाला हुआ-सा है, यह कुछ है या कुछ नहीं है, जिसके उदित होने पर इस तरहके वितर्क मार्गमें त्रैलोक्य नहीं ठहर सकता, क्योंकि स्वाभाविक प्रकाशसे त्रैलोक्यमूल तम दलित हो जाता है, ऐसा मैं प्रबोधोदय हूँ ॥ २९ ॥

(चलकर) यह पुरुष है । इनके समीप जाऊँ । (समीप जाकर) भगवन्, मैं प्रबोधचन्द्रोदय प्रणाम करता हूँ ।

पुरुष—(आह्लादके साथ) आओ पुत्र, गलेसे लगो ।

(प्रबोधोदय गलेसे लगता है)

पुरुष—(सानन्द) अहो, अन्धकारराशिको विघटितकर प्रभात हो गया है । क्योंकि—

तथाहि—

मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा-
मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मिः ।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः ॥ ३० ॥

सर्वथा कृतकृत्योऽस्मि भगवत्या विष्णुभक्तेः प्रसादात् । सोऽहमिदानीम्—

सङ्गं न केनचिदुपेत्य किमप्यपृच्छन्
गच्छन्नतर्कितफलं विदिशं दिशं वा ।
शान्तो व्यपेतभयशोककषायमोहः
स्वायंभुवो मुनिरहं भवितास्मि सद्यः ॥ ३१ ॥

राज्यपगमाद्बोधः प्रातः क्षणो मतः' इत्युक्त्या प्रभातपदं बोधपरम् ।

मोहान्धकारमिति॰ मोहोऽज्ञानमेवान्धकारस्तमिस्रं तमवधूय समाप्य विकल्पनिद्राम् भ्रमकालरात्रिम् उन्मथ्य सर्वात्मना विनाश्य–श्रद्धा गुरुवेदवाक्ययोर्विश्वासः, विवेकमतिर्नित्यानित्यवस्तुविवेचना, शान्तिरौदासीन्यम् , यमश्चित्तवृत्तिनिरोधस्तदादिकेन तत्प्रभृतिपरिवारेण (सह) कोऽपि विलक्षणः बोधतुषाररश्मिः ज्ञानचन्द्रः अजनि जातः, (सम्प्रति) यः विश्वात्मकः सर्वात्मकः विष्णुः व्यापकः परः स्फुरति सः अहम् । ज्ञाने जाते पराभिन्नोऽस्मि संवृत्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

सङ्गं न केनचिदिति॰ न केनचित्सङ्गमुपेत्य असङ्गसन् किमपि अपृच्छन् अजिज्ञासमानः अतर्कितफलम् निरुद्देश्यभावेन दिशं प्राच्यादिम् विदिशम् आग्नेय्यादिं वा गच्छन् उपसर्पन् शान्त उदासीनः व्यपेताः गलिताः—भयं भीतिः, शोको दुःखम् , कषायः रागद्वेषादिकालुष्यम् , मोहः अज्ञानम् यस्य तादृशः सद्यः स्वायम्भुवः नित्यमुक्तः मुनिः निदिध्यासनवान् , अहं भवितास्मि भवामीत्यर्थः ॥ २१ ॥

मोहरूप अन्धकारको दूर कर और विकल्पनिद्राको मथित कर बोधरूप चन्द्रका उदय हो रहा है । श्रद्धा, विवेक, मति, शान्ति और यम आदिके साथ जो विश्वात्मक विष्णु प्रकट होता है वह यही है ॥ ३० ॥

भगवती विष्णुभक्तिके प्रसादसे मैं सर्वथा कृतार्थ हो गया । मैं अब—

असङ्ग होकर कुछ भी बिना पूछे निरुद्देश्य भावसे दिशा-विदिशाओंमें गमन करता हुआ शान्त तथा विगत शोक-मोह होकर मैं अब स्वायम्भुव मुनि होने जारहा हूँ ॥ २१ ॥

(ततः प्रविशति विष्णुभक्तिः)

विष्णुभक्तिः—(सहर्षमुपसृत्य) चिरेण खल्वस्माकं संपन्नाः सर्वे मनोरथाः। येन प्रशान्तारातिं भवन्तमवलोकयामि।

पुरुषः—देव्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्किं नाम दुष्करम्। (इति पादयोः पतति)

विष्णुभक्तिः—(पुरुषमुत्थापयति) उत्तिष्ठ वत्स किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

पुरुषः—अतः परमपि किं प्रियमस्ति। यतः—

प्रशान्तारातिरगमद्विवेकः कृतकृत्यताम्।
नीरजस्के सदानन्दे पदे चाहं निवेशितः॥ ३२॥

तथाप्येतदस्तु—(भरतवाक्यम्)

सम्पन्नाः-पूर्णाः। मनोरथाः-अभिलाषाः। प्रशान्तारातिम्-विनष्टशत्रुम्, शत्रुश्चात्र मोह एव बोध्यः।

प्रशान्तारातिरिति० प्रशान्तो विगलितः मोहरूपोऽरातिः शत्रुर्यस्य तादृशः विवेकः मम सुहृत् कृतकृत्यताम् कृतार्थताम् अगमत् प्राप्तः, अहं पुरुषश्च नीरजस्के विगतमले नित्यशुद्धे सदानन्दे नित्ये आनन्दरूपे च पदे ब्रह्मात्मतारूपे निवेशितः प्रतिष्ठापितः। भगवत्या विष्णुभक्त्या मन्मित्रे विवेके कृतकृत्यतां नीते मयि च सदानन्दरूपेणावस्थापिते भगवत्याः कर्त्तव्यमात्मनः प्रियान्तरं नावगच्छामीति प्रसङ्गार्थः॥३२॥

(विष्णुभक्तिका प्रवेश)

विष्णुभक्ति—(सहर्ष समीप आकर) चिरकाल पर हमारे सभी मनोरथ पूरे हुए हैं जो प्रशान्तरिपुरूपमें आपको देखती हूँ।

पुरुष—देवी विष्णुभक्तिकी कृपासे दुष्कर क्या है? (चरणों पर गिरता है)

विष्णुभक्ति—(पुरुषको उठाती है) उठो वत्स, और तुम्हारा क्या प्रिय करूं।

पुरुष—इससेंप्रिय क्या हो सकता है। क्योंकि—

विवेकके शत्रु मारे गये, वह कृतकृत्य हो गया और मैं निर्मल सदानन्द पदपर प्रतिष्ठित हुआ॥ ३२॥

तथापि यह हो,

(भरतवाक्य)

पर्जन्योऽस्मिन् जगति महतीं वृष्टिमिष्टां विधत्तां
राजानः क्ष्मां गलितविविधोपप्लवाः पालयन्तु ।
हत्वोन्मेषोपहततमसस्त्वत्प्रसादान्महान्तः
संसाराब्धिं विषयममतातङ्कपङ्कं तरन्तु ॥ ३३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके
जीवन्मुक्तिर्नाम षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

समाप्तमिदं नाटकम् ।

फलप्राप्तिरूपं निर्वहणसन्धेरङ्गमत्रोपन्यस्तं वेदितव्यम् ।

पर्जन्य इति० अस्मिन् जगति संसारे पर्जन्यः मेघः महतीम् यावदपेक्षिताम् इष्टां यथाकालोपनताम् वृष्टिम् जलवर्षं विधत्ताम् करोतु, गलितविविधोपप्लवाः शान्तोपद्रवा ईत्याद्युपद्रवरहिता राजानः भूपालाः क्ष्माम् पृथिवीं पालयन्तु रक्षन्तु । महान्तः महाजनाः उन्मेषोपहततमसः स्वोदयविनष्टाज्ञानान्धकारात् त्वत्प्रसादात् तव विष्णुभक्तेरनुग्रहात् विषयममतातङ्कपङ्कम् सांसारिकविषयरूपस्त्रीपुत्रादिममत्वकृतनानाविधशङ्काकर्दमम् हत्वा निरस्य संसाराब्धिं भवसागरं तरन्तु पारं गच्छन्तु । संसारस्य सागरत्वेन रूपणे क्रियमाणे स्त्रीपुत्रादिविषयकनानाविधाशङ्कायाः पङ्कत्वं रूप्यते । स्पष्टमन्यत् ॥ ३३ ॥

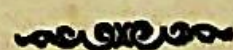
अत्राशीर्नाम नाट्याङ्गम् ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ।
मिश्राख्या'न्मधुसूदना'-'ज्जयमणौ'सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्या प्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥

मेघ इस धराधाम पर यथेच्छ वृष्टि किया करे, नाना प्रकारके उपद्रवोंसे रहित होकर राजागण पृथ्वीका पालन करें, तुम्हारे प्रसादसे महान् जन तत्क्षण अज्ञानको दूरकर विषयरूप ममतापङ्कपूर्ण संसारसागरका पार जायें ॥ २२ ॥

(सबका प्रस्थान)

षष्ठ अङ्क समाप्त



क्षीणीचन्द्रखबाहुसम्मितशरद्याशातिथौ फाल्गुने
चन्द्रे पुष्यति देवपूज्यदिवसे श्रीशारदानुग्रहात् ।
रांचीस्थायिनि राज्यसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता-
मानीतेयममुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंय्यमा'-
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि न मनागालोचनावर्त्मनः ।
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
प्रक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान्बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ॥
निर्दोषेण पथा प्रशस्तरचनां निर्माय काञ्चित्कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान्यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निशां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ॥
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृतिः कार्याऽन्यथा ह्यपदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति-'पकड़ी'ग्रामवासिना-रांचीस्थराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्या-चार्याद्युपाधिप्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां 'प्रबोधचन्द्रोदय'नाटकस्य टीकायां प्रकाशाभिधायां षष्ठाङ्क'प्रकाशः' ।

शुभमस्तु ।

नोट्स

(विशेष विवरण)

१ शान्तरसप्रयोगाभिनयेन

इसका अर्थ यह हुआ कि शान्तरसप्रधान नाटकके अभिनयसे। यहाँ विचार करना है कि शान्तरसवाला नाटक या रूपकसामान्य तो रीतिशास्त्रविरुद्ध है फिर नाटकको यहाँ शान्तरस यह विशेषण क्यों दिया ? 'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा' इस वचनके अनुसार नाटकादिमें तदितररसप्राधान्य अयुक्त है, अत एव काव्यप्रकाशकारने—'शृङ्गार-हास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' यह लिख दिया है। शान्तिका अभिनय उपहासास्पदसा प्रतीत होता है इसीलिये सर्ववादियोंने शान्तरसको अभिनयानुपयुक्त मान लिया है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्यों शान्त रस नाटकानुपयुक्त है, केवल उपहास सा लगता है यह बात तो वीर रसके सम्बन्धमें भी कही जासकती है।

मेरा अनुमान है कि रीति ग्रन्थ बनानेवालोंने देखाकि प्राचीन प्रसिद्ध कृतियोंमें शान्तरस प्रधाननाटकका अभावसा है अतः उन्होंनें नाटकमें शान्तरस प्रयोग को अयुक्त करार दिया, वस्तुतः यह तर्कहीन नियम है। अत एव परवर्त्ती कवियोंने नाटकोंमें भी शान्तरस का प्रयोग किया और वह सफल हुए। 'जीवानन्दम्' 'विद्यापरिणयनम्' 'अमृतो-दयम्' 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' इत्यादिमें सर्वत्र शान्तरसका अच्छा निर्वाह हुआ है और इन ग्रन्थोंके किसी भागमें सहृदय हृदयोद्वेजक कोई स्थल नहीं है फिर लकीर पीटते चलनेकी बात क्यों कर मानी जाय। अतएव इस ग्रन्थमें भी शान्तरस प्रधान रखा गया।

२ अहल्यायै जारः सुरपतिरभूत्

गौतम की स्त्रीका नाम अहल्या था, इन्द्रने उसका सतीत्व भङ्ग किया, यह पौराणिक कथा है। कुछ लोग यहां अहल्या शब्दको रात्रिपरक माना है और अपने पक्षकी पुष्टिके लिये अहनि लीयते या साऽहल्या यह व्युत्पत्ति की है, तदनुसार ही इन्द्र शब्दका भी सूर्य अर्थ किया है और इस पौराणिक आख्यानको दुनियासे उठाकर आकाशमें फेंक दिया है। स्वारसिक अर्थ तो गौतम की स्त्री पक्षमें ही है, यहां भी उसी अर्थसे वक्तव्यकी पुष्टि सम्भव है।

३ आत्मतनयां प्रजानाथोऽयासीत्

ब्रह्माने अपनी कन्या शतरूपा के साथ मैथुन का प्रयास किया। ब्रह्मवैवर्त्त में यह कथा आई हैं, दण्डी कविने भी दशकुमारमें इस कथाका उल्लेख किया है, पुष्पदल-कृत महिम्नः स्तोत्रमें भी इसकी चर्चा है—'प्रजानाथं नाथ, प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा'

४ अधीराक्ष्याः

यहां पर यद्यपि अधीराक्षी पद विशेषणमात्र वाचक सा प्रतीत होता है तथापि प्राचीनाचार्य कृत व्यवहारोंके आधार पर उसे विशेष्यपरक मानकर स्त्रियाः यह अर्थ किया जाता है। अत एव वामनने भी लिखा है—'विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ'॥ इसी नियमके आधारपर कवियोंने विशेष्यप्रत्यायनेच्छया विशेषणमात्रप्रयोग किये हैं—देखिये, रघुवंशमें कालिदासने लिखा है—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' एवं सूर्यशतकमें मयूरभट्टने लिखा है—'जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणुम्' इत्यादि।

५ 'गौडं राष्ट्रमनुत्तमं निरुपमा तत्रापि राढापुरी'

यहाँ गौडपदसे वङ्गदेशका ग्रहण होगा, क्योंकि वहाँके लिये गौडशब्दका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। गौडीय माध्वमठ इत्यादिमें भी गौडशब्द वङ्गका ही वाचक है, राढा भी वहीं प्रसिद्ध है। आज भी राढी कायस्थ और राढी ब्राह्मण अपनेको समाजमें श्रेष्ठ गिनते हैं।

६ 'कथयति भगवानिहान्तकाले तारकम्'

यहाँ वाराणसीमें भगवान् संसारसे भीतजनको तारकमन्त्रका उपदेश देते हैं। भगवान् शब्दकी व्युत्पत्ति जो भी हो किन्तु यहाँ उसका साभिप्राय प्रयोग किया गया है, उस अभिप्रायका द्योतक वचन अथर्वशिर नामक उपनिषद्में आया है—'अथ कस्मादुच्यते भगवानीति, यस्मादुच्चार्यमाण एको रुद्रो भवं निहत्य योगं ददाति तस्मादुच्यते भगवानीति'। इस मन्त्रकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—भशब्देन भवः, गशब्देन योगः, एवञ्च सति भगौ हेयत्वेन देयत्वेन यस्य स्तः स भगवान्' भवं निहत्य योगं ददाति स भगवानित्युच्यते। तारकं तरणहेतुम्, यह अन्वर्थ संज्ञा है। अथर्व श्रुतिमें लिखा है:—

'मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्।
उपदेक्ष्यति तं मन्त्रं स मुक्तो भविता शिवः॥

७ विभ्रमावती

इस शब्दमें दीर्घ कैसे हुआ यह एक प्रश्न है सामान्यतः धनवती पुत्रवतीकी तरह विभ्रमवती यही प्रयोग होना चाहिये। यदि विभ्रमावतीको शुद्ध ही बनाना हो तो 'मतौ

वह्वचोऽनजिरादीनाम्' से दीर्घ करके शुद्ध बनाले सकते हैं। रह गया गणपाठकी बात, उसकी व्यवस्था लक्ष्यानुसार होगी।

८ 'नवद्वारपुरीमध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति

दिगम्बरजैनके सिद्धान्तानुसार अङ्गुष्ठपरिमाण आत्मा हृत्पुण्डरीककोशमें दीपकी तरह जला करती है, गृहाभ्यन्तर दीपप्रभा जैसे सम्पूर्ण गृहको उद्भासित करती है, उसी तरह आत्मचैतन्य सम्पूर्ण शरीरमें ज्ञानप्रवृत्त्यादि किया करता है। नवद्वार कहनेसे इन्द्रियोंको द्वार कहा है, इन्हींमेंसे किसीके द्वारा प्राणनिर्गमके कारण इन्हें द्वार माना गया है—उनके यहाँ मोक्ष इस तरह वर्णित है—

'पञ्जरस्थः शुको यद्वद् विमुक्तो बन्धनाद् व्रजेत्।
त्वरितं तद्वदेवात्मा विमुक्तश्चोर्ध्वगो भवेत ॥'

९ 'सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च'

बौद्धोंके अनुसार सभी पदार्थ क्षणस्थायी तथा ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे उन्हें निरात्मक स्वरूपेणासत् कहा है, धर्मकीर्त्तिने कहा है—'स्वाभाविकमेव संविदः स्वप्रकाशत्वं विषयास्तत्र विष्वक्प्रकाशन्ते' इति। किसी और आचार्यने भी कहा है—'यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी' इति। विवेक विलासमें भी इसपर कहा है—'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा' इति।

१० 'लोकद्वयविरुद्धादार्हतमतात्'

आर्हतमतलोकद्वय विरुद्ध है, इहलोकविरुद्ध इस लिये कहा कि वह साक्षात् पिशाच हो जाता है, केशोलुञ्चन, शरीरासंस्कार, आदि पिशाच कार्य ही तो हैं। परलोक भी इनका ठीक नहीं है क्योंकि सततोर्ध्वगमनलक्षण परलोक क्लेशावह ही है। इनके मतका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—जीवोऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ, जीवश्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः, अत्र जीवः षड्विधः—अब्भूभूधरादिरेकः, आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्याः पञ्च।

१ 'आस्रवत्यनेन जीवो विषयेष्विति आस्रवः इन्द्रियसङ्घातः'। २. 'संवृणोति विवेकमित्यविवेकादिः संवरः'। ३. निःशेषेण जीर्यत्यनेन कामक्रोधादिः स निर्जरः, केशोल्लुञ्चनतप्तशिलाधिरोहणादिः। ४. कर्माष्टकेन जन्मपरम्परा बन्धः। ५. कर्माष्टकं तु—चत्वारि घातिकर्माणि, चत्वारि शुभानि, तेभ्यो विनिर्गतस्य जीवस्य सततोर्ध्वगमनं मोक्षः'

११ सोमसिद्धान्तः

उमया सहितः सोमः, सोमो यथा पार्वत्या सह कैलासे मोदते तद्वत् भक्तः पार्वतीतुल्यया कान्तया सहितः ईश्वरवेषधारी मोदत इति चन्द्रिका टीका।

१२ मैत्रीकरुणा मुदिता उपेक्षा

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामकी चार वृत्तियाँ मानी जाती हैं। पुण्यकृत्सु मैत्री, दुःखिषु करुणा, सुखिषु मुदिता, पापिषु उपेक्षा। इनके द्वारा चित्तकी शुद्धि मलनिवृत्ति होती है।

१३ मधुमती

मधुमती नाम—अभ्यासवैराग्यादिवशादपास्तरजस्तमोलेशसुखप्रकाशमयभावनयाऽनवद्य वैशारद्यविद्योतनरूपऋतंभरप्रज्ञाख्या समाधिसिद्धिः।

१४ 'तीर्णाः क्लेशमहोर्मयः'

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः, तत्रानित्येषु नित्यत्वाभिमानः, अनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरविद्या। अस्मिता अहङ्कारः। रागोऽभिमतविषयाभिलाषः। द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः। अनभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः। ते हि पुरुषं क्लिश्यन्तीति क्लेशा इत्युच्यन्ते।

१५ 'क्रिया भवच्छेदकरी न वस्तुधीः'

'भवस्य संसारस्य उच्छेदकरी क्रिया एव न वस्तु स्वरूपज्ञानम्' यही इसका अर्थ है। धूर्तस्वामीका एक सूत्र है—'पञ्चहोतारं चाग्नीध्रे जुहुयात्स्वर्गकामः' इस सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—'यः स्वर्गकामः स्यात् स पञ्चहोतारं पुरा प्रातरनुवाकादाग्नीध्रं जुहुयादिति, स्वर्गशब्दस्यापरिमितनिःश्रेयसवाचकत्वान्मोक्षार्थता' इति। किञ्च—'स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासाभ्याम्' इत्यादि स्थलमें भी स्वर्गशब्द अपरिमित निःश्रेयसरूप मोक्षवाचक माना जाता है। किञ्च जीवन्मुक्तिः कैवल्यमुक्तिरपि कर्मसाध्यैव। तथा च श्रूयते—'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'।



सुभाषितानि

'प्रभवति मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसंभवस्तावत् ।
निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम्' ॥

'एकाभिप्रसवमेव सहोदराणामुज्जृम्भते जगति वैरमिति प्रसिद्धम् ।'

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' ॥

'सेर्ष्यं प्रायेण योषितां भवति हृदयम्' ।

'मूर्खबहुलं जगत्' ।

'व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् । को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी' ॥

'लघीयस्यपि रिपौ नानवहितेन जिगीषुणा भवितव्यम्' ।

'अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय ।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः' ॥

'प्रायः सुकृतिनामर्थं देवा यान्ति सहायताम् । अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' ॥

'निर्दहति कुलमशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः' ।

'यद्यप्यभ्युदयः प्रायः प्रमाणादवधार्यते । कामं तथाऽपि सुहृदामनिष्टाशङ्किमानसम्' ॥

'समानान्वयजातानां परस्परविरोधिनाम् । परैः प्रत्यभिभूतानां प्रसूते सङ्गतिः श्रियम्' ॥

प्रबोधचन्द्रोदयगतानि छन्दांसि

१. अनुष्टुप्—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम् । द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥

२. आर्या—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या' ॥

३. इन्द्रवज्रा । ४. उपेन्द्रवज्रा । ५. उपजाति ।

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'

'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'

'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः'

६. पृथ्वी—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।

७. मन्दाक्रान्ता—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'

८. शालिनी—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ।

९. वंशस्थम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ'

१०. वसन्ततिलका—'उक्तावसन्ततिलका तभजा जगौ गः'

११. शार्दूलविक्रीडितम्—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥

१२. शिखरिणी—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥

नाटकीया विषया

स्वगतम् (आत्मगतम्)

'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' ।

प्रकाशम्—'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्'

अपवार्य—"··'तद् भवेदपवारितम्' ।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते । त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्' ॥

जनान्तिकम्—'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' ॥

नेपथ्यम्—'नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'

नाटकम्—'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसुसंयुतम् ।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा'

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्ये निर्वहणेऽद्भुतः'

[लक्षणमिदमत्रग्रन्थे न समन्वेति, तथापि नाटकशब्देन प्राचीनैर्व्यवहृतोऽयं ग्रन्थः]

अङ्कः—'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः । भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः'

नानेकदिननिर्वर्त्य कथया संप्रयोजितः ।

आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ।

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः । अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः' ॥

नान्दी—

आशीर्वचनसंयुक्तास्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीतिसंज्ञिता ।

मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी । पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत' ॥

सूत्रधारः—'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।

सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स कथ्यते' ॥

प्रस्तावना—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' ॥

विष्कम्भकः—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥

प्रवेशकः—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ॥

नायकः—'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता'॥
[इदमपि लक्षणमत्रत्ये नायके नान्वेति, तस्यालौकिकत्वादतो विलक्षणताऽस्य मन्तव्या]
बीजम्—'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते'॥
बिन्दुः—'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्'।
कार्यम्—'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यैतत्कार्यमिति सम्मतम्'॥
सन्धिः—'अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति'।
पञ्चसन्धयः—'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः। इति पञ्चास्य भेदाः स्युः०'
मुखम्—'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्'॥
प्रतिमुखम्—'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशितः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्'॥
गर्भः—'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः'॥
विमर्शः—'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः'॥
निर्वहणम्—'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणञ्च तत्'।
[एषां या न्यङ्गान्यत्र प्रकाशे समायातानि तानि तत्रैव सलक्षणं निर्दिष्टानीति तत एवावसेयानि]

नायकादिनिरूपणम्

नायकः—विवेकः (आध्यात्मिको भावविशेषः)
नायिका—उपनिषद्देवी (विद्याप्रभेदः)
स्थायिभावः—निर्वेदः।
उद्दीपनविभावाः—तपोवनरामकथादयः।
सात्त्विकः—हर्षपुलकादयः।
व्यभिचारिणः—मतिधृतिहर्षादयः।
रसः—शान्तः।
गुणः—प्रसादमाधुर्ये।

प्रकाशकर्तृवंशपरिचयः

माण्डरसंज्ञकमैथिलभूसुरवंशेऽजनिष्ट कृती ।
श्रीमान् 'कन्हाइ' मिश्रो हृतजनताऽज्ञानतामिस्रः ॥ १ ॥
उदितश्छीतनशर्मा ततः सुमेरोरिवादित्यः ।
योऽमानि मानिनिवहश्रेयान् सुकृतावदातात्मा ॥ २ ॥
मृतपितृकः स बाल्ये मातुलकुलमाश्रितः शरणम् ।
ग्रामे 'पकड़ी' नामनि गृहस्थतां प्रापितो न्यवसत् ॥ ३ ॥
तत्तनयेषु प्रथमो वयसा ज्ञानेन यशसा च ।
'मधुसूदन' मिश्राख्यो भक्तश्चतुराग्रणीरभवत् ॥ ४ ॥
तत एव श्री 'जयमणि' संज्ञायां मातरि प्रापम् ।
जनिमब्धिरामवसुभूमितशाके 'रामचन्द्रो'ऽहम् ॥ ५ ॥
प्रभवादष्टमशरदि स्नेहान्मामुपनिनीषन्तम् ।
तातं सदा स्वतन्त्रा नियतिरकार्षीत् कथाशेषम् ॥ ६ ॥
बाल्ये पण्डित 'झिङ्गुर' शर्मकृपाप्राप्तबोधस्य ।
मम चक्षुषी चमत्कृतसंस्कृतभाषा–प्रयोगेषु ॥ ७ ॥
उन्मीलिते अभूतां श्री 'श्रीनाथा'ख्यविबुधस्य ।
मम मातुलस्य चरणौ निषेवमाणस्य न चिरेण ॥ ८ ॥
गूढं शास्त्ररहस्यं ज्ञातुं निखिलं निबद्धकक्षस्य ।
उपदेशको ममाऽभू'दीश्वर' नाथो विद्वद्वन्द्यः ॥ ९ ॥
स्वाभाविक्या कृपया स्नेहेनान्तःप्ररूढेन ।
ममतादृशा च यो मामपुषत् सोदर्यभावेन ॥ १० ॥
तत्कृपयाऽधिगताखिलसंस्कृतसाहित्यमर्माणम् ।
बुधवर 'किशोरि' शर्मा मां व्यधिताचार्यपदभाजम् ॥ ११ ॥
श्रीयुत 'जटेश्वरा'भिधविद्वद्वरपादमुपजीव्य ।
दर्शनशास्त्ररहस्यं न चिरेणाशेषमाचकलम् ॥ १२ ॥
एतानन्यांश्च गुरून् मनसि ममावस्थितान् सततम् ।
ध्यायामि यत्कृपा मे मानुष्यकमञ्जसाऽस्ताचीत् ॥ १३ ॥
सोऽहं वाक्परिचरणव्यापृतचेताः प्रकाशममुम् ।
निरमामिह विद्वांसः कृपास्पृशः स्वादृशो दध्युः ॥ १४ ॥

श्लोकानुक्रमणिका

